भूमंडलीकरण और हिन्दी आदिवासी साहित्य

(BHUMANDLEEKARAN AUR HINDI ADIVASI SAHITYA)

(GLOBALIZATION AND HINDI ADIVASI LITERATURE)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

शोध निर्देशक

डॉ. राजेश कुमार पासवान

शोधार्थी

महेन्द्र सिंह मीणा

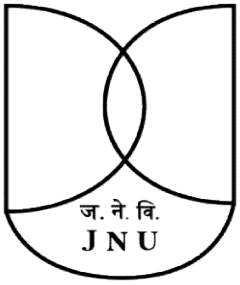

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं सांस्कृतिक अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली 110067

2022

Dated: ___ /06 /2022

Declaration

I hereby declare that the Ph.D. thesis entitled **'BHUMANDLEEKARAN AUR HINDI ADIVASI SAHITYA' (GLOBALIZATION AND HINDI ADIVASI LITERATURE)** submitted by me is the original research work. It has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution to the best of my knowledge.

I further declare that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarised in my Thesis, I will be solely responsible for the act.

23/06/2022

Mr. MAHENDRA SINGH MEENA
Name of Students

Scanned with OKEN Scanner

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 28 /06 /2022

Certificate

This is to certify that the **Mr. MAHENDRA SINGH MEENA**, a bona-fide Research Scholar of Centre of Indian Languages, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D. thesis entitled **'BHUMANDLEEKARAN AUR HINDI ADIVASI SAHITYA' (GLOBALIZATION AND HINDI ADIVASI LITERATURE)** This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

Dr. Rajesh Kumar Paswan
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Dr. Rajesh Kumar Paswan
Associate Professor
Centre of Indian Languages, SLL & CS
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

Prof. Omprakash Singh
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

अध्यक्ष / Chairperson
भारतीय भाषा केन्द्र / CIL
भा. भा. एवं सं. अ. सं. / SLL & CS
ज. ने. वि. / J.N.U
नई दिल्ली / New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217;
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

Scanned with CamScanner

- प्रस्तावना -

भूमंडलीकरण दुनिया में मानव सभ्यता के आर्थिक विकासक्रम का महत्त्वपूर्ण चरण है। यह एक आर्थिक संकल्पना है और ऐतिहासिक रूप से उत्पादक शक्तियों के विकास का परिणाम है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में शीतयुद्ध की कोख से पैदा होने वाला आधुनिक भूमंडलीकरण पश्चिमी पूँजीवाद की घुट्टी पीकर फलने-फूलने लगा। उदारीकरण, निजीकरण और बाज़ारवाद की नीतियों से सम्पृक्त होकर इसने अपनी उपस्थिति सारी दुनिया में दर्ज़ करवा दी। तकनीक और संचार क्रान्ति की इसमें अहम भूमिका रही। कुछ प्रतिशत लोगों के लिए इसने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्ति को चरितार्थ किया। ये लोग भूमंडलीकरण से जन्में ग्लोबल गाँव के वे देवता थे, जिनका उद्देश्य संपूर्ण विश्व मे पूँजी निर्माण के लिए स्वैच्छिक और अबाध्य विचरण करना था।

1990 ई. के अंत तक भारत के सामने गंभीर आर्थिक संकट खड़ा हो गया, खाड़ी युद्ध और सोवियत संघ के पतन ने इसे और अधिक बढ़ा दिया। भारत को विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सामने आर्थिक मदद की गुहार लगानी पड़ी। इन संस्थाओं ने आर्थिक उदारीकरण की नीतियों को स्वीकार करने की शर्त पर भारत को मदद प्रदान की। भारत सरकार ने इन नीतियों को लागू करते हुए विदेशी व्यापार पर लगे प्रतिबंधों व नियमों में ढ़ील दे दी। आयात नियमों को सरलीकृत करने के साथ निर्यात को बढ़ावा दिया गया। राज्य की लोक- कल्याणकारी भूमिका को कम करते हुए बाज़ार केन्द्रित नीतियाँ बनाई जाने लगी। सार्वजनिक उपक्रम कौड़ियों के मोल निजी क्षेत्र को हस्तांतरित किये गये। मंडल और कमंडल की राजनीति के बीच भारत में भूमंडलीकरण का पदार्पण हुआ ।

भूमंडलीय बाज़ार की जरूरत के अधिकांश प्राकृतिक खनिज और वन्य संसाधन भारत के आदिवासी बहुल क्षेत्रों में मिलते हैं। राष्ट्रीय विकास के नाम पर आदिवासी चिंताओं को दरकिनार करते हुए भारत की सरकारी और गैर सरकारी कंपनियों द्वारा इस संपदा का दोहन किया जा रहा था। भूमंडलीकरण के बाद इस खेल में दुनियाभर के पूँजीपति और उनकी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ शामिल हो गई। आदिवासियों पर बाज़ार के हमले और तीव्र होने लगे। उनके जल, जंगल और जमीन की लूट में तेजी आई। लगातार विस्थापन-बेदख़ली और पलायन को मजबूर आदिवासी अपनी भाषाई और सांस्कृतिक अस्मिता को खोकर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने लगे। सूचनातंत्र के विकास ने उनकी पीड़ा और विरोध को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचाया। आदिवासी मानवाधिकारों के हनन की चर्चा देश-दुनिया में होने लगी ।

अभी तक हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में आदिवासियों की उपस्थिति उनकी साँस्कृतिक विचित्रता और अनोखेपन के कारण थी, पर चूंकि अब भूमंडलीय पूँजीवाद ने आदिवासियों को अपना सबसे बड़ा शत्रु घोषित कर दिया था। भूमंडलीकरण के जनविरोधी स्वरूप के खिलाफ़ हिन्दी साहित्य ने प्रतिरोध की संस्कृति विकसित की। आदिवासियों से सहानुभूति रखने वाले साहित्यकारों के साथ आदिवासी समाज से आने वाले रचनाकारों ने आदिवासी समाज की चिंता और भूमंडलीकरण के खतरे से हिन्दी पाठक वर्ग को अवगत कराया। इस दौर में हिन्दी साहित्य में कई अस्मिता विमर्शों का उभार हुआ, जिनमें महिला, दलित और आदिवासी विमर्श प्रमुख है। इन विमर्शों ने साहित्य के नये सौन्दर्यशास्त्र की माँग कर एक हलचल मचा दी। भोगे हुए यथार्थ यानि अनुभूति की प्रमाणिकता को अभिव्यक्ति से ज्यादा महत्त्व दिया गया । जो भी हो, भूमंडलीकरण के हमलों ने आदिवासी समाज और साहित्य को अकादमिक दुनिया में बहस का बिन्दु बनाया।

वर्तमान भूमंडलीकरण के समय में आदिवासी समाज अपनी अस्मिता और अस्तित्व को बचाये रखने के लिए; भारतीय शासन व्यवस्था के साये में पल-बढ़ रहे वैश्विक पूँजीपतियों और उनकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खिलाफ़ संघर्षरत् है। इस संघर्ष में उनकी एकजुटता ही उन्हें इस खतरे से बचा सकती है, हिन्दी आदिवासी साहित्य विमर्श इसी की परिणति है। सभी अस्मिता विमर्शों की भांति आदिवासी विमर्श भी एक ओर व्यवस्था में हिस्सेदारी की माँग कर रहा है, दूसरी ओर अपने समुदाय की चिंताओं और सरोकारों से गैर-आदिवासियों को परिचित करवा रहा है। हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में आदिवासी विषयक लेखन का अधिकांश भाग भूमंडलीकरण के समय में ही लिखा गया है। आदिवासी जीवन दर्शन के साथ आदिवासी समाज के संघर्षों, उनके सांस्कृतिक मूल्य-मान्यताओं और परंपराओं को अभिव्यक्त करने वाले इस साहित्य पर भूमंडलीकरण की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है, इसलिए मैंने अपने पीएच.डी के शोध का विषय 'भूमंडलीकरण और हिन्दी आदिवासी साहित्य' रखा है ।

उक्त शोध प्रबंध पाँच अध्यायों में विभक्त है। जिसका प्रथम अध्याय 'भूमंडलीकरण: भारतीय और आदिवासी संदर्भ' है। इस अध्याय में भूमंडलीकरण की अवधारणा, भारत में भूमंडलीकरण का उदय और विकास को रेखांकित करने के साथ आदिवासियों पर पड़ने वाले प्रभावों को स्पष्ट किया गया है । भूमंडलीकरण की अवधारणा को समझने के लिए उसकी पूर्वपीठिका के रूप में शीतयुद्ध की राजनीति और उसमें तीसरी दुनिया की भूमिका, सोवियत संघ का पराभव और अमरीका के नेतृत्व में पूँजीवादी व्यवस्था के विश्वव्यापी फैलाव को उजागर करने के साथ भूमंडलीकरण के स्वरूप को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है।

'भूमंडलीकरण और भारत' इसका दूसरा उप अध्याय है, इसमें भारत में भूमंडलीकरण के उदय की पृष्ठभूमि के बतौर आर्थिक संकट और राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विस्तार से हवाला दिया गया है। भारत सरकार की 'नई आर्थिक नीति' पर विभिन्न वर्गों की राय के साथ भूमंडलीकरण के प्रभावों का अध्ययन स्त्री, दलित, आदिवासी और किसान संदर्भ में किया गया है। शिक्षा और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी इसके प्रभाव का आकलन किया है। हिन्दी भाषा और साहित्य संबंधी 'लेखकीय चिंताओं' पर चर्चा करते हुए संरचनात्मक (विषय और शिल्प) स्तर पर होने वाले बदलावों का अध्ययन भी इस उप अध्याय में शामिल है।

'भूमंडलीकरण और आदिवासी' तीसरा उप अध्याय है। इसमें औपनिवेशिक दासता के दौर से भूमंडलीकरण तक आदिवासी जीवन में बाहरी हस्तक्षेप की सरकारी नीति और उसके खिलाफ़ हुए आदिवासी प्रतिरोधों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है, इसका उद्देश्य तुलनात्मक रूप से यह दिखाना है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया भले ही 1990 के बाद शुरू हुई हो, पर इसने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व पर अब तक का सबसे बड़ा संकट खड़ा कर दिया है। इस उप अध्याय में आदिवासियों से संबंधित भूमंडलीकरण के दौर के प्रमुख कानूनों और न्यायिक फैंसलों, जैसे- पेसा एक्ट-1996, समता जजमेंट-1997, वन अधिकार कानून-2006 और प्रतिपूरक वन कानून-2016 का विस्तार से उल्लेख किया गया है, जो यह साबित करते हैं कि भारतीय संविधान भले ही आदिवासी हितों को संरक्षित करने की गारंटी देता हो, फिर भी सरकारों और पूँजीवादी व्यवस्था की कुटिल चालों से पार पाना बहुत कठिन है।

शोध प्रबंध का दूसरा अध्याय 'हिन्दी आदिवासी साहित्य और अस्मिता विमर्श' है। इस अध्याय में आदिवासी समाज में साहित्य की परंपरागत भूमिका और आदिवासी साहित्य की अवधारणा का परिचय देते हुए हिन्दी दलित और आदिवासी विमर्श की भिन्नता और भूमंडलीकरण के प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके प्रथम उप अध्याय 'आदिवासी समाज और साहित्य' में आदिवासी और गैर आदिवासियों के बीच साहित्य/शास्त्र की समझ को तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत किया है। द्वितीय उप अध्याय 'आदिवासी साहित्य की अवधारणा' पर केन्द्रित है। इसमें आदिवासी साहित्य को परिभाषित करते हुए हिन्दी आदिवासी साहित्य के प्रादुर्भाव में भूमंडलीकरण की भूमिका को चिन्हित करने का प्रयास किया है। आदिवासी साहित्य की परंपरा और प्रयोजन, आदिवासी जीवन दर्शन, आदिवासी और गैर आदिवासी हिन्दी लेखन के साथ आदिवासी साहित्य के रांची घोषणा पत्र और उस पर वीरभारत तलवार की विस्तृत आलोचना आदि पर विस्तृत चर्चा की है। अंतिम भाग दलित और आदिवासी अस्मिता विमर्श पर केन्द्रित है।

शोध प्रबंध के तृतीय अध्याय 'भूमंडलीकरण : हिन्दी उपन्यास और आदिवासी' है । इसका पहला उप अध्याय उपन्यासों में भूमंडलीकरण की विभिन्न प्रवृतियों और स्वरूप को उद्घाटित करता है । बाज़ार का आतंक, बाज़ारवाद और सांप्रदायिकता का गठजोड़, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आकर्षण और युवा सपनों का बिखराव, कृषि और देशी उद्योग धंधों का पतन, उपभोक्ता संस्कृति का प्रसार और औपन्यासिक संरचना में होने वाले परिवर्तन आदि को हिन्दी उपन्यासों के माध्यम से जानने-समझने का प्रयास किया है। भूमंडलीकरण का प्रभाव मूलधारा के हिन्दी समाज और आदिवासियों पर भिन्न रूप में पड़ा है, इसलिए हिन्दी उपन्यासों में दर्ज़ भूमंडलीकरण का प्रभाव भी भिन्न होगा। मैंने आदिवासी और गैर आदिवासी विषयक उपन्यासों में भूमंडलीकरण के प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है । इस अध्याय का दूसरा और तीसरा भाग क्रमशः भूमंडलीकरण से पूर्व और भूमंडलीकरण के दौर के आदिवासी विषयक उपन्यासों का कालक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत करते हुए उनकी विषयवस्तु और मुख्य प्रवृतियों पर प्रकाश डालते है। अंतिम चतुर्थ उप अध्याय में आदिवासी समाज पर भूमंडलीकरण के प्रभावों का सम्यक् विश्लेषण हिन्दी के पांच उपन्यासों- पाँव तले की दूब', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश', 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' और 'रेड जोन' के आधार पर किया है।

शोध प्रबंध का चौथा अध्याय 'भूमंडलीकरण: हिन्दी कहानी और आदिवासी समाज' है। इसके पहले उप अध्याय में भूमंडलीकरण की प्रवृतियों के आलोक में हिन्दी कहानियों के स्वरूप को समझने का प्रयास किया है । दूसरा उप अध्याय हिन्दी कहानियों में आदिवासी समाज की उपस्थिति का कालक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत करने के साथ प्रमुख आदिवासी कहानीकारों की कहानियों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है । इसके अंतिम उप अध्याय में आदिवासी समुदायों पर भूमंडलीकरण के प्रभावों को हिन्दी कहानियों के माध्यम से समझने का प्रयास किया है। जल, जंगल और जमीन का सवाल, विस्थापन, बेदख़ली और पलायन, बाहरी घुसपैठ और शोषण, आदिवासी विकास की सच्चाई और भ्रष्टाचार, आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का सवाल, नक्सलवाद, बाज़ार का प्रवेश, स्त्री अस्मिता आदि ऐसे विषय है, जिनको हिन्दी की आदिवासी कहानी बख़ूबी बयान करती है।

शोध प्रबंध का अंतिम अध्याय 'भूमंडलीकरण: हिन्दी कविता और आदिवासी' है । इस अध्याय को तीन उप अध्यायों में बांटा गया है जिनमें क्रमशः हिन्दी कविता में भूमंडलीकरण की प्रवृतियों का मूल्यांकन करने के साथ हिन्दी आदिवासी कविता के विकास और हिन्दी आदिवासी कविताओं पर भूमंडलीकरण के प्रभावों का अध्ययन किया गया है। साहित्य की इन तीनों विधाओं में

भूमंडलीकरण का स्वरूप और प्रभाव लगभग समान ही है। शोध प्रबंध के अंत में उपसंहार दिया गया है।

उक्त शोध प्रबंध के अंतर्गत मैंने साहित्य की तीन विधाओं- उपन्यास, कहानी और कविता को ही शामिल किया है, क्योंकि आदिवासी लेखन परंपरा में यही विधा प्रमुख रूप से उभरकर सामने आयी है । हालांकि लोककथाओं और मिथकों के दर्ज़नों संग्रह हिन्दी के आदिवासी साहित्य संसार में अपनी उपस्थिति दर्ज़ करवा चुके हैं, किन्तु भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में उनकी महत्ता सीमित है। इसलिए भी उन्हें इस शोध प्रबंध में शामिल नहीं किया गया है। इस शोध प्रबंध की रूपरेखा लगभग एक दशक पूर्व बनी थी, लेकिन निजी व्यस्तताओं और नौकरी के चलते यह अब पूर्णता को प्राप्त हो रहा है ।

इस दौर में आदिवासी विषयक लेखन की परंपरा मात्रात्मक और गुणात्मक दृष्टि से काफ़ी समृद्ध हुई । आदिवासी समाज से ताल्लुक रखने वाले बहुत से कहानीकार और कवियों ने हिन्दी साहित्य में अपनी महत्वपूर्ण पहचान स्थापित की। इनमें अनुज लुगुन, निर्मला पुतुल, रोज केरकट्टा, हरिराम मीणा, वाल्टर भेंगरा, रूपलाल बेदिया, विजय सिंह मीणा, जसिन्ता केरकट्टा, जमुना बीनी तादर आदि कवि-कथाकारों ने हिन्दी में आदिवासी उपस्थिति को प्रभावी और विश्वसनीय बनाया । संजीव, रणेन्द्र, विनोद कुमार और ए. के. पंकज, जैसे गैर आदिवासी लेखकों ने भी कई महत्वपूर्ण उपन्यास और कहानी संग्रहों के माध्यम से हिन्दी पाठक के समक्ष आदिवासी जीवन का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया । उनकी रचनात्मकता और साहित्यिक ईमानदारी को ध्यान में रखकर इन्हें भी मैंने अपने शोघ प्रबंध में शामिल किया है। एक तथ्य यह भी है कि आदिवासी समाज से आने वाले लेखकों ने कहानी और कविता के क्षेत्र में अपनी भरपूर उपस्थिति दर्ज़ की है, किन्तु उपन्यास विधा के अंतर्गत एक खालीपन नज़र आता है, जिसे इन गैर आदिवासी लेखकों ने भरने का प्रयास किया है ।

इस शोध प्रबंध के अंतर्गत मैंने उन रचनाओं को भी शामिल किया है जो मेरे शोध प्रबंध की रूपरेखा तैयार होने के बाद प्रकाशित हुई । वंदना टेटे, गंगासहाय मीणा, हरिराम मीणा, आदि ने आदिवासी साहित्य की अवधारणा प्रस्तुत कर आदिवासी साहित्य को वैचारिक आधार प्रदान किया। प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, युद्धरत आम आदमी और विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं और संगोष्ठियों ने आदिवासी साहित्य को विमर्श को मजबूत बनाने का कार्य किया। कहानी, कविता और लोककथाओं के कई संपादित ग्रंथ इस कालखंड में प्रकाशित हुए। रणेन्द्र का उपन्यास 'गायब होता देश', महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' और विनोद कुमार के 'रेड जोन' को भूमंडलीकरण के संदर्भ में प्रासंगिक होने के कारण बाद में जोड़ा है। अध्यायों की संख्या और नामकरण में भी कुछ अपरिहार्य परिवर्तन किए है।

शोध निर्देशक डॉ. राजेश कुमार पासवान के मार्गदर्शन और सहयोग से मैं इस शोध प्रबंध को पूरा कर पाया। उनका मित्रवत् व्यवहार मुझे पीएच.डी के 'भूत' से उबारने में सहायक रहा। मैं उन सभी गुरूजनों, मित्रों और परिवारजनों का आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इसके लिए सहयोग प्रदान किया।

महेन्द्र सिंह मीणा
भारतीय भाषा केन्द्र, जे.एन.यू
नई दिल्ली – 110067

विषयानुक्रमणिका

भूमंडलीकरण और हिन्दी आदिवासी साहित्य

		पृष्ठ संख्या
प्रस्तावनाः-		4-9
अध्याय : 1	**भूमंडलीकरण: भारतीय और आदिवासी संदर्भ**	11-65
1.1	भूमंडलीकरण की अवधारणा	
1.2	भूमंडलीकरण और भारत	
1.3	भूमंडलीकरण और आदिवासी	
अध्याय : 2	**हिन्दी आदिवासी साहित्य और अस्मिता विमर्श**	66-103
2.1	आदिवासी समाज और साहित्य	
2.2	आदिवासी साहित्य की अवधारणा	
2.3	आदिवासी साहित्य और अस्मिता विमर्श	
अध्याय : 3	**भूमंडलीकरण: हिन्दी उपन्यास और आदिवासी**	104-176
3.1	हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण का स्वरूप और प्रवृतियाँ	
3.2	भूमंडलीकरण से पूर्व के हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी	
3.3	भूमंडलीकरण के दौर के हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी	
3.4	भूमंडलीकरण की प्रवृतियों के आलोक में विवेच्य उपन्यासों का अध्ययन	
अध्याय : 4	**भूमंडलीकरण: हिन्दी कहानी और आदिवासी समाज**	177-224
4.1	भूमंडलीकरण की प्रवृतियाँ और हिन्दी कहानी	
4.2	हिन्दी कहानियों में चित्रित आदिवासी समाज	
4.3	आदिवासी समुदायों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव और हिन्दी कहानी	
अध्याय : 5	**भूमंडलीकरण: हिन्दी कविता और आदिवासी**	225-306
5.1	हिन्दी कविता और भूमंडलीकरण की प्रवृतियाँ	
5.2	हिन्दी आदिवासी कविता का विकास	
5.3	भूमंडलीकरण और हिन्दी आदिवासी कविता	
उपसंहार		307-314
संदर्भ सूची		315-325

अध्याय: 1

भूमंडलीकरण: भारतीय और आदिवासी संदर्भ

1.1 भूमंडलीकरण की अवधारणा

1.2 भूमंडलीकरण और भारत

1.3 भूमंडलीकरण और आदिवासी

अध्याय: 1

भूमंडलीकरण: भारतीय और आदिवासी संदर्भ

1.1 भूमंडलीकरण की अवधारणा

दुनिया के विकास क्रम में सबसे अधिक प्रभावी आर्थिक संकल्पना बीसवीं सदी के अंतिम दशक में उभरकर सामने आई, जिसने सम्पूर्ण विश्व को झकझोर कर रख दिया। उन्नीसवीं सदी से पहले की व्यापारिक गतिविधियों ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को विस्तारित करने में अहम भूमिका निभाई। पन्द्रहवीं सदी से ही भारतीय मसाले और चीन का रेशम यूरोप के बाजारों में अपनी उपस्थिति दर्ज़ करवा रहे थे। समुद्री यातायात के विकास और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विकसित उन्नत तकनीक ने व्यापारिक ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया । अब व्यापार सिर्फ़ दो देशों के मध्य का मामला भर नहीं रह गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत 1930 ई. में दुनिया के इतिहास की सबसे बड़ी आर्थिक मंदी ने द्वितीय विश्वयुद्ध की नींव रख दी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपजी खेमाबंदी साम्यवादी सोवियत संघ के विघटन के साथ समाप्त हो गई। अब विश्व की धुरी पूँजीवादी व्यवस्था के पक्ष में घूमने लगी। पूँजीवादी अमेरिका विश्व की सर्वोच्च ताकत बनकर उभरा और इसे समाजवाद-साम्यवाद के साथ वैचारिक लड़ाई में पूँजीवाद की निर्णायक जीत के बतौर देखा गया।

1.1.1 भूमंडलीकरण की पूर्वपीठिका: शीतयुद्ध

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान नष्ट हुई 'पश्चिमी यूरोप और मित्र राष्ट्रों यथा- जर्मनी, फ्राँस, ब्रिटेन, इटली, बेल्जियम के साथ 13 अन्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं' को फिर से खड़ा करने के लिए अमेरिका ने 13 बिलियन डॉलर की आपात सहायता प्रदान की, जिसे 'मार्शल योजना'[1] कहा जाता है। यह इन देशों के पुनर्निर्माण की अमरीकी प्रतिबद्धता थी। इसने पूँजी के अंतर्राष्ट्रीय विनिमय को सरल बनाने का काम किया। अमेरिका का उद्देश्य युद्धग्रस्त क्षेत्रों का पुनर्निर्माण करना, व्यापार बाधाओं को खत्म करना

[1] 'मार्शल योजना' के सूत्रधार अमरीकी राज्य सचिव जॉर्ज. सी. मार्शल थे। द्वितीय विश्वयुद्ध से तबाह यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण हेतु इन्होंने एक चार वर्षीय प्लान प्रस्तुत किया। यह योजना यूरोप के पुनर्निर्माण और साम्यवादी सोवियत संघ को जबाव देने से जुड़ी हुई थी, यह नाटो की पूर्वपीठिका थी। अमेरिकी राष्ट्रपति हैनरी ट्रूमैन ने 3 अप्रेल 1948 को इस योजना को आधिकारिक मंजूरी दे दी। इस कार्य के लिए जॉर्ज.सी. मार्शल को 1953 में शांति का नोबेल पुरूस्कार मिला।
https://history.state.gov/milestones/1945-1952/marshall-plan,
https://www.marshallfoundation.org/marshall/the-marshall-plan/history-marshall-plan/,
https://www.history.com/topics/world-war-ii/marshall-plan-1

एवं यूरोपीय उद्योगों को आधुनिक बनाकर आर्थिक उन्नति की राह तैयार करना था। सोवियत संघ की साम्यवादी विचारधारा के फैलाव को रोकना इसका गुप्त एजेन्डा था। यह योजना अप्रेल 1948 से 1952 ई.के मध्य लागू की गई। इस बीच वैश्विक स्तर पर आर्थिक पुर्ननिर्माण हेतु अनेक नीति नियामक अंतर्राष्ट्रीय कानून और संधियों का अस्तित्व सामने आया। 'ब्रेटनवुड्स विनिमय दर प्रणाली'[2] को लागू करने के साथ 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष,'[3] 'विश्व बैंक'[4] और 'गैट'[5] की स्थापना हुई। 'ब्रेटनवुड्स विनिमय दर प्रणाली' के अंतर्गत डॉलर को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा ही घोषित नहीं किया,अपितु उसे सोने के साथ अंतर्राष्ट्रीय मानक के रूप में मान्यता दी गई।

'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' की स्थापना सट्टेबाजों से ब्रेटनवुड्स प्रणाली की रक्षा करने के उद्देश्य से की गई। इसके माध्यम से नई तकनीक और आर्थिक विकास के नाम पर तीसरी दुनिया के देशों को सस्ता ऋण उपलब्ध करवाया गया। जब तीसरी दुनिया के ये नव स्वतंत्र देश ऋण के बोझ तले इस सीमा तक दब गये, कि उसे चुकाने की स्थिति में नहीं रहे, तब उन्हें विवश किया गया, कि वे विकसित देशों की बहुर्राष्ट्रीय कंपनियों को अपने देश में प्रवेश देकर व्यापार करने की छूट प्रदान करें।

'विश्व बैंक' की स्थापना 'राष्ट्रीय विकास कार्यों एवं आर्थिक पुर्ननिर्माण हेतु' लंबी अबधि का ऋण उपलब्ध करवाने हेतु की गई थी। ऋण लेने वाले देशों ने ऋण की अदायगी अमीर देशों को अपने देश के श्रेष्ठतम् उत्पादन का निर्यात करके की, जिससे न केवल संपन्न राष्ट्रों को स्थिति सुदृढ़ हुई, अपितु ब्याज के रूप में अधिकतम लाभांश भी अर्जित हुआ। समूची दुनिया में व्यापार, पूँजी निवेश, रोजगार और आय के अधिक अवसर पैदा करने के उद्देश्य से 'गैट' की स्थापना एक अंतर्राष्ट्रीय मंच के बतौर की गई। इस संस्था ने देशों के बीच व्यापारिक प्रतिबंधों को कम करने के लिए राष्ट्रीय सरकारों द्वारा प्रतिबंध लगाये जाने की स्थिति में संबंधित सरकार द्वारा व्यापारिक क्षति पहुंचने वाले देश/प्रतिष्ठानों को भरपाई करने के लिए बाध्यकारी नीति बनाई। विवाद की स्थिति में पंच निर्णय को स्वीकार करने पर

---

[2] 1 से 22 जुलाई 1944 के मध्य अमेरिका के न्यू हैम्पशायर शहर के ब्रेटनवुड्स स्की रिसोर्ट में 'यूनाइटेड नेशंस मॉनिटरी एंड फिनांशियल कांफ्रेंस' का आयोजन किया गया, जिसमें 44 देशों के 730 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के गठन का रास्ता साफ कर दिया।

[3] वाशिंगटन डी.सी. से संचालित आई.एम.एफ की स्थापना ब्रेटनवुड्स व्यवस्था के सूत्रधार अमरीकी राजकोष विभाग की अधिकारी हैरी डेक्सटर वाईट और ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन मेन्यार्ड के दिमाग की उपज थी। 29 सदस्य देशों से शुरू होने वाली यह संस्था आज 189 देशों को अपने भीतर समेटे हुए है।

[4] विश्व बैंक पांच प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं का एक समूह है, वाशिगटन डी.सी स्थित इसके मुख्यालय पर आज 189 देशों के झंडे लगे हुए है। इसकी स्थापना भी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पुर्ननिर्माण और विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय बैंक के रूप में हुई।

[5] 'गैट' (General Agreement on Tariffs and Trade,GATT) की स्थापना 30 अक्टूबर 1947 को हुई। 1जनवरी 1948 से कार्यरत यह संस्था 1 जनवरी 1995 को नये रूप विश्व बाजार संगठन में तब्दील हो गई।

जोर दिया । द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत दो दशकों तक, उक्त संस्थाओं के नियंत्रण में पूँजीवादी औद्योगिक विकास में भारी वृद्धि देखने को मिली ।

युद्ध से तबाह हुई दुनिया के नवनिर्माण की बढ़ती माँग ने, पश्चिम के धनी और पूर्व के समाजवादी देशों में आर्थिक बढ़त और समृद्धि को पूर्ण रोजगार के साथ आगे बढ़ाया । पश्चिमी पूँजीवादी देशों के इस नवउपनिवेशवाद को चुनौती मिली, साम्यवादी व्यवस्था के पुरोधा सोवियत संघ से । तीसरी दुनिया के देशों ने शीतयुद्ध काल में दोनों धुरी व्यवस्थाओं की आपसी प्रतिस्पर्धा का फायदा उठाने के लिए गुट निरपेक्षता की नीति का समर्थन किया । अपनी सीमित क्षमता के बल पर सोवियत संघ पश्चिम की साम्राज्यवादी ताकतों का मुकाबला नही कर सकता था, फिर भी उन्होंने तीसरी दुनिया के देशों में निजी कंपनियों की जगह सरकारी कंपनियों को प्रश्रय देकर आय और संपत्ति वितरण की गैर-बराबरी को घटाने की कोशिश की ।

1.1.2 तीसरी दुनिया की भूमिका

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अधिकांश औपनिवेशिक देश स्वतंत्र हो गये । इन नव स्वतंत्र देशों की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण थी, क्योंकि एक ओर ये देश प्राकृतिक संसाधनों से 'लैस' होने के कारण कच्चे माल के बहुत बड़े आपूर्तिकर्ता थे, वहीं दूसरी ओर इनकी आबादी का काफ़ी हिस्सा ऐसा था, जिनमें उपभोक्ता बनने की भरपूर संभावना थी । ये देश इन 'धुरी राष्ट्रों' जैसी आर्थिक समृद्धि और औद्योगिक विकास हासिल करने को लालायित थे । तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों ने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए 'राज्य' को बड़ी भूमिका दी । इसका प्रमुख कारण यह था कि औपनिवेशिक दासता से लड़ते हुए इन देशों के स्वतंत्रता सेनानियों ने अपने तमाम जाति, धर्म, नस्ल, रंग-रूप से संबंधी मामलों को तरजीह न देते हुए भूख, गरीबी, विकास, स्वावलंबन, स्वायत्ता आदि को वैचारिक हथियार बनाया । अभी आदर्श रूप में इस परिकल्पना को इन्होंने भुलाया नहीं था ।

कुछ नव स्वतंत्र देशों ने 'पश्चिम' की उन्नति को आधार मानकर उन्हीं के नक़्शे-कदम पर चलते हुए, उनके समकक्ष का दर्जा पाने को अपना राष्ट्रीय लक्ष्य बना लिया था । अतः जिन देशों का ये अनुकरण कर रहे थे, उन देशों की तकनीक, पूँजी, संगठन एवं प्रबंधन को आवश्यक मानने लगे । अमेरिका ने इन देशों को सर आँखों पर बिठाया । खुद को इन गरीब-पिछड़े देशों का उद्धारक घोषित करने के साथ आर्थिक साझेदार भी बनाया । अमेरिका ने तीसरी दुनिया के इन देशों को कुछ आसान शर्तों के साथ ऋण उपलब्ध करवाया, जिसका उद्देश्य तीसरी दुनिया में आयात को प्रोत्साहित करना और विदेशी मुद्रा की कमी को दूर करना था । तीसरी दुनिया के देशों ने इसी कर्ज से विकसित देशों से ऐशो-आराम की उपभोक्ता केन्द्रित वस्तुऐं और द्वितीय स्तर की तकनीक खरीदी ।

तीसरी दुनिया के इन देशों को पूँजीवाद समर्थक विकसित धनी देशों की भांति आर्थिक समृद्धि का दिवास्वप्न दिखाया गया था। जिसके लिए उत्पादन और उपभोग का ढांचा तैयार करने के साथ-साथ आय और संपत्ति वितरण में इन 'मसीहाई देशों' की महत्त्वपूर्ण भमिका थी। पश्चिमी देशों की अप्रचलित और पुरानी हो चुकी तकनीक इन देशों को उपलब्ध करवाई गई, जिसने तीसरी दुनिया के देशों के लिए जितना फायदा पहुंचाया, उससे कहीं ज्यादा नुकसान किया। भारत में भोपाल गैस त्रासदी[6] को उदाहरण के बतौर देखा जा सकता है।

1.1.3 स्वप्न भंग और शीतयुद्ध के बीच भूमंडलीकरण का उदय

सातवें दशक की शुरूआत से ही वैश्विक व्यवस्था में रूकावट नज़र आने लगी। 1968 का साल पूरी दुनिया में छात्र विद्रोह के वर्ष के रूप में याद किया जाता है। पश्चिमी बर्लिन, हार्वर्ड, वारसा, प्राग, लंदन, पेरिस, रोम और मैक्सिको सिटी आदि के छात्र विद्रोहों के अलावा संयुक्त राज्य अमेरिका को भी इतिहास के सबसे बड़े अश्वेत विद्रोह का सामना करना पड़ा। आर्थिक रूप से समृद्ध अमेरिका में अश्वेतों की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ था। 1955 में अश्वेत महिला रोजा पाक्र्स ने बस में पीछे की ओर अश्वेतों के लिए निर्धारित जगह पर बैठने से इन्कार कर दिया। इसने ऐसे बहिष्कार को जन्म दिया, जिससे अलबामा का 'मांटगोमरी'[7] हिल गया। ये विद्रोह उतरोत्तर तीव्र होते चले गये। 1968 में 'मार्टिन लूथर किंग'[8] की हत्या के बाद हर अश्वेत घर विस्फोटक नज़र आने लगा। 'ब्लैक पैंथर पार्टी'[9] ने आत्मरक्षा में क्रान्ति का आह्वान कर दिया था।

---

[6] मध्यप्रदेश के भोपाल शहर में 3 दिसम्बर 1984 को अमेरिकी प्रभुत्त्व आधारित कंपनी यूनियन कार्बाइड में जहरीली गैस 'मिक' यानि मिथाइल आइसोसाइनेट का भारी रिसाव हुआ, जिससे तीन हजार लोगों की तत्काल असामयिक मौत हुई। लाखों लोग बाद के सालों तक प्रभावित हुए। जांच में पता चला की सुरक्षा नियमों में बरती गई कोताही और तकनीकी पिछड़ापन इसका प्रमुख कारण था।

[7] 5 दिसंबर 1955 को अफ्रीकी अश्वेत महिला रोजा पार्क्स बस में यात्रा के दौरान अश्वेत लोगों के लिए निर्धारित सीट पर नहीं बैठकर श्वेत लोगों की रिजर्व सीट पर बैठ गई, जिसके लिए उसे गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। इस नस्लवादी भेदभाव के खिलाफ़ सुनवाई करते हुए 20 दिसम्बर 1956 को अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने इसे गैर कानूनी घोषित किया। अलबामा प्रान्त के माँटगोमरी की यह घटना अमरीकी इतिहास में नस्लवाद के खिलाफ़ उलगुलान साबित हुई।

[8] डॉ. मार्टिन लूथर किंग जूनियर एक अफ्रीकी-अमरीकी मानवाधिकार कार्यकर्त्ता, पादरी और अमरीकी गांधी के रूप में जाने जाते थे। अलबामा प्रान्त के माँटगोमरी में हुए नस्लवादी आंदोलनों के खिलाफ़, इन्होंने अहिंसावादी आंदोलन चलाकर समान नागरिक अधिकारों की मांग की। 1963 में टाइम मैगजीन ने 'पर्सन ऑफ द ईयर' चुना और 1964 में इन्हें विश्व शांति के लिए नोबेल पुरूस्कार से सम्मानित किया। 4 अप्रेल 1968 को इनकी गोली मारकर हत्या कर दी गई।

[9] ब्लैक पैंथर पार्टी की स्थापना अमरीका के कैलिफोर्निया में अक्टूबर 1966 को राबर्ट जार्ज सियेल नामक अमरीकी राजनीतिक कार्यकर्त्ता और हुई .पी.न्यूटन ने की। नस्लवाद के खिलाफ़ एक संगठित आंदोलन को इसने नेतृत्व प्रदान किया।
https://en.wikipedia.org/wiki/Black_Panther_Party

अब तक अमेरिका दुनिया की सर्वोच्च ताकत बन चुका था, पर अब उसका सामना जापान, जर्मनी, कोरिया से होने लगा। अमेरिका के बढ़ते आंतरिक-बाहरी खर्च, वियतनाम युद्ध (नबंवर 1955 से अप्रेल 1975 तक) , अमेरिकी कंपनियों के विदेशी पूँजी निवेश, उच्च प्रौद्योगिकी और उत्पादन के बल पर जर्मनी और जापान के बढ़ते जा रहे सरप्लस ट्रेड और आयात-निर्यात के बढ़ते बजट घाटे ने अमरीकी डॉलर को अस्थिर कर दिया।

अरब-इजराइल (1948, 1965, 1967, 1973 ई.) और ईरान-इराक युद्ध (सितंबर 1980 से अगस्त 1988 ई.) के बीच तेल निर्यातक देशों के संगठन-ओपेक[10] ने तेल की कीमतों में भारी वृद्धि कर दी, इस कारण इन धनी देशों को अपनी आर्थिक वृद्धि दर को बनाये रख पाना मुश्किल हो रहा था। दूसरी ओर श्रमिक संगठनों की ताकत में भी इजाफा हुआ। तीसरी दुनिया के देश भी निर्यातक देशों की सफलता से उत्साहित होकर विदेशी कर्ज और तकनीक के आयात पर बाहरी निर्भरता और बढ़ती लागत की दिक्कतों को दूर करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अंकटाड[11] जैसी संस्थाओं का सहयोग ले रहे थे। यह पूर्व औपनिवेशिक धनी देशों के आधिपत्य को सीधे तौर पर नकारना था।

15 अगस्त 1971 को अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन[12] ने अपने भाषण में ब्रेटनवुड्स समझौते की शर्तों को माने जाने से साफ इनकार कर दिया। इस तरह अमेरिका ने डॉलर के बदले सोना देने की पुरानी वचनबद्धता को समाप्त कर दिया। भारी भरकम आयात के कारण संसार भर में जमा हो रहे डॉलर के बदले अमेरिका अपने सरकारी बांड या सिक्यूरिटी खरीदने के लिए दुनिया को मजबूर करने लगा। अमेरिकी डॉलर की यह कृत्रिम ताकत अमेरिका को भूमंडलीकरण का सर्वेसर्वा बनाने में बहुत सहायक हुई। ऐसी स्थिति में अमेरिकन राष्ट्रपति रीगन[13] और ब्रिटिश प्रधानमंत्री थैचर[14] ने नवउदारवादी नीतियों

---

[10]ओपेक की स्थापना पेट्रोलियम उत्पादक और निर्यातक देशों का संगठन है, जिसकी स्थापना 14 सितंबर 1960 को बगदाद में हुई।

[11] अंकटाड (यूनाइटेड नेशंस कांफ्रेंस ऑन ट्रेड एंड डवलपमेंट) संयुक्त राष्ट्र संघ की एक संस्था है, जिसका गठन 1964 में किया गया। जिनेवा से संचालित होने वाली यह संस्था आज 195 देशों के बीच व्यापार, परिवहन, वित्त और प्रोद्योगिकी के साथ सहायता कार्य भी संचालित करती है।

[12] रिचर्ड मिलियोस निक्सन अमरीका के 37वें राष्ट्रपति (20 जनवरी 1969 से 9 अगस्त 1974) थे। 15 अगस्त 1971 को राष्ट्र के नाम संबोधन में इन्होंने 'नई आर्थिक नीति' की घोषणा की। बेरोजगारी, मुद्रास्फीति और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा सटोरियों के खिलाफ़ जंग का ऐलान करते हुए ब्रिटेनवुड्स समझौते के तहत डॉलर के बदले सोना देने के अमरीकी वादे को तोड़ दिया। वित्त सचिव जॉन कॉनली ने घोषित किया कि-'यह साफ है कि हमें अंर्तराष्ट्रीय क्षेत्र में आगे बढ़ना है, सोने की खिड़की को बंद करना है, सोने की पूर्व कीमतों को बनाये रखते हुए हमें डॉलर की डगमगाती स्थिति को प्रोत्साहित करना होगा।
https://www.wsj.com/articles/SB10001424053111904007304576494073418802358
https://www.cvce.eu/content/publication/1999/1/1/168eed17-f28b-487b
9cd26d668e42e63a/publishable_en.pdf

[13] रोनाल्ड रीगन चालीसवें अमरीकी राष्ट्रपति (1981-1989) थे, नवउदारवादी नीतियों को लागू करने में इन्होंने नई आर्थिक नीतियों को रखा, जिसके चलते 'रीगनोमिक्स' की नई अवधारणा को जन्म हुआ। इन नीतियों के तहत आर्थिक विकास दर को बढ़ाने के लिए सरकारी नियंत्रण का पूर्ण खात्मा, व्यक्तिवादी बाजार नीतियों को प्रोत्साहन और मुक्त बाजार की अवधारणा को लागू किया गया

को प्रश्रय देना शुरू कर दिया। बाज़ार की ताकतों पर से राजकीय प्रतिबंध हटाये जाने लगे। करों में कटौती की गई। श्रमिकों के सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों और नीतियों में परिवर्तन कर कमजोर किया गया।

दुनिया के धनी देशों ने अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए वैश्विक स्तर पर मुद्रा और पूँजी बाज़ार से सभी नियंत्रणों की समाप्ति, प्रत्यक्ष कर और राजकीय खर्चों में कटौती, सार्वजनिक उद्योगों का निजीकरण, बहुदेशीय कंपनियों तथा निजी उद्यमों पर राजकीय नियंत्रण से मुक्ति, श्रमिक एवं मध्यवर्ग के कल्याण हेतु आंशिक समतामूलक नीतियों को समाप्त करने की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था शुरू की। मुक्त व्यापार नीतियों के माध्यम से राष्ट्रीय सीमाओं को आर्थिक मामलों में खत्म किये जाने का दौर प्रारंभ हुआ, जिसे भूमंडलीकरण का नाम दिया गया।

सातवें दशक के अंत यानि 1970 तक कई और परिवर्तन भी दिखाई देने लगे। गरीबों की संख्या में भारी वृद्धि हुई। निरक्षरता, उच्च मृत्यु दर, भुखमरी आदि के साथ विदेशी कर्ज, व्यापार असंतुलन ने तीसरी दुनिया के राजकोषीय घाटे को बढ़ा कर उनकी कमर तोड़ दी। ऐसे में पश्चिमपरस्त अर्थशास्त्रियों ने तीसरी दुनिया में राजकीय नियंत्रण में चल रहे आयात प्रतिस्थापक औद्योगिकीकरण के खिलाफ़ मुहिम शुरू कर दी, ताकि अमेरिकी दबदबे को कायम रखा जा सके। उन्होंने तीसरी दुनिया के सार्वजनिक क्षेत्र की स्वावलंबी विकास प्राप्ति के उद्देश्य से संचालित योजनाओं, आयात घटाने वाले उद्योग-धंधों की स्थापना नीति का विरोध किया। इसे उन्होंने विकास की गति में बाधक बताया। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रसार, उसकी जन्मजात 'अपरिहार्य अकुशलता', कोटा परमिट राज की बंदिशों, सत्ता की लगान समान भ्रष्टाचार, विदेशी पूँजी और कंपनियों पर जारी बंदिशों को तीसरी दुनिया के विकास में बाधक सिद्ध कर दिया।

। सरकार को आर्थिक मामलों में दखलंदाजी न करने, करों में कटौती करने, सरकारी संपत्ति को बेचने और उसका निजीकरण करने, अंतर्राष्ट्रीय आयात कानूनों में ढ़ील देने से संबंधित कानून अमल में लाये गये।

[14] मार्गेट थैचर 1975 से 1990 तक ब्रिटिश कंजरवेटिव पार्टी की नेता और 1979 से लेकर 1990 तक इंग्लैण्ड की प्रधानमंत्री रही। इनके आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों को 'थैचरिज्म' का नाम दिया गया। इन्होंने अमरीकी राष्ट्रपति रोनल्ड रीगन के साथ कदमताल करते हुए पूंजीवाद को जिताने के लिए 'राज्य के सार्वजनिक कल्याण' की छवि को मिटाने की सफल चाल चली। इनके कार्यकाल में बाजार आधारित नीतियों को प्रोत्साहित करने के लिए सरकारी क्षेत्र की कंपनियों को औने-पौने दामों मे बेच दिया, जिससे पूंजीपतियों के धन में कई गुना बढ़त देखने को मिली, थैचर ने इसे लोकतंत्र का विस्तार बताया, पर वास्तव में इसने असमानता को भारी स्तर पर बढ़ावा दिया। गैस, बिजली, संचार पर सरकारी एकाधिकार को खत्म कर दिया, सरकारी क्षेत्रों की उद्यमता पर नकेल डालकर निजी क्षेत्रों से प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा दिया, श्रमिक संगठनों के अधिकारों में कटौती ही नहीं की, अपितु खत्म होने के कगार पर पहुंचा दिया, जिसका सबसे बडा उदाहरण 1984 के खनन श्रमिकों की एक साल लंबी हड़ताल का बेनतीजा खत्म होना है, जनता के करो में इजाफा और बडे उद्योगपतियों को करमाफी नीतियों ने थैचर को पूंजीपतियों की हितैषी बनाता है। https://www.economicshelp.org/blog/glossary/thatcher-economic-policies/https://en.wikipedia.org/wiki/Thatcherism

1950-60 के दशक में अति समृद्ध हुए एकाधिकारवादी निजी निगमित क्षेत्र के औद्योगिक पुरोधाओं ने भी पश्चिम से आ रही आलोचनाओं में स्वर मिलाना शुरू कर दिया। नकलची उद्योग धंधों की स्थापना से पनपने वाले इन पश्चिम परस्त पूँजीपतियों ने राष्ट्रीय सरकारों को झुकने पर मजबूर कर दिया। उन्हें अपना दूरगामी निजी स्वार्थ इन बहुदेशीय विश्वव्यापी कंपनियों के साथ जुड़ा हुआ दिखाई देने लगा। विदेशी कर्ज के मकड़जाल में उलझे तीसरी दुनिया के नव स्वतंत्र देशों में राष्ट्रीय सीमाहीन विश्व अर्थव्यवस्था की नीतियों को लागू किया गया। उद्योगों की बजाय सेवा और वित्तीय क्षेत्र की भूमिका तीसरी दुनिया के देशों के समक्ष प्रस्तुत की। इसी दौर में अमेरिका में 'वाशिंगटन आमराय' कही जाने वाली नीति बनाई गई। इससे विदेशी आवारा पूँजी को विश्व भ्रमण की इजाजत मिल गई। मुक्त व्यापार और निजीकरण को बढ़ाया गया। सरकार की आर्थिक भूमिका सीमित कर दी गई। सरकारी सामाजिक उत्तरदायित्व में कटौती की जाने लगी। सरकारी पैसे से निजी उद्योगों को उबारा गया, जिसने आम जनता को गरीबी के दलदल में धकेलने का काम किया। जिन नवस्वतंत्र राष्ट्रों ने इन नीतियों को मानने से इनकार किया, उन्हें डरा-धमकाकर या सत्ता परिवर्तन कर इस व्यवस्था के अंतर्गत शामिल होने के लिए मजबूर किया गया।

सोवियत संघ के बिखराव[15] को नवउदारवादियों ने साम्यवादी विचारधारा की पराजय और पूँजीवादी विचारधारा की जीत घोषित करने के साथ भूमंडलीकरण को एकमात्र विकल्प कहकर प्रचारित किया। सोवियत संघ के विखराव का असर पश्चिमी देशों में भी दिखने लगा, अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन और ब्रिटिश प्रधानमंत्री थैचर ने श्रमिक और मध्य वर्ग से संबंधित सामाजिक सुरक्षा की नीतियों और श्रम संगठनों की ताकत को समाप्त कर दिया। इसी के साथ पश्चिमी विचारकों ने 'मार्क्सवाद की मृत्यु'[16] और 'इतिहास के अंत'[17] की घोषणा कर दी। ढाँचागत समायोजन के अंतर्गत निजी तथा विदेशी पूँजी के हित में राज्य की आर्थिक भूमिका को सीमित करने वाली, राष्ट्रीय सीमाओं को नकारने

---

[15]26 दिसंबर 1991 को सोवियत संघ विभाजित होकर 15 स्वतंत्र देशों में बंट गया। मिखाईल गोर्बाच्योव की ग्लास्नोस्त (खुलापन), पेरस्त्रोईका (पुनर्गठन) और उस्कोरेणी (त्वरण) की नीतियां इसके लिए काफी हद तक जिम्मेदार थी। लोकतंत्र, मानवाधिकार और स्वतंत्रता की आड़ में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के पतन ने पूंजीवाद के विश्वव्यापी फैलाव की राह आसान कर दी।

[16] 'द स्ट्रेंज डेथ ऑफ़ मार्क्सिसज्म नामक पुस्तक में पॉल एडवर्ड ने खुरश्चेव कालीन सोवियत संघ और माओवादी चीन के बदलते स्वरूप को मार्क्स के विचारों का अंत घोषित किया। उनके अनुसार वर्तमान वाम मार्क्सवादी नहीं, अपितु उत्तर मार्क्सवादी है। पारंपरिक वामपंथी और लोकतांत्रिक समाजवादियों की भांति सांस्कृतिक कट्टरता को कायम रखते हुए वर्तमान वाम आर्थिक मामलों में निजी उद्यमों, यहां तक की विशाल निगमों से शांतिपूर्ण संबंध कायम रखना चाहता है, केवल सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के अपने विचार को लागू करना ही इन उत्तर मार्क्सवादियों का लक्ष्य रह गया है।

[17] 'द ऐंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन' नामक पुस्तक में फ्रांसिस फूकूयामा ने घोषित किया कि -'दुनिया के सभी देशों के लिए उदार लोकतंत्र ही अंतिम विकल्प है, इस उदार लोकतंत्र के विकल्प की कोई प्रगति सामने नहीं आने वाली है।' इस विचार ने पश्चिमी पूंजीवादी सरकारों की नीतियों को जायज ठहराने के साथ अंतिम रूप से कल्याणकारी बताया गया।
https://en.wikipedia.org/wiki/The_End_of_History_and_the_Last_Man

वाली, विदेशी कारोबार को नियंत्रण मुक्त बनाने वाली भूमंडलीकरण की नीतियों का परचम सारी दुनिया में लहराने लगा। इसे बाज़ार की तानाशाही, नवसाम्राज्यवाद, निगमित पूँजीवाद और अमेरिकी वर्चस्व के रूप में रेखांकित किया गया।

1.1.4 भूमंडलीकरण की परिभाषा

'भूमंडलीकरण' शब्द का आर्थिक विचार पद्धति के रूप में पहला प्रयोग 1983 ई. में हार्वर्ड बिजनेस स्कूल में मार्केटिंग के प्रोफेसर थियोडोर लेविट ने किया। उन्होंने विभागीय पत्रिका 'हार्वर्ड बिजनेस रिव्यू' के लिए एक लेख लिखा-'द ग्लोबलाइजेशन ऑफ मार्केट्स'[18], जहाँ से इस शब्द की शुरूआत मानी जाती है। भूमंडलीकरण का विस्तार समाज, राजनीति, अर्थनीति में ही नहीं, आधुनिक ज्ञान- विज्ञान, संचार और तकनीक को भी अपनी जद में समेट लेता है, जिससे उसकी कोई एक सार्वभौमिक परिभाषा नहीं दी जा सकती। कुछ विद्वानों ने इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है, जो इस प्रकार है -

1. जॉन.एच. डोनिंग के अनुसार- "भूमंडलीकरण ने विश्व पूँजीवाद को एक साथ जोड़कर 'साझा पूँजीवाद' विकसित किया, जिसने सम्पन्न वर्गों के बीच मैत्रीपूर्ण लेन-देन को बढ़ावा दिया।"[19]
2. टेरी रतनेन के अनुसार "भूमंडलीकरण एक प्रक्रिया है, जिसमें विश्वभर के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संबंधों को वक्त और स्थान से अलग प्रोत्साहन मिलता है।"[20]
3. कमल नयन काबरा लिखते हैं कि-"भूमंडलीकरण को पूर्ण या पूर्णप्रायः घटना या प्रवृति न समझकर एक लगातार चालू प्रक्रिया अथवा परिवर्तनों की दिशा मानना ज्यादा वाजिब हो सकता है।"[21]..."वास्तव में भूमंडलीकरण की मंशा सारी दुनिया को एक मंडी में तब्दील कर देना है, एक ऐसी दुनिया जो मंडी मात्र नहीं है, उसका संचालन भी मंडी की आंतरिक ताकतों द्वारा, सामाजिक वैश्विक जीवन के हर अन्य पक्ष को गौण और मंडी का पिछलग्गू बनाकर किया

[18] https://en.wikipedia.org/wiki/Theodore_Levitt

[19] "I believe Globalization is requiring the adoption of new form of capitalism-which I have called alliance capitalis...its success depends upon the harmonious interaction between the wealth creating constituents in society." John.H.Dunning: Globalization, Technology and Trade in 21ist Century, Part 1, Page.76

[20] "Globalization is a process in which worldwide economic, political, cultural and social relations have become increasingly mediated across time and space." Terhi Ratanen: The media and Globalization, p.8

[21] काबरा कमल नयन: भूमंडलीकरण विचार, नीतियाँ और विकल्प, पृ. 52

जाता है।"[22] इस तरह भूमंडलीकरण एक अनवरत् चलती रहने वाली आर्थिक संकल्पना है, जिसके केन्द्र में बाज़ार है।

4. अभय कुमार दुबे के अनुसार "भूमंडलीकरण एक ऐसा व्यामोह है जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक पूँजीवादी साम्राज्यवाद के रूप में विकसित होता दिखाई दे रहा है।" सम्पूर्ण दुनिया को एक घर मानकर सभी मनुष्यों को उसका भाग समझे जाने की उद्दात्त परम्परा भारतीय संस्कृति में रही है, इसलिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे कवि-चिंतक 'विश्व मानववाद' की संकल्पना प्रस्तुत करते हैं। संस्कृत की प्राचीन उक्ति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भी उल्लेख भूमंडलीकरण के देशी विचारक जहाँ-तहाँ करते रहते हैं , पर वास्तविक रूप से भूमंडलीकरण 'ग्लोबल गाँव के देवताओं' का सम्पूर्ण विश्व में पूँजी निर्माण के लिए स्वैच्छिक अबाध् विचरण ज्यादा प्रतीत होता है। भूमंडलीकरण अपने मूल में भूमंडीकरण हो जाता है जहाँ दुनिया सिर्फ़ खरीदने बेचने का 'प्लेटफार्म' है।

1.1.5 भूमंडलीकरण का स्वरूप

भूमंडलीकरण के साथ वैश्वीकरण, उदारीकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, अंतर्राष्ट्रीयकरण जैसी अवधारणाओं का अस्तित्व सामने आया। उक्त सभी अवधारणाओं का प्रयोग 1990 के आसपास हुए वैश्विक परिवर्तनों को चिन्हित करने के लिए किया जाता है, फिर भी ये सभी शब्द एक दूसरे से कुछ न कुछ अलग अर्थ या भाव लिए हुए है। जहाँ वैश्वीकरण में आर्थिक प्रयोजन के लिए राष्ट्रीय सीमाओं के विलोपन का भाव समाहित है, वहीं उदारीकरण सरकारी तौर पर व्यापार हेतु लागू राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय नियमों और प्रतिबंधों में ढील दिये जाने की माँग करता है। पश्चिमीकरण पश्चिमी देशों को आदर्श मानकर पूरी दुनिया में उनके सांस्कृतिक मूल्यों को अपनाये जाने का भाव व्यक्त करता है। यह बात अलग है कि इसमें एक संस्कृति के दूसरी पर हावी होने की घातक परिकल्पना भी छिपी हुई है। आधुनिकीकरण विश्व में होने वाले नित नये अनुसंधानों का प्रभाव परिलक्षित करता है, जिसका लाभ भी ज्यादातर विकसित राष्ट्रों को मिलता है। अंतर्राष्ट्रीयकरण देशों के बीच परस्पर होने वाले अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधों और संधियों को दर्शाता है।

भूमंडलीकरण को अमरीकीकरण के पर्याय के रूप में रेखांकित करते हुए हेनरी किसिंजर लिखते हैं कि "भूमंडलीकरण वास्तव में अमरीका की प्रभुत्त्वपूर्ण भूमिका का दूसरा नाम है।"[23] इस प्रक्रिया में 'विश्व बैंक', 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' और 'विश्व व्यापार संगठन' की भूमिका महत्वपूर्ण है। जहाँ 'एक देश

[22] काबरा कमल नयन : भूमंडलीकरण विचार, नीतियाँ और विकल्प, पृ. 18

[23] उपाध्याय रमेश : साहित्य और भूमंडलीय यथार्थ, पृ. 166

एक वोट' की नीति की जगह पूँजीगत अंशदान और तुलनात्मक आर्थिक शक्ति के आधार पर वोट देने की शक्ति तय होती है, इसलिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में अध्यक्ष पद की नियुक्ति ही नहीं, अपितु नीतिनियंता भी अमेरिका ही है।

मिशेल चोसडुवस्की जैसे अर्थशास्त्री 'ग्लोबलाइजेशन' को पूँजीवादी देशों का षड्यंत्र मानते है-'वैश्वीकरण कोई सहज-स्वाभाविक प्रक्रिया न होकर संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन व अन्य कुछ धनी देशों व उनके द्वारा पालित-पोषित अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक जैसे अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों का षड्यंत्र मात्र है ।' न्यूयार्क टाइम्स के संपादक एल. फ्रीडमैन के शब्दों में-"हम अमेरिकी गतिशील विश्व के समर्थक है, खुले बाज़ार के पैरोकार हैं और उच्च तकनीक के पुजारी हैं। हम अपने मूल्यों और 'पिज्जा हट' दोनों का विस्तार चाहते है । हम चाहते है कि विश्व हमारे नेतृत्व में रहे, और लोकतात्रिक और पूँजीवादी बने, प्रत्येक पात्र में वेबसाइट हो, प्रत्येक होठों पर पेप्सी हो, प्रत्येक कंप्यूटर में माइक्रोसॉफ्ट विंडोज हो।"[24]

इतिहासकार एरिक हाब्सवॉम भूमंडलीकरण को कोई अंतिम सत्य नहीं मानते है । उनके अनुसार "भूमंडलीकरण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और इसमें कोई संदेह नहीं है कि पिछले कुछ वर्षों से इसमें अभूतपूर्व तेजी आई है, लेकिन यह एक स्थायी और अनवरत् रूपांतरण की प्रक्रिया है। इसलिए यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि रूपांतरण की इस प्रक्रिया में किस चरण पर पहुंचकर भूमंडलीकरण विश्राम लेगा अथवा इसका अंतिम गंतव्य क्या होगा।"[25] इसी कड़ी में वे आगे कहते हैं कि "भूमंडलीकरण कोई ऐसी सार्वभौमिक प्रक्रिया नहीं है जो मानवीय क्रिया के सभी क्षेत्रों में समान रूप से सक्रिय होती है।,,,भूमंडलीकरण आर्थिक अवरोधों से अधिक तकनीकी अवरोधों को हटाने पर आधारित है । यह समय और दूरी को समाप्त करना चाहता है।"[26]

यह सही है कि आर्थिक अवरोध तो भूमंडलीकरण के प्रथम और द्वितीय चरण में ही काफी हद तक खत्म किये जा चुके थे, पर भूमंडलीकरण के इस चरण में जिस बात पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया, वह था इसका तकनीकी पक्ष। इस तकनीकी पक्ष सबसे बेहतरीन उदाहरण है-मौसमी आधारित फलों की बाध्यता का खत्म होना और उत्पादन का विकेन्द्रीकरण। अब आपको हर तरह का फल, हर जगह बिना मौसमी सीजन के मिल सकता है। पहले की तरह किसी कार निर्माता को किसी एक देश में

[24] थामस एल फ्रीडमैन : ए मेनीफेस्टो फॉर द फास्ट वर्ल्ड, द न्यूयार्क टाइम्स मैगजीन, मार्च 28, 1999

[25] ऐरिक जे. हॉब्सबॉम : इतिहास, राजनीति और संस्कृति, (अनुवाद-रामकीर्ति शुक्ल), पृ, सं. 497

[26] ऐरिक जे. हॉब्सबॉम : इतिहास, राजनीति और संस्कृति, पूर्वोक्त पृ, सं. 500

कार फैक्ट्री लगाने की आवश्यकता नहीं रह गई। दुनिया के बहुतेरे देशों की उसमें भूमिका होती है, किसी एक जगह की विषम परिस्थिति उसे कार उत्पादन से रोक नहीं सकती है।

थॉमस. एल. फ्रीडमैन दुनिया के सिकुड़ते जाने और उसके अमानवीय रूप को रेखांकित करते है- 'भूमंडलीकरण विश्व में वित्त (मौद्रिक) बाज़ार, राष्ट्रों और विकसित तकनीक का ऐसा मिला जुला रूप है जिसने विश्व के देशों को तूफानी गति से एक-दूसरे के अत्यंत करीब लाकर खड़ा कर दिया है। पर यह अपने चाल-चरित्र में न तो लोकतांत्रिक है और न ही मानवीय। यह मनुष्यता के सामान्य नियमों की अवहेलना करता है। भूमंडलीकरण एक ऐसी दुनिया में उत्पादों तक लोगों की ऊपर से दिखने वाली कल्याणकारी पहुँच की गारंटी देता है, जो स्वभाव से ही असमान और ऊँचे-नीचे धरातल वाली है। इसलिए भूमंडलीकरण अपने चरम विकास में भी लोकतांत्रिक नहीं हो सकता है।'

विश्व के महान क्रान्तिकारी फिदेल कास्त्रो के अनुसार-"हमारे विचार से भूमंडलीकरण किसी की सनक नहीं है। यह किसी का आविष्कार नहीं है। भूमंडलीकरण इतिहास का नियम है। यह उत्पादक शक्तियों के विकास का परिणाम है। यह कोई नई चीज नहीं है। यह पहले भी होता रहा है। अब इसमें नई बात यह है कि यह नवउदारवादी भूमंडलीकरण है जो दुनिया के सारे देशों को व्यक्तिगत संपत्ति में बदल देना चाहता है। इसके पीछे साम्राज्यवादी है, जिनका सरगना है अमरीका।...हमारे देशों को इस नवउदारवादी भूमंडलीकरण के विरूद्ध एकजुट होना होगा।...भूमंडलीकरण ऐसी प्रक्रिया है जिसको पलटा नहीं जा सकता, लेकिन बदला जा सकता है। अतः हमें सवाल उठाना चाहिए- कैसा भूमंडलीकरण ? अर्थात भूमंडलीकरण पूँजीवादी ही क्यों ? समाजवादी क्यों नहीं ?"[27]

भूमंडलीकरण के अमानवीय स्वरूप को अनेक विद्वानों ने रेखांकित किया है। कुछ विचारक मानते है कि 'मौजूदा भूमंडलीकरण साम्राज्यवाद का एक नया और सोलह कला अवतार है।' भूमंडलीकरण जिस पूँजीवादी प्रक्रिया को जन्म देता है उसमें राष्ट्रीय सरकारें जनहित के कल्याणकारी कदम उठाने में असमर्थ होती है। मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं के ऊपर पूँजी की सत्ता स्थापित हो जाती है, जिसमें पूँजी मानवता का दम घोंट देती है। दुनिया में बाज़ार का सिक्का चलता है, उसी की भाषा में बात होती है, उसी के नियम लागू होते है। गरीब और पिछड़े देश अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार नियमों की शर्तों में बंधकर अमीर और शक्तिशाली देशों के यहाँ अपनी संप्रभुता गिरवी रखने को मजबूर हो जाते है। देश राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गुलामी की बेड़ियों में जकड़ जाता है। भूमंडलीकरण के पक्षधर विकास हेतु इसका समर्थन करते है। सवाल है कैसा विकास, किसका विकास और किसके लिए विकास? विकास का मानदंड भी भूमंडलीकरण के पक्षधर और विरोधियों के एक जैसे नहीं है।

[27] उपाध्याय रमेश : सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (सं.) जबाव है समाजवादी भूमंडलीकरण- फिदेल कास्त्रो पृ. 25-29

प्रथम पक्ष आर्थिक संवृद्धि दर अर्थात प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि को विकास मानता है, जबकि विरोधी पक्ष के लिए गरीबी, असमानता एवं बेरोजगारी दर विकास का पैमाना है।

ऐसा मानना कि भूमंडलीकरण सारी दुनिया को 'संयुक्त राज्य' बना देगा या उसकी प्रतिकृति बना देगा। यह सिर्फ़ धोखा ही है। भूमंडलीकरण में विकास असंतुलित होता है, वह देशों के मध्य ही नहीं, देश के अंदर भी असंतुलित विकास को जन्म देता है। भूमंडलीकरण पहले उपभोक्ता या क्रेता के रूप में लोगों को अलग करता है। जो लोग उपभोक्ता नहीं है, उनका यहाँ कोई काम नहीं है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य को नागरिक के सिंहासन से उतारकर उपभोक्ता की कुर्सी पर ला बिठाया। इसमें उसने उपभोक्ता हितों की जगह अपने व्यापारिक लाभ को तरजीह दी। यह उन लोगों को जो रोजगार के क्षेत्र में अपनी योग्यता तो रखते हैं, पर श्रम के बाज़ार में अगर उनकी माँग नहीं है, तो उन्हें रोजगार से वंचित भी कर देता है। बाज़ार की माँग पर योग्यता का मूल्यांकन भी इस भूमंडलीकरण की एक समस्या है।

भूमंडलीकरण द्वारा किया गया बहिष्कार आबादी के बड़े भाग को मूलभूत मानवीय आवश्यकताओं से दूर ही नहीं करता, अपितु अमीर लोगों के उपभोग और जीवन शैली के तौर तरीकों का व्यापक प्रदर्शन करता है। ऐसे में निम्न वर्ग भी उपभोक्तावादी संस्कृति को अपनाने के लिए विवश होता है, और जब वह उपभोक्तावाद के हवाई स्वर्ग का आनंद नहीं ले पाता तो कुंठा और एकाकीपन का शिकार हो जाता है। कुछ लोग इस स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए शॉर्टकट अपनाते है। अवैध हिंसा, ड्रग्स, अपराध का रास्ता अपनाते है, तो दूसरे कुछ लोग नृजातीय पहचान, उग्र सांस्कृतिक राष्ट्रवाद या धार्मिक कट्टरता को अपनाकर इसे अस्वीकार करने का प्रयास करते है।

पूँजीवाद समर्थक तर्क देते हैं कि अगर आर्थिक संवृद्धि दर को बढ़ाया जाये तो रोजगार सृजन अपने आप हो जायेगा, पर ऐसा नहीं है क्योंकि पूँजीवाद की रूचि रोजगार पैदा करने में नहीं होती, यहाँ पूँजी खर्च करने के लिए न होकर संचय के लिए होती है। पूँजीवादी व्यवस्था में राज्य के कल्याणकारी कार्यों को अनुत्पादक बताकर धन की बर्बादी घोषित किया गया और सरकारों ने भी अपने आर्थिक क्रियाकलाप पूँजीपतियों को सुविधा उपलब्ध कराने तक सीमित कर दिए। पूँजीवाद की घुट्टी पिये हुए विचारक सरकारों पर दबाव बनाते है कि वह सार्वजनिक खर्चों में कटौती करें। वे थोड़े लोगों को आर्थिक स्वास्थ्य का लाभ उपलब्ध करवाते हैं और ज्यादातर को मितव्यता का पाठ पढ़ाते है। एक सर्वसमावेशी वास्तविक विकास और निजी पूँजी के विकास एवं संचयन पर आधारित संवृद्धि दरों का कोई सीधा अंतर्संबंध नहीं है। फिर भी चाहे माओ का चीन हो या गांधी का भारत, सभी कोकाकोला की बोतल में डुबकी लगाने को ही विकास का पर्याय मान चुके है ?

आज के दौर में भूमंडलीकरण का प्रचार-प्रसार सार्वदेशिकता के रूप में किया जा रहा है। मशीनी और तकनीकी संसाधनों के बढ़ते वर्चस्व के बीच उपभोक्तावाद हावी हो रहा है, पर क्या बाज़ार लोकतंत्र का विकल्प हो सकता है ? भूमंडलीकरण के समर्थकों ने यह भ्रम फैलाने की पुरजोर कोशिश की, कि इससे देश के नागरिकों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी और देश आर्थिक समृद्धि के पथ पर आगे बढ़ेगा, लेकिन यह पूर्ण सच्चाई नहीं है।

निष्कर्षः-

भूमंडलीकरण के संबंध में पूँजीवाद के समर्थक और विरोधी परस्पर विपरीत विचार रखते हैं। पूँजीवाद के समर्थक इसे विश्व में सामंजस्य को बढ़ावा देने वाला, परस्पर प्रगति के लिए आवश्यक और एकमात्र विकल्प मानते हैं, वहीं दूसरा पक्ष मानता है कि यह सिर्फ़ बाजारीकरण है, जिसके चलते विषमता बढ़ी है। भूमंडलीकरण के संबंध में उक्त दावों की सत्यता जानने हेतु न सिर्फ़ इसके फायदे और नुकसान का मूल्यांकन करना होगा, अपितु इसकी भावी दिशा को भी समझना होगा। विश्व के गरीब और विकासशील देशों पर भूमंडलीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है ? उनकी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में भूमंडलीकरण की क्या भूमिका रही है? प्रचलित ऐतिहासिक धरोहर को बचाने, पर्यावरणीय समस्याओं को सुलझाने, समाज में बढ़ती आर्थिक खाईं को पाटने और सभी देशों में परस्पर बराबरी के अहसास को बनाये रखने में भूमंडलीकरण की क्या भूमिका रही है? इन समस्त प्रश्नों के आलोक में भूमंडलीकरण का स्वरूप समझा जा सकता है।

भूमंडलीकरण ने सामाजिक संबंधों को विश्वव्यापी रूप देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। दूर स्थित स्थानीयताओं को जोड़ने-तोड़ने का काम भूमंडलीकरण ने किया है और बहुत हद तक उनके बीच चल रहे घटनाक्रमों को सामने रखा है। 'अरब स्प्रिंग'[28] और 'इस्लामिक स्टेट'[29] का फार्मूला इसका एक उदाहरण है। भूमंडलीकरण में वैश्विक संस्कृतियों के बीच सामंजस्य या बराबरी की बात नहीं की जाती, वहां किसी एक को स्थापित किया जाता है। चूंकि भूमंडलीकरण की प्रवृति को अमरीकी नेतृत्व मिला, इसलिए इस दौर की हर चीज में अमरीकीकरण का भाव मिलता है। चाहे वह भाषा हो या

[28] मध्य एवं पश्चिमी एशिया से लेकर उत्तरी अफ्रीका में 2010 से एक आंदोलन शुरू हुआ, तानाशही के खात्में, लोकतंत्र की स्थापना, मानवाधिकारों को लागू करने और राजनीतिक भ्रष्टाचार और बेरोजगारी के खिलाफ़ धरना, प्रदर्शन और रैलियों की अनवरत प्रक्रिया शुरू हुई, जिसे अरब स्प्रिंग कहा गया। ट्यूनिशिया से शुरू होने वाला यह आंदोलन थोड़े समय में ही अल्जीरिया, मिश्र, जॉर्डन, यमन से बड़कर बहरीन, सीरिया, सूडान, कुवैत, मोरक्को, इजरायल तक फैल गया। फलस्वरूप कई सरकारों का तख्तापलट गया, तो बहुत सी सरकारों को सुधार के लिए मजबूर होना पड़ा।

[29] इस्लामिक स्टेट (इस्लामिक स्टेट ऑफ इराक एंड अल शाम) एक चरमपंथी जिहादी समूह है, जिसकी शुरूआत अप्रेल 2013 में हुई। दुनिया के बहुत से देशों के इस्लामी चरमपंथी युवाओं की सक्रिय भूमिका और खाड़ी देशों के सहयोग से क्षेत्रीय अशांति और अस्थिरता का माहौल बनाने में इस संगठन की बड़ी भूमिका है।

संस्कृति, दर्शन हो या विज्ञान, अमरीकीकरण सारे विश्व को अपने शिकंजे में जकड़ रहा है। अमरीकी मुद्रा डॉलर ही विश्व मुद्रा के रूप में स्थापित है।

भूमंडलीकरण ने एक अलग ध्रुवीकरण को जन्म दिया। गरीब और अविकसित देशों की स्वायत्ता पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने पूर्णतया कब्जा कर लिया। वहाँ की राजनीतिक असहमतियों और सामाजिक-सांस्कृतिक दायरों के असंतोष को दरकिनार कर दिया गया, किन्तु धनी देशों की स्थिति इससे उलट रही, वहाँ राष्ट्र-राज्य उतना कमजोर नहीं पड़ा। आज भी आयात प्रतिबंध उनकी नीतियों का हिस्सा है। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुराष्ट्रीय कंपनियां अधिक मुनाफे के लालच में अविकसित-गरीब देशों पर हावी हो गई। इन देशों में राज्य संस्थाओं का स्थान बाज़ार की ताकतों ने ले लिया और वहाँ भूमंडलीय पूँजीवाद की पदचाप नवउपनिवेशवाद के रूप में सुनाई देने लगी। उदारीकरण और निजीकरण की नीतियाँ लोकतांत्रिक हितों और सार्वजनिकता के खिलाफ़ जाने लगी। उच्च-निम्न वर्गों के बीच की खाई और अधिक गहरी होने लगी।

यह सही है कि भूमंडलीकरण ने विश्व में लोगों की जीवन प्रत्याशा दर को बढ़ाया, विकासशील देशों के व्यक्ति तक वह ज्ञान पहुंचाया, जो 100 साल पहले किसी समृद्ध देश के किसी व्यक्ति के पास नहीं था। भूमंडलीकरण ने जिस संचार तकनीक को फैलाया, उसी का प्रयोग करते हुए विश्व के कोने-कोने में काम करने वाले कार्यकर्ताओं ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर दबाव बनाकर अंतर्राष्ट्रीय खनन संधि[30] पर 1997 तक 121 देशों को हस्ताक्षर करने पर मजबूर किया। इससे खानों में काम कर रहे मासूम बच्चों के अपंग होने की संभावनाओं को कम किया गया। इसी भूमंडलीकरण का परिणाम था, जिसमें अल्प विकसित देशों में सिंचाई परियोजनायें विकसित की, और शिक्षा की अनेक परियोजनाएँ चलाकर दूर-दराज के गावों में भी साक्षरता की ज्योति जलाई।

जो लोग भूमंडलीकरण की निंदा करते है वे इन तथ्यों को नकारते है, पर इसके समर्थकों का दृष्टिकोण तो और भी अधिक असंतुलित है। वे गरीबी हटाने और विकास लाने के लिए भूमंडलीकरण को एकमात्र विकल्प मानते है, परन्तु वास्तविकता में भूमंडलीकरण विश्व के ज्यादातर लोगों को वह लाभ नहीं दे पाया, जिसकी उन्हें उम्मीद थी। भूमंडलीकरण ने मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं के ऊपर पूँजी की सत्ता स्थापित कर दी। इसमें पूँजी मानव समाज पर हावी होकर मानवता का दम घोंट देती है। मनुष्यता पीछे छूट जाती है, जनकल्याण को तिलांजलि देनी पड़ती है। दुनिया में बाज़ार का सिक्का चलता है, उसी की भाषा में बात होती है। उसी के नियम स्थापित होते है। भूमंडलीय पूँजीवाद के पैरोकारों ने अपने खिलाफ़ होने वाले विद्रोहों को विकृत कर, जोड़-तोड़कर कृछ समय के लिए टाल

[30] https://en.wikipedia.org/wiki/Ottawa_Treaty

तो जरूर दिया पर आने वाली दशा क्या होगी ? यह अभी भविष्य की कोख में छिपा हुआ है। वैश्विक स्तर पर उठने वाले प्रतिरोध के ये स्वर भूमंडलीकरण की भी भावी दशा तय करेंगे।

1.2 भूमंडलीकरण और भारत

महात्मा गाँधी ने 01 जून 1921 को अपने पत्र 'यंग इंडिया' में लिखा कि "मैं नहीं चाहता कि मेरा घर चारो ओर दीवारों से घिरा रहे, न ही मैं अपनी खिडकियों को ही कसकर बन्द करना चाहता हूँ। मैं तो सभी देशों की संस्कृति का संचार अपने घर में बेरोक-टोक चाहता हूँ, पर ऐसी संस्कृति के किसी झकोरे से मेरे पाँव उखड़ जाये, यह मुझे मंजूर नहीं।"[31] निस्संदेह गाँधीजी की यह टिप्पणी भूमंडलीकरण के बारे में नहीं है, पर इसके लिखे जाने के लगभग 70 साल बाद जन्में भूमंडलीकरण के संदर्भ में यह कथन विचारणीय जरूर है।

1.2.1 भारत में भूमंडलीकरण का उदय

15 अगस्त 1947 ई. को भारत औपनिवेशिक दासता से आजाद होकर एक स्वतंत्र सम्पन्न गणराज्य के रूप में स्थापित हुआ। आजादी के नायकों ने भारत को आत्मनिर्भर आर्थिक महाशक्ति बनाने का जो सपना देखा, उसे जमीनी धरातल पर उतारने के लिए काफ़ी मशक्कत की जरूरत थी। पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता के लक्ष्य को पाने के लिए भारत ने औद्योगिक विकास के रास्ते आत्मनिर्भर होने का स्वप्न देखा। सोवियत संघ और चीन भी इसी रणनीति पर आगे बढ़ रहे थे। सीमित संसाधनों के बल पर भारत ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' की उक्ति के अनुकूल विकास के रास्ते पर आगे बढ़ना श्रेयस्कर समझा। जहाँ भारत को एक ओर औपनिवेशिक सत्ता द्वारा खोदी गई भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों की खाई को पाटना था, वहीं दूसरी ओर जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्रीयता आदि के आधार पर बंटे हुए भारतीय समाज और उसकी 'पदसोपानी' व्यवस्था निपटना था। 'पंचशील'[32] और 'गुट निरपेक्षता'[33] की नीति पर भारत आगे बढ़ ही रहा था, कि पहले चीन और फिर पाकिस्तान ने 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' और 'विश्व-बंधुत्त्व' के भारतीय विश्वास को डगमगा दिया।

भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाते हुए खुद को अमेरिका और इंग्लैण्ड की आर्थिक नीतियों के चुंगल से बहुत हद तक बचाये रखा। पूँजी और उद्योगों पर भारत ने सरकारी वर्चस्व की नीति अपनाई। उपभोक्ता वस्तुओं की जगह पूँजीगत उत्पादन पर जोर दिया गया। भारी उद्योग लगाकर बचत

[31] https://www.outlookhindi.com/story/dissent-in-the-gandhis-story-1968
[32] http://www.mea.gov.in/Uploads/PublicationDocs/191_panchsheel.pdf
[33] https://hi.wikipedia.org/wiki/

की दर को बढ़ाने की कोशिश की गई। विदेशी निवेश और व्यापार को शंका की नज़र से देखा गया। घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए बाहरी उत्पादों पर भारी कर लगाया। देशी उद्योगों को संरक्षण दिये जाने के पीछे सरकार की मंशा इनके माध्यम से गरीबी उन्मूलन और रोजगार के अवसर मुहैया कराने की थी, जिसमें वह आंशिक रूप से सफल भी रही।

भूमंडलीकरण के समर्थकों ने सरकार की संरक्षणवादी नीतियों को विकास में बाधक माना, उनके अनुसार इन नीतियों के कारण ही भारतीय उद्योगों के बीच प्रतिस्पर्धा का माहौल नहीं था। किस चीज का कितना उत्पादन होगा, किस उद्योग का संयंत्र कितना बड़ा या छोटा लगना है, श्रम शक्ति से कैसे काम लेना है, इस पर निर्णय लेने में सरकार अधिक सफल नहीं हुई। भरपूर संरक्षण मिलने के उपरांत भी इन उद्योगों ने अपनी प्रौद्योगिकी को उन्नत बनाने का कोई उपक्रम नहीं किया। उत्पादन की लागत ज्यादा होने से उत्पादों का महंगा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। ऐसी स्थिति में जिस औद्यौगिक ढ़ाचे का निर्माण हुआ, उसके उत्पाद कीमत और गुणवत्ता की दृष्टि से विश्व बाज़ार में प्रतिस्पर्धा करने में सक्षम नहीं थे।

1990 के अंत तक भारत के भुगतान असंतुलन ने बहुत गंभीर रूप धारण कर लिया। 'विदेशी मुद्रा कोष' में मुश्किल से 3 हफ्ते के आयात लायक धन बचा था। घरेलू राजकोषीय घाटा जो कि 1980-85 के दौरान सकल घरेलू उत्पाद का 6.3 प्रतिशत था, वह बढ़कर 1985-90 के दौरान 8.2 प्रतिशत पर पहुंच गया था। 1990 के दौर में खाड़ी संकट ने तेल के खर्च में व्यापक बढ़ोतरी कर दी। 1990 के अंतिम समय में रिजर्व बैंक का रिजर्व 1.2 बिलियन डॉलर का रह गया। बाहरी कर्ज मिलना संभव नहीं था, ऐसे में सरकार को अपना रिजर्व सोना भी गिरवी रखना पड़ा।' भारत ने विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से आपात सहायता की अपील की। जिस पर इन संस्थाओं ने सशर्त भारत को ऋण उपलब्ध करवाया। सरकार ने इस प्रक्रिया के तहत विदेशी व्यापार पर पूर्व में लगाये गये प्रतिबंधों व नियमों में ढ़ील दे दी। 'लाइसेंसिग प्रणाली', 'कोटा परमिट' में उदारता बरतने के साथ-साथ रूपये का अवमूल्यन किया गया। आयात नियमों को सरलीकृत करने के साथ निर्यात को प्रोत्साहित किया गया। उपभोक्ता वस्तुओं के आयात को छोड़कर अन्य वस्तुओं से आयात पर प्रतिबंध हटा लिया गया। भारतीय अर्थव्यवस्था में नई आर्थिक नीति के तहत राज्य की लोक कल्याणकारी भूमिका को कम करते हुए बाजारोन्मुख नीतियाँ बनाई गई। सार्वजनिक उपक्रम कौड़ियों के मोल निजी क्षेत्र को हस्तांतरित कर दिये गये। विदेशी पूँजी का प्रवेश भारतीय बाजारों में आसान बनाया गया।

नई निर्यात नीति के तहत रिजर्व बैंक ने 14 प्रतिशत की रियायती दर पर निर्यातकों को ऋण उपलब्ध करवाने पर जोर दिया। 1991-94 के बीच विदेशी कंपनियों के 5778 प्रस्तावों को मंजूरी दी

गई, जिनसे 22238 करोड़ रूपये का विदेशी निवेश भारतीय अर्थव्यवस्था में हुआ ।' भूमंडलीकरण के इस दौर में नेहरूवियन समाजवाद का राग कमतर होने लगा । गाँधी के 'विश्वग्राम' की अवधारणा से उलट इस नीति के तहत जिस संस्कृति का पदार्पण हुआ, वह बाज़ार की पैदा की गई बाजारू संस्कृति थी, जिसके केन्द्र में उपभोक्ता था । अतः सरकार के पास उपभोक्ता तैयार करने की नई जिम्मेदारी आ पड़ी । सीमित संसाधनों के सहारे सरकार ने एक नया उपभोक्ता वर्ग तैयार किया, जो सब-कुछ निगलने और हड़पने को तैयार था । यह सेवा क्षेत्र के बढ़ते जाने से पैदा हुआ नवीन मध्य वर्ग था ।

1.2.2 भूमंडलीकरण की स्वीकारोक्ति और भारतीय चिन्तन

प्रख्यात राजनीतिक चिन्तक प्रो. अभय कुमार दुबे अपनी पुस्तक 'भारत का भूमंडलीकरण' में भूमंडलीकरण के उदय को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि '15 अगस्त 1947 ई. एक आधुनिक राष्ट्र के साकार होने की शुरूआत थी । इस सिलसिले के केन्द्र में थी-लोकतांत्रिक राजनीति, लेकिन उस साकार राष्ट्र को निराकार करने की तरफ पहला कदम 24 जुलाई 1991 ई. को उठाया गया था । आजादी रात 12 बजे मिली थी, लेकिन उसके तकरीबन 44 साल बाद जो सुबह आई, उसने एक नई उद्योग नीति की घोषणा की और बने बनाये ढ़ाँचे को, एक ही झटके में कुछ अवशेषों में बदल दिया । इसी दिन दोपहर के बाद संसद में एक नया केन्द्रीय बजट पेश किया गया, जिसमें एक ऐसे अर्थतंत्र का आकार-प्रकार बनना शुरू हुआ, जो राजनीति से नियंत्रित होने की बजाय उसे नियंत्रित करने की इच्छा से लैस था ।...एक पल में उसकी बागडोर ऐसे हाथों में चली गई जो शुद्ध रूप से भारतीय नहीं थे । यह भारत के ग्लोबलाइजेशन यानि भूमंडलीकरण की शुरूआत थी ।'[34]

इस एक घटना की व्यापकता और प्रभावशीलता का उल्लेख करते हुए प्रो. दुबे लिखते हैं कि "भारत के राष्ट्रवादी, पूँजीपतियों से लेकर सूचना प्रौद्योगिकी के व्यवसाय से बने नये उद्योगपतियों, पब्लिक सेक्टर की चौधराहट के तले पनपे नौकरशाहों, राजनीतिक दलों और जनपक्षीय आंदोलनकारियों, पिछड़ी जातियों, महिलाओं, शहरी गरीबों और दलितों के हितों में सोचने वालों से लेकर मार्क्सवादियों, नक्सलियों, आधुनिकता के आलोचकों, नागरिक अधिकारवादियों, गाँधीवादियों और पर्यावरणवादियों तक को इस परिघटना के पक्ष-विपक्ष में अपनी राय बनानी पड़ी।"[35] मार्क्सवादियों ने जहाँ इसे 'पूँजीवाद के सर्वव्यापक फैलाव' के रूप में देखा, वहीं गाँव की जगह शहर और नागरिकों की जगह उपभोक्ताओं को वरीयता देने से गाँधीवादी भी नाखुश नज़र आये । राष्ट्रवादी विचारधारा के

[34] दुबे अभय कुमार : साकार राष्ट्र: निराकार यात्रा, भारत का भूमंडलीकरण, पृ. 21
[35] वही : पूर्वोक्त पृ. 23

झंडाबरदार भी सत्ता प्रतिष्ठानों और प्राधिकारों के बहुर्राष्ट्रीय उद्यमों के अधीन चले जाने की आशंका से कम दुखी नहीं थे। भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया को आर्थिक सुधार का नाम दिया गया।

मंडल और कमंडल की राजनीति के बीच प्रधानमंत्री नरसिंह राव और वित्तमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने 'चलो या मरो' की दशा प्रस्तुत करते हुए उदारीकरण की राह प्रस्तुत की। प्रधानमंत्री पी. वी. नरसिंह राव ने अपने व्यक्तव्य में कहा कि- 'आर्थिक सुधारों के अल्पकालिक प्रभाव से डरकर अगर हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे, तो दीर्घकालीन परिणाम भयावह होंगे।' एक कड़वी दवाई के रूप में भारतीय जनमानस को बेहतर स्वास्थ्य का हवाला देते हुए गटकने को मजबूर किया गया। व्यापारी वर्ग के लिए यह अमृत के समान फलीभूत हुआ। 'कलकत्ता पत्र' के प्रकाशक अवीक सरकार ने व्यंग्यात्मक लहजे में चुटकी लेते हुए लिखा कि 'नरसिंह राव 1991 में जुरासिक पार्क से आए और गौतम बुद्ध के बाद सबसे बड़े क्रान्तिकारी बन गये।'[36] रिलायंस के अनिल अंबानी ने जहाँ इसे 'आर्थिक सुधार से बढ़कर क्रान्ति'[37] का दर्जा दिया, वहीं महाराष्ट्र के किसान नेता शरद जोशी ने इसे 'दूसरी आजादी'[38] घोषित किया। लेखक और विचारक अरूण शौरी को इसमें '50 के दशक से पूर्व की संभावना'[39] नज़र आई।

1.2.3 भूमंडलीकरण से प्रभावित वर्ग और विमर्श

भूमंडलीकरण के अंतर्गत जीवन के हर क्षेत्र में व्यापक बदलाव देखने को मिला। भूमंडलीकरण ने देश की आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाली महिलाओं, देश का आधा रोजगार उपलब्ध करने वाले कृषि क्षेत्र के साथ, सामाजिक रूप से निम्न समझी जाने वाली दलित जातियों को प्रमुख रूप से प्रभावित किया। रोटी, कपड़ा और मकान के साथ शिक्षा और स्वास्थ्य के संबंध में सरकारों की भूमिका और जबावदेही में फ़र्क साफ नज़र आने लगा। सरकारों ने अघोषित रूप से इनसे पल्ला झाड़ लिया। सांस्कृतिक स्तर पर होने वाला परिवर्तन भी स्वाभाविक न होकर पाश्चात्य देशों से आयातित था। हिन्दी भाषा और साहित्य में चिन्हित परिवर्तन को रेखांकित करने के साथ

---

[36] "Narasimha Rao came out of Jurassic park in 1991 to become the biggest revolutionary in India since Gautama Buddha," says Aveek Sarkar , The Calcutta publisher , with a mischievous smile "but he doesn't realize it !", Gurcharan Das : India Unbound (from independence to the global information age), penguin books, p.242

[37] "It is not economic reform, it is a revolution!" Anil Ambani, Gurcharan Das p.242

[38] "It is our second Independence. In 1947 we only got our political Independence; we struggled another forty four years before we finally won our economic independence in 1991." Sharad Joshi, Gurcharan Das p.242

[39] "Today we have the same sense of possibilities that existed in the early fifties." Arun Shourie, Gurcharn Das p.242

भूमंडलीकरण से प्रभावित प्रमुख क्षेत्रों को उदाहरण के तौर पर देखने का प्रयास मैंने किया है, जो इस प्रकार है-

1.2.3.1 भूमंडलीकरण और अस्मिता विमर्श

भूमंडलीय पूँजीवाद ने बहुत सी नई अस्मिताओं को उभारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत में परंपरागत रूप से चली आ रही सामंतवादी व्यवस्था और ब्राह्मणवादी संस्कृति को ध्वस्त करने में भूमंडलीकरण के योगदान को कमतर करके नहीं आंका जा सकता, पर हकीकत यह भी है कि इसने अपने खिलाफ़ खड़ी होने वाली प्रतिरोध की ताकतों को एकजुट होने से रोकने के लिए कईं फर्जी अस्मिताओं को भी खड़ा किया । हिन्दी क्षेत्र और हिन्दी भाषा के साहित्य में स्त्री, दलित और आदिवासी अस्मिता की चर्चा प्रमुख रूप से की जाती है । भूमंडलीकरण के संदर्भ में उक्त तीनों अस्मिताओं को समझना आवश्यक है-

भूमंडलीकरण और स्त्री अस्मिता

भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति कमोवेश दोयम दर्जे की रही है । सामंती-पितृसत्तात्मक व्यवस्था की चक्की में पिसी हुई स्त्री को भूमंडलीकरण ने नए अवसर-नई संभावनायें प्रदान की। जिस स्त्री विमर्श की अनुगूंज साहित्य से लेकर राजनीति, अर्थतंत्र से लेकर सत्ता के प्रशासनिक तंत्र और सामाजिक व्यवस्था के ताने बाने में सुनाई दे रही है, उसकी गति को बढ़ाने में भूमंडलीकरण के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। बैंकिंग, वाणिज्य, विपणन जैसे क्षेत्रों के साथ-साथ साहित्य, राजनीति और खेलकूद में भी महिलायें अपनी मजबूत दावेदारी पेश करने के साथ नित नई ऊँचाईयों को छू रही है। अरुंधती भट्टाचार्य, चंदा कोचर, शिखा शर्मा, किरण मजूमदार शॉ, चित्रा रामकृष्ण, सुमित्रा महाजन, निरुपमा राव, किरण बेदी, मेधा पाटेकर, बरखा दत्त , सायना नेहवाल के साथ फिल्म जगत की बहुत सी अभिनेत्रियां आज की सशक्त स्त्रियों के उदाहरण हैं । भूमंडलीकरण की सफलता के रूप में इन महिलाओं के अतिरिक्त उन महिलाओं को भी प्रस्तुत किया जाता है, जिनकी चमक-दमक के सहारे बाज़ार सिगरेट-तम्बाकू ही नहीं, टायर सीमेंट तक बेच डालता है। यहाँ भूमंडलीकरण महिला को एक बिकाऊ उत्पाद की भांति इस्तेमाल करता है। विडंबना तो यह है कि ग्लैमर और धन के आकर्षण में अपनी स्वतंत्रता, सम्मान और गरिमा खोने को आतुर इन स्त्री छवियों में न तो किसी प्रकार की आत्मग्लानि है और न ही किसी प्रकार का अपराध बोध। इसका कारण यह है कि ये उस उपभोक्तावादी संस्कृति की पैदाइश है, जहाँ नारी देह के बिना किसी आयोजन का कोई प्रयोजन नहीं है।

भूमंडलीकरण के खाद-पानी से पनपे स्त्री-विमर्श ने स्त्री की सत्ता, स्वतंत्रता और गरिमा के सवाल को स्त्री की देह से जोड़कर देखा है। स्त्री सौन्दर्य को फैशन परेड़ो और सौन्दर्य प्रतियोगिताओं तक सीमित कर दिया है। ऐसे में नग्नता भी फैशन का पर्याय बन गई है। जिससे ऐसा लगता है कि मानो 'भोग और अंग प्रदर्शन ही नारी मुक्ति का पर्याय है, और इसी उन्मुक्त भोग में वर्तमान आधुनिकता की चरम अभिव्यक्ति है। बहुर्राष्ट्रीय कंपनियों द्वारा परोसी गई इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने पितृसत्तात्मक चरित्र को एक नये रूप में पेश कर दिया है। हिन्दी लेखक गोविन्द चातक लिखते हैं कि "नग्न लोग पहले भी रहते थे, पर नग्नता व्यवसाय नहीं था। साधु संत नग्न या अर्द्धनग्न रहते आये हैं। गाँवों में लोग अधोवस्त्र से काम चलाते हैं, माताएँ बच्चों को खुलेआम स्तनपान कराती हैं, पर आज चेतना विकृत हो गई है।"[40] विज्ञापनों, फिल्मों, गीतों, टी.वी. सीरियलों में स्त्री देह को जिस कलात्मक छल के साथ प्रस्तुत किया जाता है वह स्त्री की गरिमा के अनुकूल तो बिल्कुल नहीं है।

महात्मा गाँधी ने कहा था कि 'महिलायें जितनी शिक्षा प्राप्त करेंगी, उसी मात्रा में महिलाओं को अपनी शक्ति का आभास होगा। स्वभाविक रूप से वे उन असमानताओं का विरोध करेंगी, जो उन्हें सहन करनी पड़ रही है।' उक्त कथन से दो बातें स्पष्ट होती है, पहली शिक्षा का प्रसार महिला सशक्तिकरण हेतु जरूरी है और दूसरी यह कि शिक्षित स्त्री अपने प्रति होने वाले भेदभाव का विरोध कर सकती है। भूमंडलीकरण के दौर में जिस 'पावर वूमेन' का चेहरा हमारे सामने प्रस्तुत होता है उसके संबंध में एक सर्वेक्षण में जो आकड़े प्रस्तुत किए है, वे भयावह हैं। इसके अनुसार '80 फीसदी महिलायें मानती है कि भारतीय दफ्तरों में यौन शोषण होता है। 19 फीसदी महिला मानती है कि उन्होंने इसे भुगता है। 53 फीसदी का कहना है कि काम में पुरुषों और महिलाओं को बराबर के अधिकार नहीं मिलते।'

भूमंडलीकरण के इस गौरव गान में उन घरेलू महिलाओं के अदृश्य काम की उपेक्षा हुई, जिनका सकल घरेलू उत्पाद में लगभग एक-तिहाई योगदान है। ऐसी महिलायें जो खेत खलिहान में दिन-रात जुटी रहती है और घर भी संभालती है, कल-कारखानों में काम करने वाली वे महिलायें, जिन्हें उचित पारिश्रमिक भी नहीं मिलता या फिर वे महिलायें जो गरीबी और जहालतपूर्ण जीवन व्यतीत करती हुई, दो वक्त की रोटी का जुगाड़ कर अपना परिवार पाल रही हैं, उनके लिए भूमंडलीकरण की प्रासंगिकता नगण्य ही समझी जानी चाहिए। भूमंडलीकृत मीडिया उन महिलाओं में दिलचस्पी नहीं लेता है जो छोटे स्तर पर सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात कर रही है। उसकी नज़र उन बोल्ड एबं ब्यूटीफुल महिलाओं पर

[40] चातक डॉ. गोविन्द : पर्यावरण, परंपरा और अपसंस्कृति, पृ. 167

है, जिसका मुख्यधारा के महिला जगत से कोई लेना देना नहीं है। अगर स्त्री मुक्ति का अर्थ नारी के वस्तुरूप में प्रस्तुति से मुक्ति है, तो फिलहाल यह कहना मुश्किल है।

(ब) दलित और आदिवासी विमर्श

'दलित विमर्श की वैचारिकी और उसकी राष्ट्रीय समस्यायें आदिवासी विमर्श से भिन्न है। दलित विमर्श का सीधा संबंध हिंदू धर्मसत्ता और वर्चस्व की राजनीति से है। इसलिए दलित साहित्य ने वर्ण, जाति, अस्पृश्यता, अपमान और आर्थिक विषमता को अपने विमर्श में व्यापकता से उकेरा है। आदिवासी साहित्य विमर्श जीवन की समस्याएं भाषा, क्षेत्र और सांस्कृतिक विभिन्नताएं लिए हुए है।' भारतीय शासन व्यवस्था के शिकार जितने दलित है, उतने आदिवासी भी है। दोनों का वर्ग शत्रु एक ही है, फिर भी नई आर्थिक नीति और भूमंडलीकरण के संबंध में दलित और आदिवासी विमर्शकारों की राय बिल्कुल भिन्न है।

प्रो.गंगासहाय मीणा दलित और आदिवासी अस्मिता विमर्श के मूल अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि-"भूमंडलीकरण और इसके उपादानों ने जाति-आधारित पेशों से मुक्ति दिलाने में मदद की है और इस प्रकार जाति व्यवस्था को तोड़ने में सहायक का काम कर रहा है। इसलिए दलित साहित्य उसके प्रति नरम रुख अपनाता दिख रहा है। वहीं दूसरी तरफ भूमंडलीकरण दुनियाभर में आदिवासियों का जीवन तबाह कर रहा है। इसलिए यह आदिवासी साहित्य में सबसे बड़ी समस्या और चुनौती के रूप में सामने आता है।"[41] दलित और आदिवासी विमर्शकार के बीच भूमंडलीय पूँजीवाद की समझ के अंतर को स्पष्ट करते हुए अविनाश कुमार सिंह अपने लेख 'भाषा, राष्ट्रीयता और आदिवासी सवाल' में लिखते हैं कि-"आज का दलित विमर्शकार अपने दुःख का अंत पूँजीवाद में देख रहा है। आदिवासी विमर्श तो जल, जंगल और जमीन और इसी के तईं आदिवासी संस्कृति का विनाश इसी पूँजीवाद के बढ़ते प्रभाव में देख रहा है।"[42]

चूंकि आदिवासी समाज का संबंध पहाड़ और जंगलों से है, इसलिए मुख्यधारा से एक निश्चित दूरी पर बने रहने के कारण उसमें सवर्ण समाज का जातिभेद, लिंगभेद का असर बहुत कम रहा। उनकी अपनी सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति और भाषा संरचना है। अपनी जमीन, गृहस्थ संरचना और पहचान के मिटने का दर्द भी गुणात्मक रूप से दोनों समाजों यानि आदिवासी और दलित का अलग है, फिर भी कुछ सवाल है जिन पर ये दोनों समाज एक ही धरातल पर खड़े हैं और वे है- शोषण, अन्याय, गरीबी, भुखमरी के खिलाफ़ और बुनियादी हक, न्याय और मानवीय गरिमा के सवाल। अपने विशिष्टताबोध

[41] मीणा गंगा सहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 103

[42] मीणा गंगा सहाय : पूर्वोक्त, पृ. 103

के साथ इन बुनियादी मसलों पर एकता कायम करना बहुत जरूरी है। भूमंडलीकरण ने जिस नकारात्मकता के साथ आदिवासी जीवन को प्रभावित किया है, उतना दलित जीवन को नहीं। हिन्दी साहित्य में इन दोनों विमर्शों की उपस्थिति का तुलनात्मक मूल्यांकन अगले अध्याय में प्रस्तुत है।

1.2.3.2 भूमंडलीकरण और भारतीय किसान

भारत में सर्वाधिक रोजगार देने वाले कृषि सेक्टर की खस्ता हालत का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि कृषि और उससे जुड़े पेशों (पशुपालन, मछली, वानिकी) का सकल घरेलू उत्पाद में हिस्सा 1950-51 में 53.1 फीसदी, 1990-91 में 29.6 फीसदी और 2011-12 में मात्र 13.9 प्रतिशत में सिमट गया है। वर्ष 1992-93 में कृषि योग्य कुल जमीन 12.5 करोड़ हेक्टेयर थी, वह घटकर 2002-03 में 10.7 करोड़ हेक्टेयर रह गई। भारतीय किसान की दयनीय आर्थिक स्थिति को इससे समझा जा सकता है कि जिस फसल का वे उत्पादन करते है, उसका मूल्य वे स्वयं तय नहीं करते, बल्कि खरीददार करते हैं। सरकार जिस लागत मूल्य के आधार पर किसान की उपज का मूल्य निर्धारित करती है, उसमें किसान का कोई लाभांश नहीं जोड़ा जाता है। प्रकृति की दया पर निर्भर भारतीय किसान कभी अनावृष्टि तो कभी अतिवृष्टि से जूझता है। कभी खाद-बीजों की मंहगाई तो कभी उपज के कम मूल्य से उसका सामना होता है। ऋण के दुष्चक्र में फँसे भारतीय किसान कभी जंतर-मंतर पर मल-मूत्र खाते हुए अपना विरोध प्रदर्शन करते है, तो कभी आत्महत्या कर इस दुखमय जीवन से मुक्ति पा लेते है।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में हुए 'उरुग्वे राउण्ड कृषि समझौते'[43] ने विकासशील देशों को कृषि संबंधी नीतियों में व्यापक फेरबदल करने के लिए बाध्य किया। इसने कृषि के भूमंडलीकरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इन नीतियों के तहत कृषि क्षेत्र में सरकारी निवेश और सब्सिडी को घटाया गया। भूमंडलीकरण के दौर में कृषि लागत और समर्थन मूल्य के मद में किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी में लगातार कटौती की गई। भूमंडलीकरण के दौर में नई आर्थिक नीति के तहत बैंकों द्वारा किसानों को दिये जाने वाले सरकारी ऋण में कटौती की गई। भूमिहीन और छोटी जोत वाले किसानों हेतु ऋण की उपलब्धता घटी है। ऋण प्राप्त करने वाले किसानों में भी बैंकों और अन्य सरकारी संस्थाओं का हिस्सा 8 से 10 प्रतिशत ही है, बाकी कर्जे के लिए किसान निजी सूदखोरों, साहूकारों, आढ़तियों और खाद-

[43] https://www.oecd-ilibrary.org/docserver/9789264192188-sum-en.pdf?expires=1650714643&id=id&accname=guest&checksum=36CB68A0C463ECE3A2A8AF11F9FB5CD7

बीज व्यापारियों पर ही निर्भर होते है। कठोर शर्तों और भारी ब्याज दर पर प्राप्त इस ऋण ने किसानों की जिंदगी को नारकीय बना दिया।

खाद बीजों के क्षेत्र में मुनाफा कमाने वाली पेटेन्टधारी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के जैव परिवर्धित बीजों ने भी किसानों की हालत और अधिक दयनीय बना दी। इन बी.टी. बीजों के पीछे मूल तर्क यह है कि इससे फसलों को कीड़े-मकोड़ों के प्रकोप से बचाकर उत्पादन को सुरक्षित रखा जा सकता है। इसके लिए कंपनियां जैव तकनीक के जरिये बीजों के भीतर ही कीटनाशकों का प्रवेश करा देती है। इस तकनीक पर ज्यादातर अमेरिकन कंपनियों (मोंसेटो, डूपोन्ट, डाउ आदि) का कब्जा है। ये कंपनियां पहले तो पेटेन्ट और एकाधिकार के नाम पर बाज़ार में देशी और स्थानीय बीजों पर रोक लगवा देती है, तब इन्हीं कंपनियों के बीज खरीदना किसान की मजबूरी होती है। इन बीजों पर विशेष कीटनाशकों का असर होता है जिनका निर्माण भी यही कंपनियां करती है। इस तरह ये कंपनियां दोहरा लाभ कमाती है। इन बीजों को हर बार किसान को खरीदना होता है, जिसके चलते किसान आर्थिक रूप से कमजोर होता चला जाता है। एक ओर ये बीज भारतीय मानकों को ध्यान में रखकर नहीं बनाये गये, जिससे किसानों की फसल बर्बाद हो जाती है, वहीं दूसरी ओर इन बीजो का प्रभाव पालतू पशुओं पर भी नकारात्मक पड़ता है।

चूहों पर किये गये परीक्षणों से साबित हुआ कि जिस बी.टी. बैंगन में एनपीटी-2 जीन का प्रयोग किया गया, उससे मानव शरीर की प्रतिरोधक क्षमता और कोशिकायें खत्म हो जाती है। बी.टी. बैंगन का प्रयोग करने वाले मनुष्य पर एंटीबायोटिक दवाओं का असर नहीं होता, फिर भी मानवीय स्वास्थ्य पर पड़ने वाले कुप्रभावों को नजरंदाज करते हुए इन्हें बढ़ावा दिया गया। इससे उड़ने वाली रंग बिरंगी तितलियों के समाप्त हो जाने का खतरा है। फिर सवाल खड़ा होता है कि इतना सब होने के बावजूद क्यों जैव परिवर्धित बीजों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है? इसके पीछे जैव बीजों का कारोबार करने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों का हाथ है।

1.2.3.3 भूमंडलीकरण और भारतीय शिक्षा व्यवस्था

भारत की जनसंख्या का लगभग आधा भाग 25 वर्ष से कम आयु वर्ग का है। इस युवा वर्ग को अगर उचित मौका मिले तो वह भारत की आर्थिक-सामाजिक तकदीर बदल सकता है, पर यह तभी संभव है, जब उसके स्वास्थ्य और शिक्षा में बेहतर निवेश हो। औद्योगिक-वाणिज्यिक लॉबी संगठन एसोचौम के मुताबिक भारत में 2015 तक शिक्षा का बाज़ार 50 अरब डालर का था। रियल स्टेट के बाद सबसे अधिक विज्ञापन प्रदाता ये शैक्षणिक संस्थान ही है।

भारत में भूमंडलीकरण की शुरूआत से पूर्व ही 1986 ई. में नई शिक्षा नीति का पदार्पण हुआ। इस शिक्षा नीति में जहाँ एक ओर समान स्कूल प्रणाली की जगह बहु-परती शिक्षा व्यवस्था स्थापित करने की घोषणा की गई, वहीं दूसरी ओर 8 साल की प्रारंभिक अनिवार्य शिक्षा के विचार को नकार दिया गया । इसने नवें दशक के बाद वैश्विक बाज़ार की ताकतों को शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण हेतु जमीन तैयार कर दी। कोठारी आयोग द्वारा प्रारंभिक से लेकर उच्च शिक्षा में सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत खर्च करने की अनुशंसा की थी, परन्तु 1991 की आर्थिक नीति के बाद लगातार इस खर्च में कटौती की गई । इसके लिए समतामूलक गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने में शासक वर्ग की राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी ही नहीं, अपितु वैश्विक बाज़ार की ताकतों द्वारा शिक्षण क्षेत्र में आधिपत्य स्थापित करने की लालसा भी उतनी ही जिम्मेदार थी।

वैश्विक बाज़ार की इस रणनीति के तहत शिक्षा का उद्देश्य समग्र सामाजिक विकास की जगह साक्षरता संबंधी कौशल में बदल गया। हर तबके के लिए उसकी हैसियत के अनुसार अलग गुणवत्ता की शैक्षणिक परत बिछाई गई। नियमित शिक्षकों की जगह योग्यता हीन, प्रशिक्षण विहीन, कम बेतन पाने वाले पैरा शिक्षकों ने ले ली । शैक्षणिक नीति संसद और विधानसभा की जगह विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में बनने लगी। शिक्षा विश्व बाज़ार का हिस्सा बनकर बेचने और खरीदने की वस्तु बन गई। इससे शिक्षा का निजीकरण और बाजारीकरण ही नहीं हुआ, अपितु निहित ज्ञान का चरित्र भी तोड़ा-मरोड़ा गया ।भूमंडलीकरण के दौर में शैक्षणिक व्यवस्था में होने वाले बदलाव और शिक्षा के बेसिक चरित्र को रेखांकित करते हुए रमेश दवे लिखते हैं- "स्लैट चाहे कंप्यूटर के परदे में बदल जाए, किताबें इंटरनेट और बेबसाइटों का रूप धारण कर लें और शिक्षक चाहे दूरदर्शन या प्रौद्योगिकी संस्थानों के एंकर्स में बदल जायें और मशीन, मशीन की सृष्टा भले हो जाए, मगर दृष्टा नहीं हो सकती। इसलिए मनुष्य की भूमिका दृष्टि और दृष्टा की है, विचार और ज्ञान की भूमिका है।"[44] भंमंडलीकरण शिक्षा व्यवस्था के इस बदलते रूप पर केन्द्रित है क्योंकि यह बाज़ार के लिए हितकर है। भूमंडलीकरण के दौर में ज्ञान के सृजन, संप्रेषण और वितरण पर बाज़ार की ताकतों का नियंत्रण हो गया।

आज भी अधिकांश विकसित देशों में शिक्षा सार्वजनिक उपक्रम है। अगर उच्च शिक्षा की बात करें तो अमरीका में 76 प्रतिशत, फ्रांस में 88 प्रतिशत, रूस में 89 प्रतिशत, कनाड़ा में 100 प्रतिशत और जर्मनी में 100 प्रतिशत विद्यार्थी सार्वजनिक धन पर चलने वाली संस्थाओं में पढ़ते है, पर इन्हीं ताकतों ने भारत जैसे प्रगतिशील देशों को बाज़ार आधारित 'च्वाइस' का भ्रामक पाठ पढ़ाया। इसी

[44] दवे रमेश : वागर्थ, सितम्बर 2001, 21 वीं शती का भविष्य विशेषांक, पृ. 101

तथाकथित चयन के हक का भ्रम फैलाकर देश के शासक वर्ग ने दो-तिहाई जनता को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा से वंचित कर दिया।

1.2.3.4 भूमंडलीकरण की संस्कृति

भूमंडलीकरण के दौर में राष्ट्रीय संस्कृति के बरक्स जहाँ एक ओर बाज़ार नियंत्रित उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर बहुसंख्यकों की राजनीति पर आधारित कट्टर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया गया। संस्कृति पर बाज़ारवाद के प्रभाव को रेखांकित करते हुए रामशरण जोशी लिखते हैं कि "आज चूंकि भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण का दौर है, तमाम मूल्यों, आदर्शों और मान्यताओं का बाजारीकरण हो चुका है।"[45] भूमंडलीकरण के नकारात्मक पहलुओं, अमानवीय पक्षों की ओर इशारा करते हुए कुमुद शर्मा लिखती है कि "भूमंडलीकरण इस अर्थ में डरावना है कि यह मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं के ऊपर पूँजी की सत्ता स्थापित कर देता है, जहाँ मनुष्यता पीछे छूट जाती है, जनकल्याण को तिलांजलि देनी पड़ती है और दुनिया में बाज़ार का सिक्का चलता है।"[46]

वैश्विक स्तर पर तीसरी दुनिया के देशों में इस बाजारीकरण को बढ़ावा देकर पाश्चात्य संस्कृति के वर्चस्व को स्थापित करने में वहाँ के नव धनाढ्य मध्यम वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। भूमंडलीकरण के दौर में जहाँ एक ओर पश्चिमी संस्कृति की चकाचौंध से भारतीय जनमानस प्रभावित हो रहा है, वहीं दूसरी ओर पारंपरिक संस्कृति के छूटते जाने की पीड़ा भी है। इसलिए हम देखते हैं कि एक ओर फास्ट फूड, उन्नत तकनीक और अनियंत्रित भोग की ओर भारतीय जनमानस में लालसा बढ़ रही है, वहीं दूसरी ओर इसका प्रतिकार करने के लिए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को खड़ा करने का असफल प्रयास किया जा रहा है। पेप्सी का मुकाबला गोमूत्र से, पर्यावरण की समस्याओं का हल हवनकुंड के माध्यम से, राष्ट्ररक्षा का उपाय यज्ञ के माध्यम से, पश्चिम की भौतिक उन्नति का जबाव प्राचीन आध्यात्मिक उन्नति से देने के पीछे जो निहितार्थ है, उसके केन्द्र में सांस्कृतिक श्रेष्ठता साबित कर अपनी अस्मिता को कायम रखने का भाव है।

बहुभाषिक और सांस्कृतिक विविधताओं से परिपूर्ण भारत में जिस 'पॉपुलर कल्चर' का विकास हो रहा है, वह हमारी विविधता में एकता वाली सतरंगी संस्कृति को मिटाने वाला है। जिस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को इसका मुकावला करने के लिए खड़ा किया जा रहा है, वह भी भारतीय एकता और इसकी

[45] जोशी रामशरण : थाप, पृ. 193

[46] शर्मा कुमुद : भूमंडलीकरण और मीडिया, पृ. 7

साझी संस्कृति को बनाये रखने में घातक ही नहीं है, अपितु लोकतंत्र के लिए खतरा भी है। संघ परिवार जिस राष्ट्रवाद की ओर कदम बढ़ा रहा है, उसमें अल्पसंख्यकों, दलितों और आदिवासियों के अस्तित्व को खतरा है । अंतत फासीवादी विचारधारा केन्द्रित इस राष्ट्रवाद की परिणति बहुसंख्यकों की तानाशाही के अलावा कुछ भी नहीं है।

संस्कृति को अभिव्यक्त करने में सिनेमा की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है । वर्तमान हिन्दी सिनेमा भूमंडलीकरण के चारों मापदंडों- अत्यधिक उत्पादन, बेशुमार पूँजी, तकनीक और वैश्विक माँग को बनाये रखने वाले उपभोक्ता की कसौटी पर खरा उतरता है। कागज के फूल, मुगले आज़म, सद्गति, शतरंज के खिलाड़ी और हमलोग जैसे टी.वी. सीरियलों के माध्यम से शुरू होने वाला हिंदी सिनेमा आकाश की अनंत ऊँचाईयों को छू रहा है । भारतीय सिनेमा उद्योग प्रसारित होने वाली फिल्मों की संख्या के आधार पर दुनिया के शीर्ष पायदान पर स्थित है। भारत में हर साल लगभग 27000 फिल्में और हजारों डॉक्यूमेंट्री शॉर्ट फिल्में प्रसारित होती है। आज भारतीय सिनेमा का एक अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार है। भारतीय फिल्में अब भारत ही नहीं, इंग्लैण्ड और अमेरिका में देखी जाने वाली शीर्ष दस फिल्मों अपनी जगह बनाने लगी है।

1990 के बाद अंतर्राष्ट्रीय और घरेलू, दोनों जगह सिनेमा को लेकर बड़ा बदलाव देखने को मिलता है । अब फिल्में पूर्णतया व्यवसाय केन्द्रित होने लगी है । भव्यता, विदेशी लोकेशंस, अत्याधुनिक वाहनों और उपकरणों के साथ उत्तेजक दृश्यों की भरमार इस दौर की फिल्मों की पहचान है । इस दौर की हिन्दी फिल्मों में अंग्रेजी फिल्मों की भांति सामाजिक खुलापन दिखाया गया । यह खुलापन कथ्य और शिल्प दोनों स्तर पर था। सहजीवन, समलैंगिकता, सेक्स, विवाहेत्तर संबंध और प्यार की नई परिभाषा गढ़ने वाली इन फिल्मों ने अपनी बोल्डनेस की नवीन ऊँचाईयों को छूने के साथ सांस्कृतिक रूप से काफ़ी प्रदूषण फैलाया है।

1.2.3.5 भूमंडलीकरण: हिन्दी भाषा और साहित्य

भूमंडलीकरण के दौर में भाषाई समृद्धता की कसौटी किसी भाषा के उल्लेखनीय इतिहास, साहित्य अथवा संस्कृति की उज्जवल परंपरा में नहीं होकर, वर्तमान परिवेश में उपयोगिता और अनुकूलन पर केन्द्रित है। इस दृष्टि से हिन्दी की स्थिति बहुत सुदृढ़ है। भूमंडलीकरण के फलस्वरूप हिन्दी पर पड़ने वाला प्रभाव हिन्दी के लिए लाभकारी है या नहीं, इस संबंध में कुछ प्रमुख हिन्दी विद्वानों के विचारों का उल्लेख करना समाचीन होगा।

1. प्रो. नामवर सिंह के अनुसार- "अंग्रेजी या अन्य किसी भाषा का वर्चस्व चाहे जितना बढ़ जाए, लेकिन हिन्दी की जड़ें इतनी गहरी है कि उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ने जा रहा है।"[47]
2. अशोक चक्रधर के अनुसार –"बोलने और सुनने के मामले में तो हिन्दी विकास कर रही है, पर लिखने-पढ़ने में पिछड़ रही है।"[48]
3. मैत्रेयी पुष्पा के अनुसार –"अब जबकि हम ग्लोबल दौर में जी रहे है, अंग्रेजी के प्रति लोगों का मोह और भी मजबूत हुआ है। हिंदी का विकास करना है तो हमें उदारता दिखानी होगी, वरना अंग्रेजी के आगे हिन्दी कहीं भी नहीं ठहर पाऐगी।"[49]
4. काशीनाथ सिंह के अनुसार – "अंग्रेजी भाषा का संबंध पूँजी से है, धन से है, बहुराष्ट्रीय कंपनियों से है, अमेरिका और यूरोप से है, जबकि हिन्दी का संबंध गाँव से है, बेरोजगारी से है, जहालत और गरीबी से है। हिन्दी की यही नियति है, हिन्दी लाचारों और बेचारों की भाषा बनकर रह गई है, जबकि अंग्रेजी साहबों और हुक्मरानों की भाषा के तौर पर प्रतिष्ठापित है फिर भी मैं कहता हूँ कि हिंदी का बाल भी बांका नहीं होने वाला है, अंग्रेजी उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाएगी। हिन्दी तो यहाँ कि संस्कृति में, यहाँ की आबो-हवा में पूरी तरह रची बसी है, इसे यहाँ की संस्कृति से जुदा कर पाना आसान नहीं है।"[50]
5. लीलाधर मंडलोई के अनुसार – "भारत में भी अगर हिंदी को बचाना है तो इसे न केवल शासकीय कामकाज में महत्त्व दिया जाए, बल्कि इसे रोजी रोटी से भी जोड़ा जाये।"[51]
6. जीतेन्द्र श्रीवास्तव के अनुसार –"यह जरूर है कि हिन्दी वैज्ञानिक विषयों की भाषा अभी तक नहीं बन पाई है। अकादमिक स्तर पर जितना काम होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया, इसलिए इस ओर ध्यान देना चाहिए।"[52]
7. डॉ. परमानंद श्रीवास्तव के अनुसार – "मैं किसी विदेशी भाषा का विरोधी नहीं हूँ, लेकिन अपनी भाषा के पक्ष में अपने समाज को जाग्रत देखना चाहता हूँ।"[53]

उक्त विचारों के आलोक में हम पाते हैं कि अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व को किसी न किसी रूप में हिन्दी विद्वान स्वीकार करते है। हिन्दी कथाकार श्रीलाल शुक्ल मानते है कि हमने भूमंडलीकरण से पूर्व ही अंग्रेजी की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया था-"अंग्रेजी के पक्ष में हिन्दी और दूसरी भाषाओं ने अपने

---

[47] http://www.xn--i1b6eva4bg7abcl.xn--h2brj9c/2013/03/blog-post_264.html
[48] वही : पूर्वोक्त हिंदी पर जानी-मानी हस्तियों के विचार
[49] वही : पूर्वोक्त, हिंदी पर जानी-मानी हस्तियों के विचार
[50] वही : पूर्वोक्त, हिंदी पर जानी-मानी हस्तियों के विचार
[51] वही : पूर्वोक्त, हिंदी पर जानी-मानी हस्तियों के विचार
[52] वही : पूर्वोक्त, हिंदी पर जानी-मानी हस्तियों के विचार
[53] वही : पूर्वोक्त, हिंदी पर जानी-मानी हस्तियों के विचार

हथियार बाज़ारवाद का आतंक कायम होने से पूर्व ही डाल दिए थे। जिन कारणों से भारतवर्ष के अंग्रेजी तबके ने अंग्रेजी के वर्चस्व को ग्रहण किया था उसका बाज़ारवाद से सीधा कोई ताल्लुक नहीं था।"[54] इस तरह शुक्लजी मानते है कि अंग्रेजी की ओर झुकाव अंग्रेजी साम्राज्यवाद के फलस्वरूप आया था और भूमंडलीकरण के दौर में इसे बढ़ावा दिया गया। जहाँ पहले अंग्रेजी तौर तरीके और अंग्रेजी भाषा का प्रयोग समृद्ध वर्ग तक ही सीमित था, वहीं आज ग्रामीण अंचल भी इसकी पूर्ण गिरफ्त में है।

भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी भाषा का संपर्क भाषा के रूप में विस्तार हुआ। हिन्दी का प्रयोग बाज़ार ने अपने विस्तार हेतु किया और इस प्रक्रिया में हिन्दी को भी फायदा हुआ। सुधीश पचौरी का मानना है कि "हमारी भाषा बदल रही है। वह एक बोलचाल की, विज्ञापन की भाषा बन रही है।...यह एक क्रान्तिकारी बदलाव है। एक नई हिन्दी बन रही है, जो सचमुच की सम्पर्क भाषा बन रही है। यह बाज़ार की भाषा है, इसके अपने फलितार्थ है।"[55] हिन्दी जाति की सांस्कृतिक विरासत होने के कारण हिन्दी बनी तो रहेगी, पर इसे रोजगार और ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनाने पर बल देना होगा। आज का भूमंडलीय साम्राज्यवाद हिन्दी ही नहीं, दुनिया की प्रत्येक भाषा का प्रयोग अपने फैलाव के लिए करता है, पर वह उन भाषाओं के माध्यम से अपनी भाषा बोलता है। यानि वह भाषा, जो साम्राज्यवाद की भाषा है, बाज़ार की भाषा है, अमरीकी संस्कृति की भाषा है, इसका आशय अंग्रेजी मात्र के प्रयोग से न होकर उस विचारधारा के प्रचार-प्रसार से है, जिसके माध्यम से सारी दुनिया को वह अपना उपनिवेश बनाने पर आमादा है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और उसके कुछ समय बाद तक भाषायी साम्राज्यवाद का मुकाबला करने हेतु 'अंग्रेजी हटाओ, हिन्दी लाओ' का नारा दिया गया और इसकी प्रेरणा अतीत के किसी काल्पनिक स्वर्णयुग से ली गई। अपने चरित्र में पुनरूत्थानवादी होने के कारण इसकी परिणति 'हिन्दी-हिन्दू-हिंदुस्तान' में होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इससे साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद को बल मिला और आज भी देश की एकता-अखण्डता के लिए यह विचार आत्मघाती सिद्ध हो रहा है। इसलिए जरूरी है कि भाषाई साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए किसी एक भाषा की जगह सभी भाषाओं के फलने फूलने की बात की जाये। हमारी भाषाई नीति किसी एक भाषा के पक्ष में न होकर प्रत्येक भाषा-बोली के पक्ष में होनी चाहिए। हम अंग्रेजी की जगह अगर हिन्दी को रखेंगे, तो अहिन्दी भाषी लोगों के प्रति अन्याय होगा। भारतीय आदिवासियों के संदर्भ में तो यह आवश्यक है कि उनकी भाषाओं को अधिकाधिक संरक्षण देकर न केवल उनके अस्तित्व को बचायें, वरन् उनमें निहित ज्ञान को भी संरक्षित करें।

---

[54] जोशी रामशरण : मीडिया और बाजारवाद, (सं.), पृ. 103

[55] पचौरी सुधीश : मीडिया और साहित्य, पृ. 28

भूमंडलीकृत संचार माध्यमों ने हिन्दी के स्वरूप में परिवर्तन करने के साथ उसकी सामर्थ्य शक्ति में आशातीत वृद्धि की है। संचार माध्यमों के साथ हिन्दी जनभाषा का रूप ग्रहण करती जा रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हिन्दी दुनिया में तीसरी सर्वाधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा थी, वहीं आज उसका स्थान दूसरा है। यूनेस्को की रिपोर्ट के अनुसार संप्रति विश्व के लगभग 137 देशों में हिन्दी भाषा ने न केवल अपनी उपस्थिति दर्ज़ की है, अपितु आज हिन्दी भाषियों की तादाद लगभग 100 करोड़ तक पहुंच चुकी है। इसका श्रेय बहुत हद तक भूमंडलीकृत दौर के संचार माध्यमों को जाता है। अपनी लचीली प्रकृति में हिन्दी ने न केवल अनेक क्षेत्रीय रूपों का विकास किया, अपितु बाज़ार और जनता के बीच संवाद स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाज़ार और हिन्दी की इस अनुकूलता का बड़ा उदाहरण यह है कि पिछले कुछ सालों में ही संचार माध्यमों पर हिन्दी विज्ञापनों ने 70 फीसदी उछाल दर्ज़ की। पर सवाल है कि क्या इतनी सामर्थ्य पाकर भी हिन्दी अंग्रेजी के भाषाई साम्राज्यवाद से मुकाबला कर पाई है?

भूमंडलीकरण के दौर में साहित्यकारों की जिम्मेदारी बढ़ी है, जहाँ एक ओर उन्हें अपसंस्कृति के खतरे से निपटना है, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक कठमुल्लापन के आग्रही अति राष्ट्रवादियों के प्रति भी प्रतिरोध की संस्कृति विकसित करनी है। अपने एक लेख में निरंजन सहाय लिखते है कि "मीडिया के दहाड़ते आतंक और सत्ता प्रतिष्ठानों की शह, बुद्धिजीवियों की चुप्पी और पुनरुत्थानवादी ताकतों के आश्चर्यजनक तांडव के बीच, जिस प्रतिरोध की संस्कृति की आवश्यकता है, उससे साहित्य के सामाजिक सरोकारों की दिशा तय होगी।"[56] भूमंडलीकरण के दौर में साहित्यकार के सामने आने वाली चुनौती को रेखांकित करते हुए प्रफुल्ल कोलख्यान लिखते हैं कि "उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण का 'तिरगुन फाँस' कर में लिए डोलने वाले बाज़ारवाद की माया मोहिनी से बचते हुए, जन लेखक का दायित्व निभाने के लिए अपने को तैयार करने की चुनौती सृजनशीलता के सामने है।"[57]

यह सही है कि बाज़ार ने साहित्य को भी बाजारू वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया है। साहित्य के रचयिता अब पाठकों की माँग को ध्यान में रखकर बाज़ार केन्द्रित साहित्य रच रहे है। यह भूमंडलीकरण की देन है कि चेतन भगत, रवीन्द्र सिंह जैसे 'घासलेटी' साहित्यकार और कुमार विश्वास जैसे मंचीय कवि लाखों-करोड़ों कमा रहे है। इसका प्रभाव हिन्दी लेखकों के साथ साथ हिन्दी प्रकाशकों पर भी पड़ा है। साहित्य अब पैसा बनाने का माध्यम हो गया है। प्रसिद्ध मलयाली कवि के. सच्चिदानंदन लिखते है कि "बाज़ार का दबाव लेखक को बाज़ार के सुर में सुर मिलाने, नुस्खों और

[56] सहाय निरंजन: मधुमती, फरवरी 2003, पृ. 52

[57] कोलख्यान प्रफुल्ल: साहित्य, समाज और जनतंत्र, 2003 पृ. 45

फार्मुलों का अनुसरण करने, इच्छाओं को संतुष्ट करने, रूप और विषय वस्तु में प्रयोग से बचाने, दक्षता को नकारने और बाज़ार में जो सफल है उसे दुहराते जाने का न्यौता देता है।"[58]

साहित्य चिंतक रमेश उपाध्याय लिखते हैं कि "आज हमारा देश एक नये ढ़ंग से पराधीन हो रहा है, इसलिए हमें नये ढ़ंग से राष्ट्रीय मुक्ति और स्वाधीनता की लड़ाई लड़नी है। जनता को बाँटने और आपस में लड़ाने के प्रयासों का विरोध तथा उसे सचेत् और संगठित बनाने के प्रयासों का समर्थन करने वाला साहित्य ही सच्चा राष्ट्रवादी साहित्य होगा। साहित्य को व्यक्तिवादी, कलावादी, अभिजनवादी प्रवतियों से बचते हुए उन विभ्रमों से मुक्त होना होगा, जो साहित्य की स्वायत्ता, समाज-निरपेक्षता और प्रयोजनहीनता के कला सिद्धान्त के जरिये फैलाये जाते हैं। आज के साहित्यकारों को सभी अनुशासनों की सहायता से प्राप्त वैश्विक बोध से अपने राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण करना होगा। अंग्रेजी में लिखना और विश्व बाज़ार में बिकना भी कोई पाप नहीं है। ध्यान रखने की बात केवल यह है कि साहित्य पण्य् वस्तु बनकर न रह जाये, बल्कि अपने समय और समाज में अपनी जरूरी भूमिका निभाये।"[59] साहित्य के मापदंड भी वही होने चाहिए जो कि जनवादी सरोकारों के साथ राष्ट्रीय आंदोलन के समय थे। आज भी साहित्य को समाज के वंचित वर्ग के साथ खड़ा होना होगा, क्योंकि साहित्य व्यापक जन के हृदय का संचित प्रतिबिंब तभी बन सकता है।

निष्कर्ष:-

भारत और दुनियाभर में भूमंडलीकरण की शुरूआत आर्थिक विकास प्रक्रिया के एक चरण के रूप में हुई। शीतयुद्ध में सोवियत संघ की पराजय और पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार अमेरिका की जीत के साथ भारत के आर्थिक संकट ने भूमंडलीकरण की राह आसान कर दी। भूमंडलीकरण ने मुक्त बाज़ारवादी व्यवस्था को लागू कर आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्र-राज्य की भूमिका सीमित कर दी। निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों के तहत राष्ट्रीय उद्योग-धंधों का निजीकरण किया गया। किसानों और गरीब तबकों को दी जाने वाली सब्सिडी पर अंकुश लगाया गया, उन्हें राष्ट्रीय बोझ समझा जाने लगा। स्वास्थ्य और शिक्षा को बाज़ार के हवाले किया जाने लगा। उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों ने देश में अमीर और गरीब की खाई को चौड़ा कर दिया। भूमंडलीकरण ने दलित, स्त्री और आदिवासी जैसे अस्मिता विमर्शों को जन्म दिया। सांस्कृतिक स्तर पर उपभोक्ता संस्कृति ने सभी सांस्कृतिक अस्मिताओं को ढ़क लिया। भाषा और साहित्य पर बाज़ार का असर साफ-साफ दिखाई देने लगा।

---

[58] के. सच्चिदानंदन : 21 वीं शती का भविष्य विशेषांक, वागर्थ, सितम्बर 2001पृ. 88

[59] उपाध्याय रमेश : साहित्य और भूमंडलीय यथार्थ, 2008 , पृ. 16-17

कुल मिलाकर भूमंडलीकरण वर्तमान दौर की एक ऐसी आर्थिक संकल्पना है, जिसने भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संरचना को बदलकर रख दिया है। बाज़ारवादी व्यवस्था और उसकी उपभोक्ता संस्कृति ने हमारे जीवन दर्शन, जीवन जीने के तरीके के साथ हमारी सोच और संस्कारों में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया है।

1.3 भूमंडलीकरण और आदिवासी

भारत एक ऐसा बहुलतावादी देश है, जिसमें विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, नस्ल, जाति एवं रंग-रूप से भिन्न लोग अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक-भाषायी अस्मिता के साथ शांतिपूर्ण - सहअस्तित्व में विश्वास करते हुए लम्बे समय से साथ रहते आ रहे हैं। आज के भारत में इन्हें एकसूत्रता में बांधे रखने का काम भारतीय संविधान करता है। इसी संविधान के अंतर्गत अपनी विशिष्ट छवि गढ़ने वाली 705 जनजातियों[60] को अनुसूचित कर 'अनुसूचित जनजाति' का नाम दिया गया। 'आदिवासी' शब्द अनुसूचित जनजातियों द्वारा अपनी पहचान को सार्वभौमिक रूप में प्रस्तुत करने वाला शब्द है। यह शब्द कोई विधिसम्मत अर्थ नहीं रखता है, फिर भी अकादमिक जगत की बहसों में समाज विज्ञानियों द्वारा प्रचलित एवं जनजातियों के अतीत को रेखांकित करने और उनके गर्व को अभिव्यंजित करने वाला शब्द है।

प्रो. गंगासहाय मीणा 'आदिवासी' शब्द की व्यापकता और 'जनजाति' शब्द से उसके पार्थक्य को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि 'आदिवासी' देश के मूलनिवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है।...अनुसूचित जनजाति केवल आरक्षण या नौकरियों में हिस्सेदारी के संदर्भ में प्रासंगिक हो सकता है, पर आदिवासी एकता और संघर्षों की परंपरा का बोध नहीं करा पाता। 'आदिवासी' शब्द उस चेतना का प्रतीक है, जिसकी मदद से उन्होंने अपने दुःख दर्दों को समझा है और जो उन्हें मुक्ति की राह में आगे बढ़ा रही है। 'आदिवासी' पद में एक आंदोलनधर्मिता है, जो 'जनजाति' में नहीं है।" [61] संविधान सभा के सदस्य और आदिवासी प्रतिनिधि जयपाल सिंह मुंडा ने आदिवासियों कोभारत का प्रथम नागरिक और सिंधु सभ्यता का असली उत्तराधिकारी माना। संविधान सभा में दिए एक व्यक्तव्य में उन्होंने कहा कि "मैं सभा से कहना चाहूंगा कि अगर कोई इस देश में सबसे ज्यादा दुर्व्यवहार का शिकार हुआ है, तो वह हमारे लोग हैं। पिछले छः हजार सालों से उनकी उपेक्षा हुई है और उनके साथ अपमानजनक व्यवहार किया गया है। मैं सिंधु घाटी का वंशज हूं, उसका इतिहास

[60] http://vikaspedia.in/social-welfare/scheduled-tribes-welfare/ministry-of-tribal-welfare

[61] मीणा गंगासहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, 2017, पृ. 13-22

बताता है कि आप में से अधिकांश लोग, जो यहाँ बैठे हैं, बाहरी हैं, घुसपैठिए हैं, जिनके कारण हमारे लोगों को अपनी धरती छोड़कर जंगल जाना पड़ा।"[62]

आदिवासी शोषण और संघर्ष के इतिहास से जयपाल सिंह मुंडा अनभिज्ञ नहीं थे। 16 दिसंबर 1946 को खुद नेहरू के सामने दिये उनके व्यक्तव्य से यह बात निकलकर सामने आती है-"मैं उन लाखों अज्ञात लोगों की ओर से बोलने के लिए यहाँ खड़ा हुआ हूं, जो सबसे महत्त्वपूर्ण लोग हैं, जो आजादी के अनजान लड़ाके हैं, जो भारत के मूलनिवासी है और जिनको बैकवर्ड ट्राइब्स, प्रिमिटिव ट्राइब्स, क्रिमिनल ट्राइब्स और न जाने क्या-क्या कहा जाता है। पर मुझे अपने जंगली होने पर गर्व है, क्योंकि यह वही संबोधन है जिसके द्वारा हम लोग इस देश में जाने जाते हैं।"[63] 2011की जनगणना में 'अनुसूचित जनजातियों' की कुल जनसंख्या 104.3 मिलियन थी, जो कुल भारतीय जनसंख्या का 8.6 प्रतिशत थी। यह जनसंख्या फ्रांस और ब्रिटेन से अधिक और ऑस्ट्रेलियन जनसंख्या से चार गुणा अधिक है। अगर इन्हें भारत का एक राज्य मान लिया जाये तो उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के बाद चौथा बड़ा प्रदेश होता।

1.3.1 औपनिवेशिक दासता के दौर में भारतीय आदिवासी

आजादी से पूर्व भारतीय आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था बहुत ज्यादा गतिशील नहीं थी, इसलिए सीमावर्ती क्षेत्रों और घने जंगलों में स्थित समुदाय मूल धारा के सम्पर्क से दूर होने के कारण परस्पर एक-दूसरे से बहुत ज्यादा प्रभावित नहीं थे। भारत में मुगलों की सत्ता लबें समय तक रही, पर उन्होंने भी आदिवासियों के आंतरिक मामलों में कभी दखल नहीं दिया। अंग्रेजों की नीति आदिवासियों के प्रति पूर्ववर्ती शासकों से अलग थी। आदिवासियों के बीच अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ ही आदिवासी क्षेत्रों की प्रचुर वन संपदा पर अधिकार करना उनका प्रमुख उद्देश्य था, जिसमें उन्हें कभी पूर्ण सफलता नहीं मिली। अंग्रेजों ने आदिवासियों के आंतरिक जीवन में जब भी हस्तक्षेप करने का प्रयास किया, तब उन्हें उनके कड़े विरोध का सामना करना पड़ा।

अंग्रेजों के हस्तक्षेप से पूर्व आदिवासी समुदाय राज्य की आर्थिक नीतियों से अप्रभावित रहने वाला और अपनी विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना के साथ जीवन जीने वाले एकाकी समुदाय थे। बाहरी लोगों का हस्तक्षेप इन्हें नापसंद था। भूमि और जंगल पर सामूहिक पुश्तैनी अधिकार था। कृषि और जंगली उत्पाद उनके जीवन का प्रमुख आधार रहे हैं। उन्हें जंगल से जलावन की लकड़ी, फूल, फल, पत्तियाँ, और शहद के साथ अन्य घरेलू उत्पाद, चिकित्सकीय औषधि आदि संग्रहित करने का

[62] पंकजः अश्विनी कुमार मरंड. गोमके जयपाल सिंह मुंडा, 2019 पृ. 136

[63] https://www.ndtv.com/people/a-jungli-in-the-constituent-assembly-jaipal-singh-munda-1652949

अधिकार था। प्रतिदिन की जरूरतों को जंगल सहज रूप से पूरा कर देता। जंगल से भोजन, घर बनाने की सामग्री के साथ झूम खेती के लिए जमीन भी तैयार की जाती थी। जंगल उनके पालतू जानवरों के लिए चारागाह थे। कुल मिलाकर जंगल उनके जीवन का आधार था। जंगली उत्पाद एकत्र करना और उनसे विभिन्न प्रकार की चीजें तैयार करना, शिकार करना और मछली पकड़ना आदि उनकी दिनचर्या का हिस्सा था। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों को अपने मुखिया और पंचायतों के माध्यम से पूर्ण कर लिया जाता था। ऐसे आत्मनिर्भर समाजों में जब अंग्रेजी शासन ने हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया तो उनके जीवन का ताना-बाना विखरने लगा।

1793 ई. में अंग्रेजों ने आदिवासी क्षेत्रों में स्थाई बंदोबस्त[64] की प्रणाली शुरू की। इसके माध्यम से आदिवासी क्षेत्रों में कृषि भूमि के लिए पट्टे जारी किये। आदिवासियों के लिए इसका सीधा अर्थ था, राज व्यवस्था के हस्तक्षेप को स्वीकार करना। जिसे अधिकांश आदिवासियों ने नकार दिया, फलस्वरूप आदिवासियों की परंपरागत सामुदायिक स्वामित्त्व वाली भूमि का मालिकाना हक बाहरी लोगों को देकर उन्हें जमींदार घोषित कर दिया गया। छोटा नागपुर के साथ अन्य अनुसूचित क्षेत्रों में ऐसे लोगों को जो आदिवासी न होकर पुरोहित का काम करने वाले ब्राह्मण या अंग्रेजी सेना के राजपूत कारिंदे या ईसाई मिशनरी थे, उन्हें भूमि का मालिक बना दिया गया। जिन आदिवासियों ने पट्टे लिए, उनके पास भी इसके लिए सरकार को देने के लिए पैसा नहीं था, उन्होंने वह पैसा बाहरी सूदखोर-महाजनों से भारी ब्याज पर जमीन को रेहण / गिरवी रखकर प्राप्त किया था।

आदिवासी क्षेत्रों में व्यापारियों का एक नया वर्ग उभरकर सामने आया, जिन्होंने आदिवासी क्षेत्रों में बाज़ार व्यवस्था के साथ सूदखोरी का धंधा भी शुरू कर दिया। मालिक से खेतिहर किसान बनने को मजबूर इन आदिवासियों को खेती वाली जमीन का नगद किराया देना होता था, जिसके लिए भी उन्हें सूदखोर महाजनों के सामने हाथ फैलाना पड़ा और वे उनके चुंगल में फंसते गये। संचार और यातायात के साधनों के विकास के साथ आत्मनिर्भर आदिवासी अर्थव्यवस्था दम तोड़ने लगी। जमींदारों के साथ ठेकेदारों का एक नया वर्ग आदिवासी इलाके में पनपा, जो कि खनन, बांध, सड़क-संचार, बिजली, रेल आदि क्षेत्रों से जुड़ा हुआ था। अतिरिक्त आमदनी हेतु इन्होंने आदिवासियों की पुश्तैनी जमीन को उन्हीं को किराये पर दिया गया। परंपरागत न्यायिक व्यवस्था को नई कानूनी व्यवस्था से बदल दिया गया, जिसे समझ पाने में आदिवासी सक्षम नहीं थे। नई न्यायिक व्यवस्था उनके लिए हितकर नहीं थी, क्योंकि न तो वे वकीलों की मोटी फीस दे सकते थे और न ही इतने पढ़े लिखे थे कि

[64] https://www.indiaolddays.com/permanent-settlement-of-land/

इस व्यवस्था में न्याय प्राप्त कर पाये। आदिवासी समझ से अनजान अधिकारियों और बाबूओं की फौज आदिवासी हितों को संरक्षित करने में पूर्णतया नाकाम थी।

आदिवासी क्षेत्रों में जमींदारों, ठेकेदारों, व्यापारियों, सूदखोर-महाजनों, सरकारी बाबूओं और अफसरशाही का एक ऐसा गठजोड़ तैयार हुआ, जो कि आदिवासी क्षेत्रों से किसी प्रकार जुड़ाव नहीं रखता था। इन्होंने आदिवासी क्षेत्रों को अंग्रेजी संरक्षण में पाया था। इनमें हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई के अलावा यूरोपियन भी शामिल थे। अंग्रेजी सत्ता से हाथ मिलाकर आदिवासियों के शोषण और उत्पीड़न में इन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। भूमि का किराया/लगान न चुकाने पर उन्हें जबरदस्ती बेगार कराने के साथ शारीरिक उत्पीड़न का शिकार बनाया जाता था। सूदखोरों के ब्याज चुकता न कर पाने पर अपने बाल-बच्चों को बेचने के लिए बाध्य किया जाता। सरकारी तंत्र के अफसरशाहों ने भी उनके भोलेपन का जबरदस्त फायदा उठाया। आदिवासियों ने इन बाहरी लोगों को 'दिकू' नाम से संबोधित किया।

इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने जंगलों से आदिवासियों के परम्परागत पुश्तैनी अधिकारों को छीनने के लिए वन अधिनियम-1865 लाकर आदिवासी हितों को पूर्ण रूप से अनदेखा कर दिया। अब आदिवासियों को उस वनोपज के लिए भी लगान देना पड़ रहा था, जिसका प्रयोग वे पीढ़ी दर पीढ़ी पुश्तैनी रूप से कर रहे थे। 1894 ई. के भूमि अधिग्रहण कानून ने आदिवासियों की जमीन हथियाने का रास्ता साफ कर दिया था। विकसित आधुनिक संचार व्यवस्था जैसे-टेलीग्राफ, सड़क, रेलवे आदि ने सामान्य प्रशासन की आदिवासी क्षेत्रों में पहुंच को बढ़ा दिया। सरकार ने कभी-कभार आदिवासी क्षेत्रों में होने वाले नुकसान के एवज में जो मुआवज़ा दिया, सरकारी तंत्र के भ्रष्टाचार ने उसे कभी आदिवासियों तक पहुंचने ही नहीं दिया। बाहरी 'दिकओं' से पैदा हुए खतरे को आदिवासी समझने लगे थे, इसलिए एक ओर उन्होंने विरोध के लिए विद्रोह का सहारा लिया, वहीं दूसरी ओर अपने समुदाय के भीतर सुधारात्मक आंदोलन पर बल दिया।

आजादी पूर्व के आदिवासी प्रतिरोधों को मुख्यतया तीन भागों में बांटकर देखा जा सकता है। पहला-प्रतिक्रियावादी आंदोलन, ये आंदोलन मुख्य रूप से आदिवासियों के राजनीतिक-सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने और जंगल से नियंत्रण खत्म कर देने की प्रतिक्रियास्वरूप पैदा हुए थे। द्वितीय-रूढ़ीवादी आंदोलन, जो कि आदिवासी जीवन में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के खिलाफ़ थे और तृतीय-क्रान्तिकारी आंदोलन, जो कि आदिवासियों में रूढ़िगत परंपराओं और संस्कृति में आई विकृतियों को दूर करने को लेकर थे।

1757 ई. में प्लासी के युद्ध के से लेकर 1947 ई. में आजादी मिलने तक भारत में आदिवासियों के लगभग 70 बड़े विद्रोह हुए, जिनका सामना अंग्रेजों को करना पडा़ । औपनिवेशिक शासन काल के इन विद्रोहों को दो भागों में बांटा जा सकता है, पहले भाग में शासन-सत्ता के साये में पलने वाले उत्पीड़कों के खिलाफ़ होने वाले विद्रोह है जिसमें भूस्वामी, सूदखोर, व्यापारी, ठेकेदार, राजकीय कर्मचारी और ईसाई धर्म प्रचारकों के खिलाफ़ होने वाले विद्रोह थे । दूसरे प्रकार के विद्रोह उपनिवेशवादी शासन के खिलाफ़ थे ।

औपनिवेशिक काल में होने वाले प्रमुख आदिवासी विद्रोहों में 1766 ई. में जंगल-तराई (झारखंड़) का पहाड़िया विद्रोह, 1772 में खासी विद्रोह, 1777-78 में कुकी विद्रोह, 1784 में बाबा तिलका मांझी का विद्रोह, छोटा नागपुर क्षेत्र का तमाड़ विद्रोह (1789-1832) (जो कि उक्त समय सीमा में 7 बार हुआ । अंग्रेजी सरकार की दोषपूर्ण नीतियों के खिलाफ़ होने वाले इस विद्रोह का नेतृत्व भोलानाथ सहाय और गंगनारायण सिंह ने किया । आदिवासी क्षेत्रों में घुसपैठ करने वाले 'दिकूओं' को मार भगाया गया, उनके घरों को जला दिया गया । मिदनापुर, कोलपुर, जाल्दा और सिली के लंबे भूभाग में फैले इस विद्रोह में उरांव, मुंडा, हो और कोल जैसी जनजातियों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया । सरकार ने 1832-33 में इस विद्रोह को कुचल दिया ।)1800 ई. पलामू-बिहार में चेरों का विद्रोह, 1810-18 पिंडारियों (मेव और मीणाओं) का विद्रोह, 1818 मेवाड़ के भीलों का विद्रोह, 1821 में सिंहभूम-उड़ीसा का कोल विद्रोह, 1830 में मेघालय का खासी विद्रोह, जयंतगढ़ झारखंड़ का हो विद्रोह, 1831-32 में झारखण्ड़ का कोल विद्रोह, भगत आंदोलन झारखण्ड़, खेरवाड़ का संथाल आंदोलन (1833), 1834 में पूर्वोत्तर का लुशाई विद्रोह, 1835 में पूर्वोत्तर का जयंतिया विद्रोह,1845-60 निमाड़-मध्यप्रदेश में टंट्या भील का विद्रोह, महान संथाल विद्रोह 'हूल' (1855) (इसे संथालों का सबसे बड़ा विद्रोह माना जाता है, सिद्धू-कान्हू के नेतृत्व में 'दिकू' लोगों के शोषण के खिलाफ़ 35000 संथालों का एक दल कलकत्ता के गवर्नर को चिट्ठी देने पहुंचा । ब्रिटिश अधिकारियों ने उन्हें अराजकता के लिए उकसाया, फिर सैंकड़ों संथालों को गोलियों का शिकार बनाया गया । संथालों के इस आंदोलन ने अंग्रेजों को अपनी नीति में परिवर्तन किये जाने हेतु बाध्य किया । लगभग 5000 वर्ग मील के क्षेत्र को संथाल परगना का नाम देकर उसे सामान्य प्रशासन से हटकर मान्यता दी और उसके संचालन हेतु अलग अधिकारी नियुक्त किये।) आदि[65] भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम यानि 1857 ई. की क्रान्ति से पहले हुए प्रमुख आदिवासी विद्रोह है । आदिवासियों के इन विद्रोहों को कभी भी मूलधारा के इतिहासकारों ने अपने इतिहास लेखन में जगह नहीं दी ।

[65] मीणा केदार प्रसाद : आदिवासी विद्रोह, 2018, पुस्तक के परिशिष्ट से

1857 ई. के 'गदर' में आदिवासियों ने हर संभव क्रान्तिकारियों का सहयोग किया, जिसमें पलामू-बिहार के चेरों, खरवार, बोगता आदिवासियों ने, जबलपुर मध्यप्रदेश के भीलों और गोंडों ने, मालवा-मध्यप्रदेश के भीलों और राजस्थान के भील-मीणाओं के सहयोग को भारतीय इतिहास में विस्मृत कर दिया। इसके उपरांत 1857-58 गुजरात में भीमा नाईक का भील विद्रोह, 1860-95 के मध्य छोटा-नागपुर की सरदारी लड़ाई, 1867-68 गुजरात में जोरिया भगत का आंदोलन, 1872 में मेघालय का गारो विद्रोह,1891-99 माहीकांठा-गुजरात और डूंगरपुर-राजस्थान में भील सुधार आंदोलन, 1900 में बिरसा मुंडा का विद्रोह-'उलगुलान', 1910 बस्तर क्षेत्र में गुण्डाधर का भूमकाल, 1913 में गोविन्दगिरी का विद्रोह 'धूमाल', 1914-47 झारखंड़ में ताना भगत आंदोलन, 1917-19 पूर्वोत्तर का कुकी विद्रोह, आदिवासी आंदोलन मिदनापुर (1918-24),1920-2000 के बीच झारखंड़ आंदोलन, 1922 में मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व में गरासियों और भीलों का 'एकी' आंदोलन,1922-23 देवी आंदोलन गुजरात, 1924 से 1932 के बीच जीतू संथाल का मालदा-प.बंगाल में आंदोलन, 1924 में पूर्वी राजस्थान का मीना समाज सुधार आंदोलन, 1935-50 में मैती लिपि आंदोलन (मणिपुर पूर्वोत्तर भारत), 1938 झारखंड़ में 'आदिवासी महासभा' का संघर्ष, 1939-40 में गुजरात महाराष्ट्र में सती-पति आंदोलन, 1940-41 में ओलचिकी लिपि हेतु पं. रघुनाथ मुर्मू का आंदोलन, झारखंड़, 1946 में नागा नेशनल काउंसिल का संघर्ष, नागालैण्ड, आदि 1857 की क्रान्ति के बाद और आजादी से पूर्व के प्रमुख आदिवासी विद्रोह / आंदोलन[66] है। इन विद्रोहों के मूल कारणों में स्थानीय समस्याओं, भाषा और लिपि के सवालों के साथ ब्रिटिश शासन की शोषणकारी नीतियों शामिल किया जा सकता है।

इन आदिवासी आंदोलनों और विद्रोहों का उद्देश्य 'दिकूओं' को आदिवासी क्षेत्रों से खदेड़ने का था। आदिवासी समुदायों के ये विद्रोह आत्मरक्षा में थे। अपनी भूमि पर 'दिकूओं' के अतिक्रमण के खिलाफ़, परम्परागत रूप से प्राप्त वैधानिक-सामाजिक अधिकार और रीति रिवाजों को बचाने हेतु आदिवासियों का हथियार उठाना जरूरी था। आदिवासियों ने परंपरागत हथियारों यथा- धनुष-बाण, लाठी, कुल्हाड़ियों के बल पर शत्रुओं के खिलाफ़ युद्ध छेड़ दिया, जिसमें ज्यादातर मामलों में पराजय का सामना करना पड़ा। इन आंदोलन और विद्रोहों ने अंग्रेजी सत्ता को सोचने पर मजबूर कर दिया कि आदिवासी क्षेत्रों का प्रशासन सामान्य क्षेत्रों की भांति नहीं चलाया जा सकता, इसलिए उन्हें कुछ प्रशासनिक सुधार करने हेतु बाध्य होना पड़ा। ब्रिटिश सरकार द्वारा अनुसूचित जिला अधिनियम 1874 ई. और भारत सरकार अधिनियम 1935 ई. लाकर आदिवासी क्षेत्रों की प्रशासनिक अड़चनों और आदिवासी समस्याओं को दूर करने का प्रयास किया।

[66] वही : पूर्वोक्त, आदिवासी विद्रोह. 2018

1.3.2 आजाद देश के सपने और नींव के पत्थर: भारतीय आदिवासी (1947-90 ई.)

15 अगस्त 1947 ई. को भारत औपनिवेशिक दासता से मुक्त हुआ। पं. जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने। आदिवासियों को लेकर उनका नजरिया सहानुभूतिपरक और कुछ हद तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर केन्द्रित था। 1952 ई. में पं. नेहरू ने अपने एक उद्बोधन में आदिवासी जीवन शैली की प्रशंसा करते हुए कहा, कि- 'मैं निश्चित तौर पर यह नहीं कह सकता कि जीने का कौनसा तरीका बेहतर है, हमारा या उनका। पर मैं पूरी तरह मानता हूं कि उनकी स्थिति बेहतर है और उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है।' एक अन्य अवसर पर 7 जून 1952 ई. को प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा कि -" इन सबसे हटकर एक ओर वे लोग है जो नाचते-गाते हुए जीवन का आनंद लेने की कोशिश करते हैं, ये वे लोग नहीं है, जो स्टॉक एक्सचेंज में बैठते है, एक-दूसरे पर चिल्लाते हैं और खुद को सभ्य मानते हैं।"[67] पं. जवाहर लाल नेहरू आदिवासियों को उनकी संस्कृति और जीवन शैली से काटकर अलग कर देने के पक्षधर नहीं थे। वे उन लोगों में से नहीं थे, जो आदिवासियों को म्यूजियम की वस्तु बना देना चाहते थे और ना ही उन लोगों में, जो आदिवासी क्षेत्रों के लिए सभी को खोल देने के हिमायती थे।

1955 ई. में तत्कालीन मध्य प्रदेश के बस्तर जिलें में आदिवासियों की सभा को संबोधित करते हुए पं. नेहरू कहते हैं-'आपको अपने तरीके से जीने की पूर्ण आजादी है, मैं चाहता हूं कि आप खुद तय करें कि आपको कैसे जीना है। ...आपके पुराने रीति रिवाज और आदतें अच्छी हैं। हम चाहते हैं कि उनको बनाये रखते हुए आप शिक्षित हो और देश के कल्याण में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करें।' पं. नेहरू का आदिवासियों के प्रति जो नजरिया था, वह दो सिद्धान्तों पर केन्द्रित था। पहला- सामाजिक-आर्थिक न्याय का सिद्धान्त और दूसरा राष्ट्रीय पुनर्निमाण में समानता और स्वतंत्रता के अधिकार को बनाये रखना।[68] पं. नेहरू ने गैर-आदिवासियों के लिए आदिवासी समाज को देखने-समझने का एक नजरिया पेश किया, जिसे नेहरू का 'आदिवासी पंचशील'[69] सिद्धान्त कहा जाता है। जिसके अनुसार-

1. आदिवासियों की प्रतिभा पर भरोसा करते हुए उन्हें स्वयं से विकसित होने का मौका दिया जाना चाहिए, उनकी पारंपरिक कला और संस्कृति को प्रोत्साहित करना चाहिए।
2. भूमि और जंगलों पर उनके अधिकारों का सम्मान करना चाहिए।

---

[67] http://www.balmikiprasadsingh.com/Articles/Jawahar_Lal_Nehru.pdf page no.11

[68] http://www.balmikiprasadsingh.com/Articles/Jawahar_Lal_Nehru.pdf

[69] http://www.balmikiprasadsingh.com/Articles/Jawahar_Lal_Nehru.pdf JAWAHARLAL NEHRU Centenary Volume 1989 NEHRU'S TRIBAL PHILOSOPHY

3. हमें प्रशासन चलाने और विकास के कार्य करने हेतु आदिवासियों के बीच से उन्हीं लोगों की एक टीम को प्रशिक्षित करने और बनाने की कोशिश करनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि शुरूआत में हमें बाहर से कुछ तकनीकी कर्मियों की जरूरत होगी, पर हमें और दूसरे बाहरी लोगों को जनजातीय परिक्षेत्र में लाने से बचना चाहिए।
4. हमें इन क्षेत्रों में अति प्रशासन नहीं थोपना चाहिए और ना ही योजनाओं की बहुलता से प्रभावित करने की कोशिश करनी चाहिए। आदिवासियों के अपने सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थानों के अनुरूप काम करने देना चाहिए।
5. हमें अपने परिणामों का आकलन सांख्यिकी आंकड़ों या खर्च की गई धनराशि की जगह इस बात से लगाना चाहिए कि मानव चरित्र की गुणवत्ता में कितना सुधार कर पाये है।

प्रशासन और विकास की अवधारणा में आदिवासियों के स्वनिर्णय और विवेक पर विश्वास जताने वाली पं. नेहरू की 'पंचशील नीति' गांधीवादी जीवन दर्शन के अनुरूप थी। पर इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि आदिवासी क्षेत्रों में चलने वाली विभिन्न विकास परियोजनाओं ने आदिवासी जीवन में बहुत उठापटक की है, इन परियोजनाओं में विशालकाय बांधों, पनबिजली परियोजनाओं से लेकर प्राकृतिक उत्पादों के खनन, विशाल लौह-इस्पात उद्यमों और तेल रिफाइनरी की स्थापना, सड़क और रेल मार्गों का विस्तार शामिल है। आदिवासी समाजों पर इनका व्यापक प्रभाव पड़ा।

उड़ीसा, बिहार, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश आदि में पं. नेहरू के 'आधुनिक भारत के मंदिर' आदिवासियों के भारी विस्थापन के कारण बने। आदिवासियों के लिए विस्थापन के एवज में दिया गया नगद हर्जाना नाकाफ़ी सिद्ध हुआ। आदिवासियों के हाथ में आई हुई यह नगदी कुछ समय बाद औद्योगिक कस्बों के आकर्षण में बंधकर वापिस शहर पहुंच चुकी थी। अब आदिवासियों के पास न तो नगदी रही और न ही जमीन। इस विकास ने आदिवासियों को भूमिहीन मजदूर में बदल दिया। नेहरू को आदिवासी समाज की इस दशा का भान तो था पर उनका मानना था कि 'आदिवासियों के अतीत को जानकर हमें आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर ब्रेक लगाने की जगह आदिवासियों को नैसर्गिक विकास प्रक्रिया के रास्ते आगे बढ़ाने का श्रम करना चाहिए। 'हम परिवर्तन की नदी को रोक नहीं सकते है और न ही उससे दूर खड़े रह सकते है।' इसका मतलब है कि विकास और परिवर्तन प्रक्रिया में आगे बढ़ते हुए हमें परिवर्तन की गति या गुणवत्ता को न भूलकर आदिवासियों को उनकी योग्यता के आधार पर, प्रतिभा के अनुरूप नये कौशल में पारंगत करना चाहिए।'

शायद पं. नेहरू की उक्त नीति को आदिवासियों ने खास पसंद नहीं किया, इसलिए न तो आजादी के बाद उनके असंतोष में कमी आयी और न ही उनके आंदोलन और विद्रोह की धार कुंद हुई । आजादी के कुछ समय बाद ही खरसावां (झारखंड़) में उड़ीसा राज्य निर्माण के लिए तय सीमा रेखा को आदिवासी स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे, जिसे लेकर एक आंदोलन (1948 ई.) हुआ, जिसमें पुलिस की गोलियों से 35 निहत्थे आदिवासियों की जान चली गई । 1947 में ही राजस्थान के आदिवासियों ने जरायम पेसा कानून का विरोध करना शुरू कर दिया । 1949-63 में झारखंड़ पार्टी का संघर्ष (झारखंड़ और उड़ीसा), 1950-58 के बीच खरवार आंदोलन, 1952 में हो आदिवासियों का आदि समाज आंदोलन, 1956-58 महाराष्ट्र में वारली विद्रोह, 1962-65 में महाराजा प्रवीरचंद्र भंजदेव के लिए गोंड़ो का बस्तर में विद्रोह, 1963-71 में पूर्वोत्तर का नागा आंदोलन, 1963-68 बिरसा सेवा दल का संघर्ष (झारखंड़), 1965 में राणा प्रताप सागर विस्थापन विरोधी आंदोलन (चित्तौड़गढ, राजस्थान), 1965-2000 में छत्तीसगढ़ राज्य आंदोलन, 1966-71 में मिज़ो विद्रोह, 1967 के नक्सलबाड़ी आंदोलन में संथालों की भूमिका, 1968 में बोडो आंदोलन, 1968 में बोकारो विस्थापन के खिलाफ़ आंदोलन, 1969 में चक्रधरपुर झारखंड़ में बीड़ी मजदूर आंदोलन, 1970-74 के मध्य केरल में आदिवासी संघ का आंदोलन, 1970 के बाद नक्सलवादी-माओवादी आंदोलन में आदिवासियों की भूमिका, 1973 में हिमाचल के भोटियाओं का चिपको आंदोलन और छीनो झपटो आंदोलन, 1973 में शिबू सोरेन का धनकटिया आंदोलन, 1973-2000 झारखंड़ मुक्ति मोर्चा का संघर्ष, 1973 में झारखंड का कोयलकारो आंदोलन, 1977 में सिंहभूम में कोल्हान रक्षा आंदोलन, 1978 में जंगल आंदोलन (झारखंड), मैती विद्रोह (पूर्वोत्तर), सुवर्णरेखा परियोजना का विरोध (झारखंड), 1972-85 धनबाद में कोयला खदान विरोध, मांदर गोलीकाण्ड और विरोध में आंदोलन, 1984 में तुरमाडीह यूरेनियम खदान विस्थापन के खिलाफ़ विरोध आदि[70] भूमंडलीकरण से पहले के प्रमुख आदिवासी विद्रोह है।

1.3.3 भूमंडलीकरण के दौर में भारतीय आदिवासी (1990 के बाद)

बीसवीं सदी के अंतिम दशक की शुरूआत से भारत में जिस नवउदारवादी विकास को प्रस्थापित किया, उसमें आदिवासियों को लेकर नेहरूवियन विचार को नकार दिया गया। भूमंडलीकरण के दौर में विकास की जो अवधारणा गढ़ी गई, उसमें भोगवादी विपुलता को विकास के मापदंड के रूप में देखा गया । विकास के लिए सरकारों ने बाज़ार का रास्ता लिया । भारतीय सत्ता को पाश्चात्य पूँजीवादी विचारकों ने समझाया कि बाज़ार ही मनुष्य की सारी समस्याओं का हल ही नहीं करेगा,

[70] वही : पूर्वोक्त, आदिवासी विद्रोह.2018

अपितु विकास के शिखर पर पहुंचा कर उसकी सार्वभौमिक उन्नति का माध्यम बनेगा। मार्क्सवादी विचारधारा ने हालांकि भूमंडलीकृत बाज़ार से पहले ही इस अवधारणा का खंडन कर दिया और घोषित किया कि यह व्यवस्था पूर्णतया कारगर नहीं है, पर पश्चिम की हठधर्मिता और उसके लालच ने सम्पूर्ण दुनिया को इसे जोर-शोर लागू करने को बाध्य किया।

भारत में 1990 ई. के बाद उन सभी आर्थिक नीतियों से दूरी बनाना प्रारंभ कर दिया,जो कि सामाजिक हितों की रक्षा करने के साथ मुक्त बाज़ार के प्रसार में बाधा खड़ी करती थी। बाज़ार की जरूरत के सारे प्राकृतिक-खनिज संसाधन आदिवासी इलाकों में होने से बाज़ार के हमले अलग-अलग शक्लों में आदिवासी समुदायों पर देखे जाने लगे। आदिवासी समुदायों की असहमति को दरकिनार कर बाज़ार की वैश्विक शक्तियां आज भी सरकारी संरक्षण में संवैधानिक और असंवैधानिक तरीके से सैन्य और अर्द्ध सैन्य ताकतों के बल पर उनके संसाधनों पर कब्जा करने की तिकड़म हर समय लगाये रहती है।

आदिवासी संरचना में विकास परंपरागत रूप से मनुष्य केन्द्रित नहीं रहा है, वह समष्टि के सभी अंगों-उपांगों को समाहित करता है। आदिवासी अर्थ संरचना सहअस्तित्व पर आधारित रही है। निजी संपत्ति और स्वामित्व के नहीं होने से, संसाधनों पर सबके समान हित का सिद्धान्त के कारण मालिक-मजदूर या क्रेता-विक्रेता का अस्तित्व नहीं था । उन्नीसवीं सदी के ब्रिटिश दस्तावेज एक ओर जहाँ आदिवासियों के बीच बाज़ार ले जाने की औपनिवेशिक शासन की व्याकुलता और नीतियों को दर्ज़ करते है, वहीं दूसरी ओर बाज़ार का निषेध करते हुए उससे सावधान रहने की आदिवासी सचेत्नता को दर्शाते है । बाज़ार और विकास की आधुनिक अवधारणा के खिलाफ़ आदिवासी सचेत्नता, विमर्श और संगठित संघर्ष कोई नई परिघटना नहीं है, यह वैश्वीकरण की प्राथमिक अवस्था से लेकर आज के भूमंडलीकरण की चरम अभिव्यक्ति तक सभी दौर में एक समान तीव्रता के साथ महसूस किया जा सकता है।

भूमंडलीकरण के दौर में विकास के नाम पर आदिवासी क्षेत्रों में ढ़ेर सारे प्रोजेक्ट चलाये गये। प्राकृतिक संपदा से भरपूर इन क्षेत्रों के आदिवासी समुदायों को कभी बाँध निर्माण, तो कभी पावर प्रोजेक्ट और परमाणु संयंत्रों के नाम पर बेदख़ल किया जाने लगा। बेदख़ली का विरोध करने वाले आदिवासियों को नक्सली और माओवादी घोषित कर विरोध की धार कुंद करने का कार्य सरकारी स्तर पर किया जाने लगा। यह भारतीय राज व्यवस्था के चरित्र में होने वाला अविश्वसनीय बदलाव था। इसे रेखांकित करते हुए रामशरण जोशी कहते है-"विगत दो दशकों से भारतीय राज्य के चरित्र में गुणात्मक परिवर्तन आ चुका है । यह अपने ऐतिहासिक कल्याणकारी पथ से भटक चुका है या पूर्णतः

उपभोक्तावादी, बाज़ारवादी और सुविधापूर्तिवादी (Facilitator) बन चुका है। यह प्रत्येक चीज को वैश्विक पूँजीवाद से जोड़ देना चाहता है। यह चाहता है कि जनजाति समाजों के प्राणाधार (जल, जंगल और जमीन) भी वैश्विक पूँजी से जुड़ जाएं।"[71]

आधुनिक भूमंडलीय सत्ता का उद्देश्य है कि आदिवासी भूमि, भू-भाग और प्राकृतिक संसाधनों पर अपने मालिकाना हक के दावे को छोड़कर उन्हें राजसत्ता के सुपुर्द कर दें, ताकि सत्ता उन्हें देशी-विदेशी पूँजीपति घरानों और बहुराष्ट्रीय निगमों को औने-पौने दामों में बेच सके। साथ ही आदिवासी मुख्यधारा के उस समाज में शामिल हो जाये, जो कि जाति, लिंग, धर्म और नस्ल की अवधारणा से पूर्णतया ग्रसित है। एक ऐसी सामाजिक संरचना में सबसे निचले दर्जे पर शामिल होना, जहाँ आदिवासी अपनी भाषा, संस्कृति, स्वशासन की परंपरा और रीति-रिवाजों को भुलाकर दफन कर दें, अपनी स्वायत्ता, परंपरागत व्यवस्था को छोड़ दे, क्या आदिवासियों के लिए हितकर हो सकती है? इसलिए आदिवासियों का संघर्ष महत्त्वपूर्ण ही नहीं, आवश्यक भी हो जाता है।

प्रो. वीरभारत तलवार सत्ता के चरित्र में आये बदलाव के कारणों को उजागर करते हुए बताते है कि आदिवासी क्षेत्रों की अकूत भौगोलिक संपदा उनके दुर्भाग्य का कारण है-"हिंदुस्तान में लगभग आठ करोड़ आदिवासी रहते है, हिंदुस्तान का यह सबसे अभागा समुदाय है। इस समाज का दुर्भाग्य क्या है और क्यों है? दुर्भाग्य इसलिए है कि आदिवासी उन इलाकों में रहते हैं, जहाँ धरती के नीचे बहुमूल्य संपदा है। दुनिया के बड़े महत्त्वपूर्ण खनिज, बड़ी बेशकीमती खदानें उस जमीन के नीचे हैं, जहाँ आदिवासी अपनी छोटी-मोटी झोंपड़िया बनाकर रहते हैं। ये बेशकीमती संपदा उनके दुर्भाग्य का सबसे बड़ा कारण बन गई है। उस संपदा पर दुनियाभर की बहुराष्ट्रीय कंपनियों और सरकारों की नज़र लगी हुई है। उस संपदा को निकालना है और उससे करोड़ों कमाना है, करोड़ों के मुनाफे के लिए, आदिवासियों को उस जमीन से हटाने के लिए, भगाने के लिए दशकों से एक युद्ध चल रहा है। उस युद्ध में अकेले है आदिवासी, कोई उनके साथ नहीं खड़ा है। यह आदिवासी समाज का दुर्भाग्य है।"[72] विकास के इस रूप ने आदिवासियों को ही नहीं उजाड़ा, अपितु प्राणी जगत के लिए आवश्यक प्राकृतिक पर्यावेश को छिन्न-भिन्न कर दिया। ऐसे में आदिवासी पहले अपने अस्तित्व को बचाये या अस्मिता को।

[71] जोशी रामशरण : जरूरत है प्रोसपेरा-सिंड्रोम के अंत की, आदिवासी विमर्श (सं.) 2013, पृ. 13

[72] तलवार वीरभारत : आदिवासी अस्मिता का सवाल, आदिवासी विमर्श (सं.) 2013, पृ. 1

भूमंडलीकरण आदिवासियों को दो रूपों में प्रभावित करता है- पहला भूमंडलीय बाज़ार उपलब्ध करवाकर और दूसरा आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को विनाश की चरम सीमा तक पहुंचाकर। भूमंडलीकरण का पहला रूप आदिवासी जन को पहले ही बाहर का रास्ता दिखा देता है। आदिवासियों की क्रय शक्ति की सीमित क्षमता उन्हें भूमंडलीय बाज़ार का हिस्सा बनने की अनुमति नहीं देती है। दूसरी बात भूमंडलीय बाज़ार में उसके ज्ञान और तकनीक का प्रतिद्वन्द्वी के मुकाबले कमजोर होने के साथ जाति, धर्म, लिंग और नस्लवादी चरित्र भूमंडलीय बाज़ार में उसकी पहुंच को खत्म कर देता है।

भूमंडलीकरण का प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर आश्रित होना, आदिवासी और अन्य वनाश्रित समुदायों के लिए प्रमुख खतरा है। प्राकृतिक खनिज संसाधनों की उपलब्धता के आधार पर आदिवासी भारत के सबसे समृद्ध इलाके के सबसे पुराने दावेदार है। आज सत्ता के सहयोग से वैश्विक पूँजी आधारित बहुदेशीय निगम इन संसाधनों को हड़पते जा रहे है। जिन आदिवासियों ने हजारों सालों से जिस प्राकृतिक पर्यावास का संरक्षण किया और जिनके दावे हजारों साल पुराने है, उन्हें आज की भूमंडलीय सभ्यता उजाड़ कर बेदख़ल कर रही है। चंद सिक्कों की खनक सरकारों और भ्रष्ट राजनेताओं को बहुराष्ट्रीय निगमों की धुन पर नाचने को प्रेरित कर रही है।

भारत में 1990 ई. के बाद एक ओर आदिवासी क्षेत्रों में सत्ता का दमन चक्र तेज होता है, तो वहीं दूसरी ओर आदिवासी आंदोलनों की प्रक्रिया तेज होती दिखाई देती है। इसका मूल कारण यह था कि 'भूमंडलीकृत विकास' का पहिया आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर ही घूम सकता था। केन्द्र और राज्य सरकारों ने खनन, उद्योग, शहरी विकास, सड़क, यातायात, संचार माध्यमों आदि के लिए आदिवासी क्षेत्रों में भूमि कब्जा करने के लिए हर प्रकार की कानूनी-गैर कानूनी नीति अपनाई। सरकारों द्वारा पूर्वोत्तर भारत में अपनी नीतियों को थोपने के साथ सेना को विशेष अधिकार देकर आदिवासी असंतोष को कुचलने का प्रयास किया, जिसने पूर्वोत्तर के विरोध को और ज्यादा भड़काया।

आदिवासी असंतोष को अभिव्यक्त करने वाले इस दौर के प्रमुख आंदोलन इस प्रकार है- पूर्वी सिंहभूम (झारखंड़) में 1992 ई. का जादूगोड़ा खनन विरोध, 1993 ई. में झारखंड़ के नेतरहाट में फील्ड फायरिंग रेंज के खिलाफ़ आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन (मध्य प्रदेश और गुजरात), 1994 ई. में गुमला झारखंड में शंख पनबिजली योजना के खिलाफ़ विरोध, सरगुजा मध्य प्रदेश में समरजोत वन्य अभ्यारण्य के खिलाफ़ आंदोलन, 1996 ई. में झारखंड, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में स्वशासन के लिए ग्राम व्यवस्था हेतु आंदोलन, 2000ई. में मणिपुर और पूर्वोत्तर में इरोम शर्मिला चानू का अपस्फा के विरोध में आंदोलन, 2004 में ऐफ्स्पा कानून के खिलाफ़ पूर्वोत्तर की महिलाओं का नग्न प्रदर्शन,

आंध्र प्रदेश में पोलावरम बांध का विरोध, 2005 में सलवा जुडूम के खिलाफ़ संघर्ष, बस्तर में सेज (टाटा, जिंदल और एस्सार ग्रुप) के खिलाफ़ भूमि बचाओ आंदोलन, 2006 में कलिंगनगर-उड़ीसा में सेज (टाटा और पोस्को) से भूमि बचाओ आंदोलन, 2006-07 सेज (टाटा) के खिलाफ़ तैंतोपासी झारखंड़ में भूमि बचाओ आंदोलन, 2007 सिक्किम में लेप्चा आदिवासियों का तीस्ता बांध का विरोध, 2008 में सिंगूर पश्चिमी बंगाल सेज के खिलाफ़ संथालों का आंदोलन, सेज (सलीम ग्रुप) के खिलाफ़ नंदीग्राम में कौंध आदिवासियों का भूमि बचाओ आंदोलन, सेज (वेदांत) के खिलाफ़ नियमगिरी उड़ीसा के डोंगरिया कौंध आदिवासियों का संघर्ष, 2009 में सेज के खिलाफ़ लालगढ़ के संथालों का आंदोलन, 2009-10 छत्तीसगढ़ में पंचेश्वर बांध का विरोध, 2012 नगड़ी भूमि आंदोलन झारखंड, 2013 सरना-ईसाई एकता आंदोलन, 2016 में झारखंड़ और छत्तीसगढ़ के ग्रामीण इलाकों में प्रभावी पत्थलगढ़ी आंदोलन।[73]

केन्द्र और राज्य सरकारों के विभिन्न प्रावधानों-सी.एन.टी / एस.पी.टी जैसे भूमि रक्षा काननों के साथ, संविधान की पांचवीं-छठवीं अनुसूची, आरक्षण प्रावधानों, एस.सी/एस.टी अत्याचार निवारण कानून 1989, पेसा एक्ट 1996, समता जजमेंट 1997, वनाधिकार कानून 2006 के बावजूद आदिवासी असंतोष की ज्वाला आज भी धधक रही है।

1.3.4. भूमंडलीकृत भारत में आदिवासियों से संबंधित प्रमुख कानून और न्यायिक फैसले

1990 ई. के बाद आदिवासी क्षेत्रों की प्राकृतिक वन संपदा और खनिज संसाधनों की लूट में तेजी आई। देशी-विदेशी बाज़ार की ताकतों ने सरकारी संरक्षण में आदिवासी पर्यावासों को छिन्न-भिन्न करने के साथ आदिवासियों के लिए अस्तित्व का संकट खड़ा कर उनके मानवीय अधिकारों को कुचलने का काम किया। भूमंडलीकृत मीडिया के विस्तार ने इसे आम जनमानस तक पहुंचाने का कार्य किया। मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, समाजसेवी और राजनैतिक दलों ने अपने हितों को ध्यान में रखकर आदिवासियों के लिए आवाज उठाई, जिसने सरकारों और भारतीय न्यायपालिका को आदिवासी हितों के बारे में सोचने को कुछ हद तक मजबूर किया। भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी हितों से संबंधित प्रमुख कानून और न्यायिक फैसले इस प्रकार है-

1.3.4.1 पेसा एक्ट 1996[74]

[73] वही : पूर्वोक्त, आदिवासी विद्रोह. 2018, परिशिष्ट

[74] https://legislative.gov.in/sites/default/files/A1996-40.pdf

24 दिसम्बर, 1996 ई. को भारतीय संसद द्वारा पारित पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम, 1996 भारतीय राजपत्र में प्रकाशित होने के साथ संपूर्ण भारत में लागू हो गया। इस अधिनियम के तहत-

1. संविधान के अनु. 244 के खंड (1) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों में राज्य विधान मंडल का कोई भी कानून, पंचायतों के संबंध, रूढ़िजन्य विधि, सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं और समुदाय के संसाधनों की परंपरागत प्रबंध पद्धतियों के अनुरूप होगा।
2. ग्राम सभा उस क्षेत्र के निर्वाचक नामावलियों में शामिल लोगों का प्रतिनिधित्व करेगी।
3. ग्रामसभा सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं का क्रियान्वयन एवं अनुमोदन करेगी । गरीबी उन्मूलन और अन्य कार्यक्रमों के अधीन हिताधिकारियों के रूप में व्यक्तियों की पहचान और उनके चयन के लिए उत्तरदायी होगी।
4. ग्रामसभा पंचायत स्तर पर अपनी निधियों के उपयोग करने, पंचायत में स्थानों के आरक्षण को संख्यानुपात में लागू करने का कार्य करेगी।
5. अनुसूचित क्षेत्रों में विकास परियोजनाओं के लिए भूमि का अर्जन करने से पूर्व और अनुसूचित क्षेत्रों में ऐसी परियोजनाओं से प्रभावित व्यक्तियों को फिर से बसाने या उनको पुनर्वासित करने से पूर्व उपयुक्त स्तर पर ग्राम सभा या पंचायत से परामर्श किया जायेगा।
6. समुचित स्तर पर ग्राम सभा या पंचायतों की पूर्व सिफ़ारिश को अनुसूचित क्षेत्रों में गौण खनिजों के लिए पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति या खनन पट्टा प्रदान करने के पूर्व आज्ञापक बनाया जायेगा।
7. अनुसूचित क्षेत्रों में ग्राम पंचायतों के स्वायत्त शासन संस्था के रूप में कार्य करने में समर्थ बनाने के लिए राज्य विधानमंडल यह सुनिश्चित करेगा कि ग्राम सभा या पंचायत को किसी मादक द्रव्य के विक्रय और उपभोग को विनियमित या निर्बन्धित करने की शक्ति प्रदान करें।
8. गौण वन उपज का स्वामित्व प्रदान किया जाए।अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि के अन्य संक्रमण को निवारित करने और किसी अनुसूचित जनजाति की विधिविरूद्धता अन्य संक्रमित भूमि को प्रत्यावर्तित करने के लिए उपयुक्त कार्यवाही करने की शक्ति प्रदान की जाए। ग्राम बाजारों का प्रबंधन और नियंत्रण, अनुसूचित जनजातियों को धन उधार देने पर प्रतिबंध लगाने, सभी सामाजिक सैक्टरों में संस्थाओं और कृत्यकारियों पर नियंत्रण रखने की शक्ति प्रदान की जाए।

आदिवासी क्षेत्रों में यह पंचायत अधिनियम रामबाण सिद्ध हुआ। आदिवासी क्षेत्रों में बाहरी लोगों की घुसपैठ को रोकने और बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा आदिवासी भूमि की लूट पर लगाम लगाने का कार्य किया। इस कानून की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जब भाजपा शासित झारखंड की रघुवर दास सरकार ने आदिवासियों के भूमि अधिकारों में कटौती करने का प्रस्ताव

राज्य विधानमंडल में रखा तो पूरे झारखंड़ के आदिवासी बहुल इलाके में पत्थलगढ़ी नामक नया आंदोलन चल पड़ा। जिसमें प्रत्येक गाँव के बाहर पेसा अधिनियम 1996 के तहत ग्राम पंचायत के अधिकारों को उकेरा गया।

पेसा एक्ट 1996 का प्रभाव: पत्थलगढ़ी विद्रोह

खनिज संसाधनों से परिपूर्ण झारखंड़ की कुल आबादी में 26 प्रतिशत आदिवासी है। इस आदिवासी बहुल राज्य के खूंटी, गुमला, सिमडेगा और पश्चिमी सिंहभूमि जिलों में आदिवासी अधिकारों की राजनीतिक जागरूकता के रूप में पत्थलगढ़ी आंदोलन का जन्म हुआ। पत्थलगढ़ी पत्थर की लगभग 15 फुट ऊंची और 4 फुट चौड़ी एक शिला पट्टिका होती है, जिसे गाँव के प्रवेश द्वार पर लगाया जाता है। इस पर भारतीय संविधान और पेसा एक्ट-1996 के साथ, वनाधिकार अधिनियम-2006 से संबंधित कुछ संवैधानिक प्रावधानों का जिक्र है, जो कि आदिवासियों की स्वायत्ता, स्वतंत्रता और स्वशासन की अवधारणा को उल्लेखित करते हैं।

सामान्यतया मुंडा एवं अन्य आदिवासी समुदायों में किसी व्यक्ति के मरने पर उसकी याद में, या किसी गाँव की वंशावली और विधि विधानों के उल्लेख हेतु अथवा गाँव, मौजा और जंगली क्षेत्र के सीमांकन और उस पर अधिकार जताने के उद्देश्य से पत्थर की एक शिला पट्टिका रोपी जाती है, जिसे पत्थलगढ़ी कहा जाता है। इसकी तुलना पाश्चात्य मेगालिथों से भी की जा सकती है। पत्थलगढ़ी आदिवासियों की संवैधानिक निष्ठा को उजागर करने, संवैधानिक नियमों की जागरूकता लाने और बाहरी लोगों को भी इस बारे में सचेत् करने का एक प्रयास है।

पेसा अधिनियम 1996 को बनाने के लिए जिस भूरिया कमेटी का गठन किया गया था, उसके मातहत काम करने वालों में स्व.वी.डी.शर्मा के साथ एक पूर्व पुलिस अधिकारी और सिसई विधानसभा के पूर्व विधायक बंदी उरांव भी थे। इन्होंने पेसा अधिनियम 1996 में आदिवासियों के लिए आरक्षित नियमों से जनसाधारण को जागरूक करने के उद्देश्य से भारत जन आंदोलन के बैनर तले पत्थलगढ़ी आंदोलन की शुरूआत की। स्वयं बंदी उरांव के अनुसार 'हमने झारखंड के सभी गांवों में पेसा अधिनियमों को उकेरने के लिए पत्थलगढ़ी शुरू की थी, ताकि आदिवासी लोग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो सके।' पेसा अधिनियम 1996 के अंतर्गत ग्राम सभा की व्याख्या और दायित्वों के बारे में बताया गया है।' [75]

[75] https://www.thehindu.com/news/national/other-states/the-pathalgadi-rebellion/article23530998.ece

पत्थलगढ़ी में सामान्यतः इसी बात का जिक्र किया जाता है कि 'भारतीय संविधान की पाँचवी अनुसूची में दर्ज़ कानून के तहत ग्राम में रढ़ि या प्रथा ही कानून का बल है, यानि संविधान की शक्ति है। अनु. 244 (1),(2) के तहत ग्राम सभा को पूर्ण स्वशासन और नियंत्रण की शक्ति प्राप्त है। आदिवासियों के स्वशासन और नियंत्रण क्षेत्र में गैर रढ़ि प्रथा के व्यक्तियों के मौलिक अधिकार लागू नहीं है अर्थात स्वतंत्र रूप से भ्रमण करने, बस जाने, व्यापार या कारोबार करने पर प्रतिबंध है। किसी भी ऐसे बाहरी व्यक्ति, जिससे कानून व्यवस्था के लिए खतरा हो, उसका घूमना-फिरना वर्जित है । संसद या विधानमंडल का कोई भी सामान्य कानून यहाँ मान्य नहीं है।'[76] उक्त प्रावधानों में कोई भी ऐसा प्रावधान नहीं है जिसका भारतीय संविधान या आदिवासी संबंधित विभिन्न एक्टों में जिसका उल्लेख नहीं हो। पं. नेहरू ने जिन आदिवासी पंचशील की बात की, वही तो इन शिलालेखों पर दर्ज़ है। आदिवासी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक है, शोषण के खिलाफ़ एकजुट है, यही मुख्यधारा की चुभन का कारण बना।

झारखंड़ के तत्कालीन मुख्यमंत्री रघुवरदास ने इसे बाहरी तत्वों द्वारा संचालित और आदिवासियों को फुसलाने वाला कृत्य बताया- 'मैं ऐसे लोगों को चेतावनी देना चाहता हूँ कि वे अपना रास्ता बदल दें और पत्थलगढ़ी के नाम पर निर्दोष आदिवासियों का शोषण करना बंद कर दे। अगर उन्होंने हमारी बात पर ध्यान नहीं दिया तो हम उन्हें कुचल देंगे।'[77] महत्वपूर्ण बात यह भी है कि बी.जे.पी शासित रघुवर दास की यही सरकार छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम 1908 और संथाल परगना एक्ट 1949, जो कि आदिवासी जमीन को गैर-आदिवासियों को हस्तांतरित करने से रोकते है, को कमजोर करने के लिए बिल विधानसभा में रखती है, जिसे भारी विरोध के कारण अगस्त 2017 को वापिस लेना पड़ता है।[78] झारखंड़ के पुलिस महानिदेशक रहे डी. के. पाण्डे इसे अफीम की गैर कानूनी खेती से जोड़कर देखते है, उनका मानना था कि 'पत्थलगढ़ी की आड़ में माओवादी और दूसरे तत्त्व अफीम की खेती कर रहे हैं, इस साल हमने 23000 हेक्टेयर भूमि से अफीम की गैर कानूनी खेती को नष्ट किया है।'[79] आर.एस.एस से जुड़े स्वयं सेवक संजय कुमार 'द हिन्दू' को दिए अपने साक्षात्कार में अफीम की खेती और राष्ट्रविरोधी तत्वों की भूमिका को पत्थलगढ़ी से जोडने के साथ सरकारी योजनाओं के आदिवासी इलाकों में नहीं पहुंच पाने को भी इसका कारण मानते हैं |[80]

---

[76] https://www.indiatoday.in/india/story/pathalgadi-movement-jharkhand-khunti-1270963-2018-06-27

[77] https://www.thehindu.com/news/national/other-states/the-pathalgadi-rebellion/article23530998.ece

[78] https://www.downtoearth.org.in/blog/governance/dilemmas-of-self-rule-60528

[79] https://www.thehindu.com/news/national/other-states/the-pathalgadi-rebellion/article23530998.ece

[80] वही,

आदिवासी क्षेत्र में पत्थलगढ़ी की समझ में भी काफ़ी अंतर देखने को मिलता है। एक ओर इसमें 'आपन गाँव में आपन राज' वाली बात है जो संविधान सम्मत है, वहीं दूसरी ओर एक समुदाय विशेष में गुजरात के तापी जिले में स्थित सती-पति पंथ का प्रसार देखने को मिलता है जहाँ माना जाता है कि 1870 में ब्रिटिश सरकार द्वारा आदिवासी क्षेत्रों में शासन करने का अधिकार देशी शासकों को दिया, जो कि 1969 में सौ साल पूरा होने पर खत्म हो गया है। इसलिए अब आदिवासी ग्राम सभा के माध्यम से अपना स्वशासन चलायेंगे। जिसमें किसी भी सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा और आदिवासी क्षेत्रों में ग्राम सभा के मुखिया की इजाजत बिना राष्ट्रपति, राज्यपाल या प्रधानमंत्री को भी घुसने का अधिकार नहीं होगा।

कहीं-कहीं संविधान की आधी-अधूरी व्याख्याओं के आधार पर अपने आदिवासी बोर्ड बनाकर आदिवासी इतिहास और संस्कृति द्वारा बच्चों की शिक्षा व्यवस्था चलाने की बात कही गई है जो कि आंशिक सत्यता पर आधारित है। यह सही है कि सरकारी विद्यालयों के पाठ्यक्रम में आदिवासी सभ्यता, संस्कृति और इतिहास को उतनी जगह नही दी गई, जितनी दी जानी चाहिए। शायद इसलिए अतिरेक में आदिवासी शिक्षा बोर्ड में ए फॉर आदिवासी, बी फॉर विदेशी और सी फॉर छोटा नागपुर टैनेंसी एक्ट हो गया। आदिवासी 'प्रोफेसर' जोसेफ तिर्की के अनुसार-"क्या फायदा है सरकारी स्कूलों में अपने बच्चों के भेजने का, जब वहाँ न तो अध्यापक है ना ही पढ़ाई, तो क्या हम अपने बच्चों को सिर्फ़ मिड डे मील के लिए वहाँ भेजे ? इसलिए हमने निश्चय किया है कि हम अपने बच्चों को आदिवासी इतिहास और संस्कृति खुद से पढायें। ग्राम सभा छात्रों को खुद सर्टिफिकेट देगी, जिस तरह जन्म मृत्यु और जाति प्रमाण पत्र के देती है। ग्राम सभा की अनुमति के बगैर कुछ भी संभव नहीं है।"[81] आज पत्थलगढ़ी अनेक राज्यों में फैलता हुआ केन्द्र और राज्यों का सत्ता को चुनौती दे रहा है।

1.3.4.2 समता जजमेंट 1997

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा देश के अनुसूचित क्षेत्रों में निवासरत् आदिवासियों की रोजी-रोटी से जुड़ा यानि 'जीवन के अधिकार' पर 1997 में समता बनाम आंध्र प्रदेश राज्य मामले में न्यायिक क्षेत्र के लिए मील का पत्थर साबित होने वाला एक ऐतिहासिक फैसला सुनाया, जिसे समता जजमेंट के नाम से जाना जाता है। 'समता जजमेंट' ने आंध्र प्रदेश के आदिवासी इलाकों में अपनी भूमि, प्राकृतिक संसाधनों और रोजी-रोटी के सवाल पर संघर्षरत् लोगों में नई उर्जा का संचार किया। सर्वोच्च न्यायालय

[81] https://www.news18.com/news/immersive/pathhargarhi.html

ने अपने ऐतिहासिक समता फैसले के माध्यम से सतत् विकास और मूल नागरिक सिद्धान्तों के प्रति रक्षात्मक नजरिये को सामने रखा है।

आखिर समता मामला है क्या?

आंध्र प्रदेश का विशाखापत्तनम् जिला कैल्साइट, बाक्साइट, चूना पत्थर, अभ्रक और अन्य प्राकृतिक खनिज संसाधनों की दृष्टि से संपन्न होने के साथ कोंडादोरा, बागता, परजा, कोंड, कटिया, वाल्मीकि जैसी अनेक आदिवासी समुदायों का घर भी है। 1960 के बाद विकास के नाम पर आंध्र प्रदेश की विभिन्न सरकारों ने यहाँ छोटी कंपनियों और कारोबारियों को खनन पट्टे जारी किये, पर 1990 के आर्थिक उदारीकरण के बाद सरकारों ने भारी मात्रा में बड़े कोर्पोरेट दिग्गजों जैसे बिरला पेरिक्लेज को खनन पट्टे जारी किए। इसमें सरकार द्वारा भूमि हस्तांतरण संबंधी उन अधिनियमों का उल्लंघन किया गया, जो कि अनुसूचित क्षेत्र में गैर आदिवासियों के भूमि हस्तांतरण पर प्रतिबंध लगाते है। बिरला पेरिक्लेज को निमालापाडू नामक आदिवासी गाँव में खदान हेतु 120 एकड़ जमीन दी गई।

आदिमानव की सदियों पुरानी शरणस्थली के रूप में प्रसिद्ध बोर्रा गुफाओं को भी सरकार ने खतरे में डाल दिया। सरकार ने यहाँ भी बाक्साइट खनन की अनुमति देने की योजना पर अमल करना शुरू कर दिया। आंध्र प्रदेश सरकार ने आदिवासी लोगों के अधिकारों और संसाधनों पर हक के दावे को नकारते हुए, बगैर विस्थापन की समस्या पर विचार किए, निजी खनन को अनुमति दे दी। इसके खिलाफ़ 1993 में आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय में एक जनहित याचिका दायर की गई, जिसमें सरकार के आदिवासी क्षेत्रों में भूमि के गैर आदिवासी कार्यों के लिए कंपनियों को पट्टे पर दिए जाने को चुनौती दी। चार साल तक लगातार संघर्ष करने पर सुप्रीम कोर्ट ने जुलाई 1997 को अपना ऐतिहासिक फैसला सुनाया।

समता फैसला[82]

सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में कहा है कि आदिवासी लोग अनुसूचित क्षेत्रों में पारिस्थितिकी तंत्र और वन भूमि को नुकसान पहुंचाये बगैर, व्यक्तिगत या सामूहिक सहकारी समितियों के माध्यम से राज्य की वित्तीय सहायता प्राप्त कर खनिजों का दोहन कर सकते है। अदालत ने कहा कि भूमि हस्तांतरण पर रोक की अनुपस्थिति में (राज्याधारित स्वामित्त्व वाली एजेंसियों या निगमों को छोड़कर अन्य) किसी भी लाईसेंस धारक या पट्टेधारक को परियोजना से प्रभावित होने वाले आदिवासियों के लिए कुछ कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह करना आवश्यक होगा। अदालत ने कहा कि किसी भी

[82] https://cjp.org.in/wp-content/uploads/2018/08/Samatha-Judgement-1997-SC.pdf

परियोजना के लाभांश की 20 प्रतिशत राशि अलग से स्थाई निधि के तौर पर जनजातीय लोगों के विकास हेतु रखी जानी चाहिए। यह पारिस्थितिकीय तंत्र के पुनर्निर्माण और रखरखाव पर खर्च की जाने वाली राशि के अलावा होगी। न्यायालय द्वारा प्रधानमंत्री को आदिवासी भूमि के संबंध में निर्धारित दिशानिर्देशों का पालन करते हुए एक राष्ट्रीय योजना विकसित करने का आदेश दिया।

इस फैसले के माध्यम से सुप्रीम कोर्ट ने न्यायिक हस्तक्षेप के नये द्वार खोल दिए। सुप्रीम कोर्ट ने सुनिश्चित किया कि संविधान में उल्लेखित कानून के समक्ष समानता और सामाजिक न्याय के आधार पर आदिवासी अपने अधिकारों का आनंद ले सकते है। माननीय न्यायाधीशों ने स्वतंत्र भारत में आदिवासियों की दुर्दशा को स्वीकार करते आदिवासियों के विकास के अधिकार पर बल दिया जैसा कि संयुक्त राष्ट्र ने 'विकास के अधिकार' सम्मेलन 1986' में घोषित किया। इस फैसले में कोर्ट ने सामाजिक लोकतंत्र स्थापना में डॉ. बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर द्वारा संविधान में उल्लेखित फ्रांसीसी क्रांति के मूल्यों- स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्त्व को फिर से दोहराया।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 में दिए गये 'जीवन के अधिकार' के संवैधानिक प्रावधान की परिकल्पना को स्वीकार करते हुए इस निर्णय में कहा गया कि 'आदिवासियों को भी सामाजिक और आर्थिक विकास के समान अधिकार है। विकास के अधिकार के बतौर आदिवासी अपनी पूर्ण स्वतंत्रता का आनंद ले पायें, इस हेतु अनुसूचित क्षेत्र की भूमि आदिवासियों के सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण हेतु संरक्षित करने की बात इस फैसले में की गई।

समता फैसले की व्यापकता और प्रभाव

भारतीय संविधान की पाँचवी अनुसूची में दर्ज़ जनजातियों के अधिकारों के लिए समता जजमेंट कमजोर का हथियार बना। इस न्यायिक फैसले का उपयोग अन्य न्यायालयों द्वारा उत्पीड़ित समुदायों के पक्ष में न्याय प्रदान करने के लिए किया। इस फैसले के 20 साल बाद 'नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल' ने इसकी सार्थकता को बढ़ाते हुए 20 जुलाई 2017 को अपने 3 आदेशों में विशाखापत्तनम के चिरापल्ली मंडल के जोरिला ब्लॉक में दिसंबर 2008 को दी गई चार पर्यावरण मंजूरी को रद्द कर दिया। इस फैसले ने नियमगिरी बाक्साईट खनन मामले में अपनी सफल उपस्थिति दर्ज़ की, नियमगिरी की पवित्र पहाड़ियों में निवास करने वाले डोंगरिया कोंध के पक्ष में होने वाला फैसला इसका नायाब उदाहरण है। सर्वोच्च न्यायालय ने आदिवासी और अन्य पारंपरिक वनवासियों के व्यक्तिगत, सामूहिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर निर्णय लेने का अधिकार ग्राम सभा को दिया।

इन सबके बावजूद अगर हम ध्यान से अधिकृत सरकारी आंकड़ों की बात करें तो साल दर साल बढते अवैध खनन मामलों में कोई कार्यवाही नहीं की जा रही है। वर्ष 2013 से लेकर 2017 तक 22 राज्यों में अवैध खनन से जुड़ी चार लाख शिकायतें प्राप्त हुई, इनमें से 5 प्रतिशत मामलों में शिकायत दर्ज़ हुई, दर्ज़ शिकायतों के लगभग 15 प्रतिशत मामले अदालत में विचाराधीन है।[83] ऐसे में समता जजमेंट की सार्थकता पर सवाल उठना लाज़िमी है।

1.3.4.3 वन अधिकार कानून 2006[84]

15 दिसंबर 2006 को संसद में एक बिल पेश किया गया, जिसे 'अनुसूचित जाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) कानून 2006' के नाम से जानते है। इस कानून के माध्यम से जंगलों पर आश्रित 20 प्रतिशत आदिवासी और अन्य समुदायों को संविधान प्रदत्त 'इज्जत के साथ जीने के अधिकार' को मान्यता दी गई। औपनिवेशिक शासनकाल में अंग्रेजों ने जंगली इमारती लकड़ी और वनोपज के व्यावसायिक दोहन के आरोप में आदिवासियों और अन्य जंगल आश्रित समुदायों को अतिक्रमणकारी घोषित कर दिया। ऐसे समुदायों को फिर से सामूहिक स्मृति में लाया गया और उन्हें अपनी जनतांत्रिक व्यवस्था द्वारा वनों के संरक्षण, प्रबंधन और उपयोग की छूट इस अधिनियम द्वारा दी गई।

यह अधिनियम जैव विविधता के संरक्षण के प्रति सामुदायिक दायित्वों को सुनिश्चित करने, वन प्रबंधन की चली आ रही औपनिवेशिक परंपरा यानि राज्य के एकाधिकार को खत्म कर जनतांत्रिक व्यवस्था की पुर्नस्थापना करने, भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त 'इज्जत के साथ जीने के अधिकार को आश्वस्त करने और बीहड़ जंगलों में अपने आतंक का खौफ़ कायम करने वाले 'बीट गार्ड' का डर कम करने का एक प्रयास था। संविधान की पांचवीं और छठवीं अनुसूची क्षेत्र में बसे हुए नागरिकों की स्वायत्ता और परंपरागत जीवन शैली को अक्षुण्ण रखना इस अधिनियम के उद्देश्य में शामिल था। वन प्रबंधन के औपनिवेशिक और आरोपित व्यावसायिक उद्देश्यों को बदलकर इस काम में नैसर्गिक रूप से दक्ष नागरिकों पर भरोसा जताने का प्रयास है-वन अधिनियम 2006।

यह अधिनियम अपने सैद्धान्तिक रूप में आजादी के बाद आदिवासी समाज के हित में सबसे बड़ा हथियार बना, फिर भी इसके क्रियान्वयन के प्रति सरकारी उदासीनता सारे उत्साह पर पानी फेर देती है। सीएफआर-एलए (the community forest right-learning& advocancy) के साथ

[83] Ravi Rebbapragada: THE IMPORTANCE OF THE SAMATA JUDGMENT (A Weapon of the Weak and the Marginalised), COMMON CAUSE Vol. XXXVI No. 3, July-September, 2017

[84] https://tribal.nic.in/FRA/data/FRARulesBook.pdf

अन्य गैर सरकारी संगठन इस कानून के दस सालों के क्रियान्वयन पर एक लेखा-जोखा (promises and performance) पेश करते है, जिसमें वे पाते है कि इस कानून में निहित लक्ष्यों और संभावनाओं का 3 प्रतिशत ही हासिल किया जा सका है।[85] इस संस्था द्वारा जारी आंकड़े उसी नोडल एजेंसी से लिए गये है, जिसको इस कानून के पालन की जिम्मेदारी सौंपी गई थी, यानि आदिवासी मामलों का मंत्रालय, भारत सरकार।

इस कानून के क्रियान्वयन का उल्लेख सीएफआर-एलए ने अपनी रिपोर्ट में किया है। जिसके अनुसार केन्द्र और राज्य सरकारों में राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी, नोडल एजेंसी को पर्याप्त महत्व नहीं देना, वन, पर्यावरण एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय द्वारा इस कानून को तरजीह नहीं दिया जाना, संयुक्त वन प्रबंधन को प्राथमिकता देते हुए 'कंपनसेंट्री ऑफारस्टेशन' को बढावा देना, केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा इस कानून के क्रियान्वयन व मॉनिटरिंग हेतु न के बराबर संसाधन खर्च करना आदि इसकी असफलता के मूल कारण रहे।[86] इस कानून के लागू होने की एक बड़ी अड़चन के रूप में 1950 का भूमि सुधार के लिए बने मालगुजारी-जमींदारी उन्मूलन कानून भी था। इस कानून के तहत बहुत सी वनभूमि को कृषि क्षेत्र में बदल दिया गया, आपसी तालमेल के अभाव में एक ही जमीन को दो विभागों के अन्तर्गत दर्ज़ किया गया। वन विभाग और राजस्व विभाग।

जब 2006 में वन अधिनियम आया तो वन विभाग के खाते में दर्ज़ भूमि पर आदिवासी और अन्य वनाश्रित समुदाय का दावा बनता था जबकि राजस्व विभाग के अनुसार उस भूमि की प्रकृति पहले ही बदल दी गई थी। ऐसे में कोर्ट केसों की भरमार हो गई। अकेले मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में ऐसी 80 लाख हेक्टेयर भूमि है जो विवादस्पद है।[87] वन्य जीवों के संरक्षित क्षेत्र में इस कानून का अमल नहीं के बराबर है। इस कानून के तहत देश के सबसे बड़े जमींदार वन विभाग को गाँव की संवैधानिक इकाई ग्रामसभा के मातहत प्रजातांत्रिक दायरे में लाना था, जो कि नहीं किया गया। इस कानून ने हालांकि जंगल की जमीन के गैर उपयोग के डायवर्जन को कठिन बनाया है, इसने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में बाहरी पूँजी निवेश आधारित नव उदारवादी अर्थव्यवस्था के लिए कुछ मुश्किलें जरूर पैदा की है, केन्द्र और राज्य सरकारें बाहरी निवेश को हर संभव, किसी भी कीमत पर बढाना चाहती है, इसलिए इस कानून को हरसंभव कमजोर करने में लगी हुई है।

[85] http://www.cfrla.org.in/uploads_acrvr/X36BEPromise%20and%20Performance%20National%20Report .pdf page no 6

[86] http://www.cfrla.org.in/uploads_acrvr/X36BEPromise%20and%20Performance%20National%20Report .pdf page no 6

[87] http://thewirehindi.com/28439/forest-rights-act-2006-tribal-population-india/-

1.3.4.4 प्रतिपूरक वन कानून 2016[88]

इस कानून की पृष्ठभूमि को समझने के लिए पहले 1980 के वन संरक्षण अधिनियम को जानना आवश्यक है। इस अधिनियम के तहत यदि किसी वनभूमि को गैर वानिकी कार्यों हेतु अनुमन्य / अधिग्रहित किया जाता है तो कार्यकारी संस्था को उस भूमि के वर्तमान मूल्य और आनुपातिक रूप में किसी अन्य भूमि पर वृक्षारोपण करने हेतु धनराशि देनी होगी। इस कोष के अंतर्गत विभिन्न राज्यों और केन्द्र सरकार के पास 2002 में लगभग 43000 करोड़ रूपया जमा हुआ। इस राशि के उपयोग के संबंध में एक जनहित याचिका सुप्रीम कोर्ट में लगाई गई। सुप्रीम कोर्ट ने केन्द्र सरकार से इस राशि के दुरूपयोग को रोकने हेतु एक संस्था बनाने का आदेश दिया। सरकार द्वारा इस संबंध में एक बिल 2016 में संसद से पास करवाया जिसे कैम्पा बिल यानि (Compensatory afforestation management and planning authority bill-2016) कहा गया। इसे उत्तराखंड के ख्याति प्राप्त चिपको आंदोलन की परिणति भी कहा जाता है।

भारत में वन कानूनों और वनाधिकारों पर औपनिवेशिक शासन की छाप बहुत गहरी है। आजादी के बाद में भी उस पर उतना ध्यान नहीं दिया गया। अंग्रेजी शासन में वनों पर निर्भर समुदायों को उनके परंपरागत अधिकारों से वंचित ही नहीं किया अपितु उन वनों को आरक्षित श्रेणी में डालकर बाज़ार की माँग के अनुसार महंगी प्रजातियों के एकल वन में ढाल दिया गया। इसका परिणाम उस क्षेत्र के इको-सिस्टम और उसमें निवासरत् आदिवासी समुदायों पर बहुत नकारात्मक पड़ा। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मीडिया में सुर्खी बटोरने वाला 'चिपको आंदोलन' इसी की परिणति था। ये लोग चाहते थे कि जैव विविधता को बनाये रखने के साथ इन समुदायों की जरूरतों को पूरा तब ही किया जा सकता है, जब एकल वन की अवधारणा को खत्म किया जाये। आंदोलन के बाद भी जब इन समुदायों की माँग पर ध्यान नहीं दिया गया, तो इसकी परिणति जोशी मठ के नंदादेवी पार्क में 21 जून 1998 को 'छीनो-झपटो' आंदोलन[89] के रूप में हुई। वन अधिनियम 2006 ऐसा कानून था, जो पहली बार औपनिवेशिक काल की सरकारों द्वारा अदिवासियों के अधिकारों के छीनने की परंपरा पर रोक लगाती है। यह एक अलग बात है इस कानून के अनुपालन की जिम्मेदारी वन विभाग की उस नौकरशाही को दी गई, जो इस अधिनियम में अपने अधिकारों की कटौती से पहले ही नाराज था। अतः इसका प्रभावी निष्पादन हो सकेगा, ऐसी उम्मीद पहले ही बहुत कम थी।

[88] https://www.ukcampa.org.in/Docs/CAMPA%20Act%202016.pdf

[89] https://hindi.indiawaterportal.org/node/31780

भूमंडलीकरण के दौर में वन भूमि से बहुमूल्य खनिज संसाधनों पर गिद्ध दृष्टि जमाये देशी विदेशी पूँजीपतियों के लिए 2006 अधिनियम बाधा खडी कर रहा था। अतः इसे निष्प्रभावी बनाने के लिए कैम्पा एक्ट 2016 लाया गया। सरकारी तौर पर यह उस अपार धनराशि के माध्यम से वन आरोपित कर उस नुकसान की भरपाई करने का प्रयास है, जो कई दशकों के विकास के परिणामस्वरूप पैदा हो गया था। पर्यावरण मंत्री प्रकाश जावड़ेकर के अनुसार इस बिल के माध्यम से 'पर्यावरण के हरित मापदंडों पर खरा नहीं उतरने वालों की जिम्मेदारी तय करते हुए जुर्माने में वृद्धि करने का प्रस्ताव जोड़ा गया है। अब ऐसा नहीं होगा कि आप एक पेड़ काटो, एक हजार रूपये का जुर्माना भरो और आराम से घर जाओ।[90] वहीं पूर्व पर्यावरण मंत्री किशोर चंद्र देव कैम्पा बिल को आदिवासियों को घर से बेदख़ल करने की साज़िश मानते हुए खनन लॉबी को फायदा पहुचाने वाला बिल मानते हैं वे कहते हैं कि 'यह बिल यूपीए कार्यकाल में आदिवासियों के लिए बने वन अधिकार कानून 2006 को ही नहीं पेसा एक्ट 1996 का भी उल्लंघन करेगा। यह आदिवासियों के लिए कहर साबित होगा।' [91]

संसद में इस कानून के मसविदे पर चर्चा हो रही थी उस दौरान कांग्रेस की ओर से जयराम रमेश ने इसमें दो नियम जोड़ने की अनुशंसा की। पहला- किसी स्थान का वनीकरण करने से पूर्व वन विभाग अनिवार्य रूप से ग्राम सभा से इस आशय का प्रमाणपत्र ले कि उस ग्राम सभा से संबंधित वन में वनाधिकार अधिनियम 2006 पूरी तरह लागू हो गया है और दूसरा ये कि प्रस्तावित वृक्षारोपण में पौधों की प्रजातियों को लेकर ग्राम सभा से पूछा जाना चाहिए।[92] सरकार अगर इन संसोधनों को स्वीकार कर लेती तो आदिवासियों की लोकतंत्र में निष्ठा और ज्यादा प्रगाढ़ होती, सरकार और सिस्टम पर भरोसा कायम होने के साथ कैम्पा एक्ट के अंदर वृक्षारोपण के नाम पर होने बाले भ्रष्टाचार को रोका जा सकता था। इस अधिनियम के बाद भी आदिवासी विस्थापन को रोका नहीं जा सका। आदिवासियों द्वारा वनभूमि पर परंपरागत रूप से की जाने वाली और वनाधिकार अधिनियम 2006 के अंतर्गत प्राप्त जमीन पर होने वाली खेती को उजाड़कर वन रोपने की खबर आये दिन मिल जाती है। [93]

निष्कर्षः-

[90] https://m.economictimes.com/news/politics-and-nation/bill-to-increase-penalties-for-green-norms-violation-under-consultation/articleshow/47591370.cms

[91] https://economictimes.indiatimes.com/opinion/interviews/campa-will-drive-out-tribals-will-benefit-the-mining-lobby/articleshow/53423662.cms

[92] https://www.firstpost.com/india/campa-bill-does-not-empower-forest-dwellers-tribals-jairam-ramesh-2919496.html

[93] https://www.downtoearth.org.in/hindistory/%E0%A4%9C%E0%A4%AE%E0%A5%80%E0%A4%A8-%E0%A4%95%E0%A4%BE-%E0%A4%96%E0%A5%87%E0%A4%B2-65544

आदिवासी संदर्भ में भूमंडलीकरण के समग्र प्रभाव का विश्लेषण करने पर पाते हैं कि यह प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण मध्य भारतीय क्षेत्रों (झारखंड़, छत्तीसगढ, उड़ीसा, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, प. बंगाल) में आदिवासी समाज पर कहर बनकर टूटा है। सत्ता चाहे विदेशी अंग्रेजों की रही हो, चाहे देशी परवर्ती शासकों की, आदिवासियों को फुसलाने से लेकर डराने-धमकाने का प्रयास जारी है। ग्लैडसन डुंगडुंग एक आदिवासी कार्यकर्त्ता और प्रखर आदिवासी वक्ता है, इनका मानना है कि 'अग्रेजों के जमाने में आदिवासी असंतोष ने जोर पकड़ा, तो विल्किंसन रूल्स, संथाल परगना एक्ट, छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम के माध्यम से आदिवासियों को खुश करने का प्रयास किया गया। छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम में आदिवासी जमीन, संस्कृति और परंपराओं की रक्षा को स्वीकृति तो दी पर आदिवासी क्षेत्र की जमीन का मालिक जिला उपायुक्त को बनाया गया, जिसका आदिवासी समाज से कोई संबंध भी नहीं था, ना किसी जिम्मेदारी या सहानुभूति का अहसास। 1938 में आदिवासी महासभा के गठन के बाद जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में आदिवासी स्वायतत्ता की माँग उठी तो उसे दर किनार कर संविधान के अन्तर्गत पांचवीं-छठवीं अनुसूची के साथ आरक्षण का झुनझुना पकड़ा दिया गया। राष्ट्रपति और उनके मातहत् राज्यपालों को आदिवासी इलाकों का भगवान बना दिया।'[94]

आदिवासी एक्टीविस्ट ग्लैडसन डुंगडुंग के ये आरोप निराधार नहीं है, स्वतंत्र भारत के इतिहास में ऐसा एक भी मौका नहीं आया है जब राज्यपालों ने आदिवासियों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को ईमानदारी पूर्वक निभाया हो। '1980-90 के बीच जब आदिवासी स्वशासन की माँग ने जोर पकडा, और मध्य भारत में कोल्हान रक्षा समिति ने अलग से 'हो लैण्ड' नामक देश का प्रस्ताव सामने रखा, तो 1996 में पेसा कानून का चारा आदिवासियों के सामने फेंका गया। आदिवासियों के जंगल अधिकार की माँग तेज हुई तो वनाधिकार कानून 2006 के नाम पर 1 डिसिमिल से लेकर 2 एकड़ जमीन का पट्टा आदिवासियों को दिया गया। सरकार ने देखा कि वन अधिकार अधिनियम 2006 आदिवासियों के भूमि अधिकारों को मजबूत कर रहा है, जिससे आदिवासी भूमि का हस्तांतरण बहुदेशीय कंपनियों को होने में बाधा आ रही है तो उसने भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास एवं पुर्नस्थापना कानून 2016 लाकर इस बाधा से पार लिया।'[95] इस तरह आदिवासी समाज के साथ सरकारें एक ऐसा खेल खेल रही है जिससे आदिवासी समाज का पार पाना आज मुश्किल दिखाई देता है

[94] ग्लैडसन डुंगडुंगः आदिवासी आंदोलन और संघर्ष दिशाहीन है?
http://saathijohar.com/2017/02/07/directionless.html
[95] पूर्वोक्त

अध्याय:- 2

हिन्दी आदिवासी साहित्य और अस्मिता विमर्श

2.1 आदिवासी समाज और साहित्य

2.2 आदिवासी साहित्य की अवधारणा

2.3 आदिवासी साहित्य और अस्मिता विमर्श

अध्याय: 2

हिन्दी आदिवासी साहित्य और विमर्श

2.1 आदिवासी समाज और साहित्य

भारत में अनेक आदिम जनजातियाँ निवास करती हैं, इन्हें कुछ विद्वान आर्य तो कुछ अनार्य मानते है। इस विषय पर मतभेद है, किंन्तु ये लोग प्राचीनतम संस्कृति के निर्माता है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। चाहे आदिवासी आर्यों से पूर्व भारत में बसे हो या उनके साथ रहते रहे हो, किंतु यह आर्यों से अलग मानव समूह था, जिसकी अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान थी। आदिवासी समाजों को लेकर मूलधारा की सामान्य समझ यह है कि आदिवासी जंगली, बर्बर, आदिम तौर तरीकों पर जीवन यापन करने वाला अति पिछड़ा समुदाय होता है। मुख्यधारा आदिवासियों को अज्ञानी और मूढ़ ही नहीं, बुद्धि-विवेक से रहित, भाषा और इतिहास से कटा हुआ समुदाय मानती है। जो कि मूलतः औपनिवेशिक धारणा है, जिसका प्रचार-प्रसार लूट और शोषण का राज स्थापित करने की नीयत से हुआ है।

औपनिवेशिकता की यह धारणा सिर्फ़ अंग्रेजी शासन के ही संदर्भ में नहीं है, यह गैर आर्यों के आर्यीकरण की धारणा से पूर्णतया जुड़ी हुई है। प्रसिद्ध भाषाविद् सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार- "आष्ट्रिकों का जो आर्यीकरण आज से साढ़े तीन या तीन हजार वर्ष पूर्व इस देश में आर्यभाषा के आगमन के साथ शुरू हुआ, वह अब तक चल रहा है और उसका अंत होगा कोल भाषियों को आर्यभाषा ग्रहण करा कर और दो तीन सौ वर्षों में या इससे भी कम समय में कोल तथा दूसरी दक्षिण भाषाओं को लुप्त करके, तब इस आर्यीकरण की प्रक्रिया का अंत होगा।" [96]

2.1.1 शास्त्र/साहित्य संबंधी मान्यताः आदिवासी बनाम गैर आदिवासी

आदिवासी और गैर आदिवासी समाजों का मुख्य भेद शास्त्र संबंधी समझ है। दुनियाभर में शास्त्रों का उद्देश्य सत्ताधारी वर्ग के विचारों का आम जनमानस में प्रचार-प्रसार का रहा है। नॉम चोमस्की जैसे विद्वान मानते है कि "शासक वर्ग नियंत्रित शास्त्रों का एकमात्र लक्ष्य होता है, लोगों के दिमागों को अपनी सरकार के साथ तथा और भी सामान्य रूप से कहे तो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के साथ 'सकारात्मक जुड़ाव के लिए प्रशिक्षित करना।" [97]

---

[96] चटर्जी सुनीति कुमार: भारत की भाषाएं और भाषा संबंधी समस्याएं , पृ. सं. 33

[97] नॉम चोमस्की: जनमाध्यमों का मायालोक, 2012, पृ.25

'आदिवासी समाज के बारे में कहा जाता है कि आदिवासी न तो शास्त्र सम्मत समाज है और न ही शास्त्र विरोधी ।' इसका कारण यह था कि आदिवासी समाजों में शासक और शोषित जैसी किसी वर्ग भेद वाली अवधारणा का जन्म नहीं हुआ था । गैर आदिवासी दुनिया में यह भेद यथार्थ थे, इसलिए साहित्य और शास्त्र की सर्वोच्चता गैर विवादित थी । शासक भी उसकी अवहेलना नहीं कर सकता था । विद्वान भी साहित्य के अनुगमन से प्राप्त ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ मानते थे । पर भारतीय आदिवासियों में न तो किसी प्रकार की वर्चस्ववादी सत्ता का इतिहास रहा है और न ही शास्त्र का ।

आदिवासी विश्व समष्टि में जीवन जीता है, जहाँ उसके जीवन का मूलाधार कोई एक तत्व नहीं है, न साहित्य, न भाषा, न संगीत, न कला और न ही प्रकृति । शायद इसलिए गैर आदिवासी समाज और शास्त्र, आदिवासियों को अपना विरोधी घोषित करते है । गैर आदिवासी शास्त्रों में आदिवासियों को धार्मिक कर्मकाण्ड और यज्ञों का विरोधी ठहराया गया है । गैर आदिवासी यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि शास्त्र के बगैर समाज, सत्ता या धर्म का अस्तित्व हो सकता है । इसलिए वे आदिवासियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाने के लिए आतुर रहे हैं, पर स्वयं 'मनुस्मृति' जैसे अप्रासंगिक ग्रंथों से संचालित और प्रभावित है, जहाँ हिंसा, नस्लीय भेदभाव और स्त्री उत्पीड़न को महिमा मंडित किया जाता है ।

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की प्राचीनता के बतौर गैर आदिवासी समाज वेद, पुराण, उपनिषद् और अन्य शास्त्रों को सामने रखता है, उनके सम्मोहन और उपलब्धियों से वह इतना वशीभूत है कि वह इसके एकपक्षीय दृष्टिकोण को ही सामने रखता है । श्यामचरण दुबे लिखते हैं कि "भारतीय परंपरा को वेद, पुराण और शास्त्रों से जोड़ने की प्रवृति रही है और हम आज भी उसके सम्मोहन से मुक्त नहीं हो सके हैं । इन महान ग्रंथों को हम मानव सभ्यता की महान उपलब्धियां मानते हैं, जो वें निःसंदेह है । इनके संबंध में प्रश्न दूसरा है । क्या वे अपने समय का सही चित्रण करते हैं ? वे आदर्श समाज को प्रक्षेपित करते हैं या जीवित समाज का वर्णन करते हैं ? क्या पूरा भारतीय समाज उनमें सिमट गया है ? या उनमें चित्रित परंपरा के अतिरिक्त अन्य स्वतंत्र परंपराएं भी इस देश में थीं- जनजातीय, व्रात्य या क्षेत्रीय?...ये प्रश्न असुविधाजनक है क्योंकि वे शताब्दियों द्वारा पोषित मान्यताओं का खंडन करते हैं । इन ग्रंथों में अपने समय का सही अंकन भी नहीं है । इनमें आर्य पूर्व संस्कृतियों की उपलब्धियों का आकलन तो क्या, उल्लेख भी नहीं है । इस देश में जो विराट परंपरा विकसित हुई, उसने इन संस्कृतियों से बहुत कुछ लिया था, जनजातीय और क्षेत्रीय परंपराएं इस देश में सशक्त रही हैं, उनकी अलग पहचान थी और आज भी है ।" [98]

[98] दुबे श्यामचरण: परंपरा, इतिहास और संस्कृति, 2014 पृ. 27

आदिवासी विश्व की अशास्त्रीय परंपरा में वे कौनसे तत्व थे, जो उसे गतिशील और जीवंत बनाते है ? इसका जबाव है सम्पूर्ण समष्टि । जीवन और प्रकृति के हर अवयव उसे निर्देशित और संचालित करते हैं । ल्यूसिएं गोल्डमान के अनुसार 'कुछ ऐसे सामाजिक समूह / सामाजिक वर्ग रहे हैं जिनकी आकांक्षायें तथा आवश्यकतायें या तो सभी अंतर्मानवीय संबंधों की संपूर्ण संरचना के अनुरूप होती है या फिर मानव एवं प्रकृति के बीच पाए जाने वाले संबंधों के अनुरूप ।' ऐसे ही सामाजिक वर्ग के रूप में लद्दाखी आदिवासियों का चित्रण हेलेना नाबर्ग-होज़ ने अपन पुस्तक 'प्राचीनता का भविष्य' (अनु. ज्वाला प्रसाद मिश्र) में किया । जहाँ वे लिखती है कि 'लद्दाखी इस मामले में भाग्यशाली हैं कि उन्हें विरासत में एक ऐसा समाज मिला है जहाँ व्यक्ति की भलाई से पूरे समाज की भलाई का टकराव नहीं होता; एक व्यक्ति का लाभ, दूसरे व्यक्ति का नुकसान नहीं होता । परिवार एवं पड़ोसियों से लेकर अन्य गांवों के सदस्यों बल्कि अजनबियों तक, लद्दाखी जानते है कि अन्यों की सहायता करना स्वयं उनके हित में है ।'[99] यह लद्दाखियों के बौद्ध धर्मावलंबी होने के साथ उनकी पारंपरिक विरासत का भाग है ।

आदिवासी समाज की अशास्त्रीय संरचना को समझने के लिए उनकी परंपरा, संस्कृति और जातीय बोध की भावना पर नज़र डालना आवश्यक है । परंपरा भूत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य के बीच निरंतरता का नाम है, जीवन के हर क्षेत्र में इसकी गति और प्रभाव एक जैसा नहीं है । धार्मिक और रूढ़िगत मान्यताओं में परिवर्तन की गति सामाजिक संस्थाओं से धीमी होती है, वहीं साहित्य और कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयोग और नवाचारों की वजह से तेज, तो भाषा के क्षेत्र में सर्वाधिक होती है । संस्कृति में मानव द्वारा अब तक सीखे गये व्यवहार को शामिल किया जाता है । जिसकी जड़ें इतिहास में बहुत गहरी होती है । परंपराओं के ऐतिहासिक संबंध संस्कृति का निर्माण करते हैं ।

जातीय भावना विशेष नृवंशीय शाखाओं से जुड़े संवेदनात्मक लगाव को अभिव्यक्त करती है, लेकिन आज क्षेत्रीयता, भाषा, सांस्कृतिक-धार्मिक तत्वों के इसमें घुल-मिल जाने से इसका स्वरूप उलझन भरा हो गया है । तथ्यों से ज्यादा इन्हें मानसिक संरचना के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है । नये संदर्भ और विशेष स्थितियों में इनके अर्थ और प्रकार्य बदल जाते है । व्याख्या का विभ्रम भी उस समय चरमसीमा पर पहुंच जाता है, जब पुनर्रचना की प्रक्रिया में ज्ञात सामाजिक तथ्य और ऐतिहासिक यथार्थ नये मिथकों और प्रतीकों को अपनाने लगते है ।

वंदना टेटे लिखती हैं कि- "आदिवासी साहित्य परंपरा को गैर आदिवासी विश्व की साहित्यिक परंपरा के तथ्यों और मानदंड़ों के आधार पर देखा जाना 'व्याख्या का विभ्रम' ही है, क्योंकि साहित्य

[99] होज़ हेलेना नॉबर्ग: प्राचीनता का भविष्य 2012, पृ. 51

आदिवासी दुनिया में बिल्कुल वही स्थान नहीं रखता, जो गैर आदिवासी समाज में रखता है। अगर हम अभिव्यक्ति और कला रूपों के ही संदर्भ में साहित्य की भूमिका पर विचार करे तो यह पायेंगे कि आदिवासी कला परंपरा में साहित्य एक स्वायत्त इकाई नहीं है। आदिवासी कला परंपरा में लेखक, गीतकार, संगीतकार, नर्तक और गायक अलग-अलग स्वतंत्र इकाईयां न तो पहले थी, न आज है।"[100] वैसे हर आदिवासी समाज की कलात्मक और काव्यात्मक अभिव्यक्ति का अपना ढंग होता है, उसके अपने कलात्मक प्रतिमान होते हैं, इसलिए किसी एक समाज को दूसरे समाज के काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रतिमानों, चाहे वे गीत हो या कविता, मूल्यांकन संभव नहीं हैं।

किसी भी साहित्य की समझ विकसित करने और साहित्य के सौन्दर्य प्रतिमानों की परख हेतु उस समाज का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन करना जरूरी है, क्योंकि उन्हीं के आधार पर अंततः साहित्य का समाजशास्त्र आकार लेता है। अभी तक गैर आदिवासियों की आदिवासियों के प्रति धारणा है कि आदिवासियों के पास किसी तरह का साहित्य नहीं है, उनके पास थोड़ा-बहुत मौखिक 'लोक' साहित्य है, जो कि गंवई और पिछड़े समुदायों की निशानी है। उसमें जीवन के आधुनिक प्रयोजनों का नितांत अभाव होता है। पर ऐसा मानना सही नहीं है। आदिवासियों के पास प्रकृति और प्रेम पर आधारित गीतों और कहानियों की हजारों साल पुरानी परंपरा है। जबसे बाहरी समाजों की दखलंदाजी आदिवासी जीवन में बढ़ी है, तबसे उनके कला रूपों में असहमति और प्रतिरोध का स्वर भी दिखाई देने लगा है। उनके गीत, कहानियां, चित्र आदि कपोल कल्पना नहीं है, वे जीवन के आवश्यक और अनिवार्य घटक है।

भारतीय साहित्य का लिखित रूप संस्कृत में प्राचीन काव्यशास्त्र की परंपरा से शुरू होता है जो औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप होने वाले प्रेस के आविष्कार और आधुनिक राज्य की अवधारणा से जुड़कर नवीन आयाम ग्रहण करता है। साहित्य की शुरूआत शास्त्र के बतौर सभ्यताओं और शासन के नियामक और अनिवार्य प्राथमिक तत्त्व के रूप में हुई थी। क्या राजा और क्या प्रजा, सभी को शास्त्र के हिसाब से ही चलना था, हालांकि इनके निर्माण में शासकों और समाज के द्विज वर्ग के विशेषाधिकारों को और मजबूती के साथ उभारा गया। आदिवासी समाजों की स्थिति भिन्न थी, उनकी जीवन प्रणाली में शब्दों को किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं थी और न ही शासक और शासित जैसा भेद उनके समुदायों में पैदा हुआ था। इसलिए आदिवासी समाज ने संकेत चिन्हों, चित्रों और अक्षरों के विकास कर लेने के बावजूद शास्त्र की किसी लिखित परंपरा को प्रश्रय नहीं दिया।

[100] टेटे वंदना: वाचिकताः आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध, 2016 पृ.सं. 62

भारतीय साहित्य को दो खांचों में रखकर विश्लेषित किया गया है। पहला कला रूप में, जहाँ माना गया है कि जब शब्द और अर्थ के बीच सुंदरता के लिए स्पर्धा या होड़ लगे, तब साहित्य की सृष्टि होती है। दूसरे रूप में 'साहित्य जीवन की आलोचना है।'[101] साहित्य संबंधी इन अवधारणाओं के आधार पर जब आदिवासी साहित्य की परख होती है या सौंदर्यशास्त्र के प्रतिमान गढ़े जाते है तो स्थिति काफ़ी असहज हो जाती है, क्योंकि आदिवासी जीवन परंपरा और समाज में साहित्य जैसी किसी रूढ़ और श्रेणीगत परंपरा रही ही नहीं। उनके यहाँ साहित्य में शब्द, अर्थ, नृत्य, संगीत, चित्र, प्रकृति के साथ उनका सम्पूर्ण विश्वास और समूची सृष्टि समाहित है। साहित्य इन सभी अभिव्यक्तियों का समुच्चय है।

आदिवासी साहित्य चिंतक वंदना टेटे के अनुसार-"साहित्य आदिवासी दुनिया में वह स्थान नहीं रखता, जो कि गैर आदिवासी समाज में रखता है। सिर्फ़ अभिव्यक्ति या कला रूप के सदर्भ में साहित्य की भूमिका पर विचार करें तो पायेंगे कि 'आदिवासी कला परंपरा में साहित्य एक स्वायत्त इकाई नहीं है। आदिवासी कला परंपरा में गाने के लिए नाचना जरूरी है, नाचने के लिए बजाना जरूरी है, बजाने के लिए गाना जरूरी है और गाना, नाचना और बजाना बगैर परिवेश के संभव नहीं है। परिवेश यानि प्रकृति। इन सबके सुर और ताल में सज जाने पर ही गीतों (साहित्य) की रचना होती है। इस प्रकार साहित्य सभी कलारूपों के सम्मिलन का अंतिम परिणाम है।" [102]

केन्याई आदिवासी चिंतक न्यूंगी वा थ्योंगो का मानना है कि "तथाकथित आधुनिक साहित्य की तरह आदिवासी साहित्य एक आयामी नहीं है। यह बहुआयामी है और विविध कलात्मक अभिरूचियों और प्रदर्शनों का सामूहिक सहजीवी परफॉरमेंस है। आदिवासी साहित्य एक जीवंत परंपरा है क्योंकि उसका आधार वाचिकता है, जो शब्दों के नये प्रयोग और अनुभव से हमेंशा तरोताज़ा और नवीनतम बना रहता है।"[103] इस तरह आदिवासी साहित्य की मूल प्रकृति उस साहित्य से अलग है, जिसे मूलधारा का साहित्य माना जाता है। बाहरू सोनवणे जैसे आदिवासी लेखक का मानना है कि 'लिखित ही केवल साहित्य होता है, यह कहना आदिवासियों की दृष्टि से असंगत है। इन व्याख्याओं को बदलना जरूरी है क्योंकि आज आदिवासी समाज में कईं प्रथाएं, लोकगीत, नाटक तथा अन्य कलाएं विद्यमान हैं जिन्हें शब्दबद्ध नहीं किया गया है। हजारों वर्षों से चली आ रही परंपराएं कभी थमी नहीं। वे परंपराएं आज भी मौलिक रूप में आदिवासी जीवन का अंग रही है।'[104]

---

[101] https://www.thecitizen.in/index.php/hi/NewsDetail/index/9/14544/preamchand-

[102] टेटे वंदना: पूर्वोक्त, 2016, पृ.30

[103] टेटे वंदना: पूर्वोक्त, 2016, पृ.30

[104] टेटे वंदना: पूर्वोक्त, 2016, पृ.30

आदिवासी साहित्य की परंपरा ऑरेचर अर्थात वाचिकता की है। यह वाचिकता ही दुनिया की समस्त कलाओं के उत्स का आधार है। मूलधारा के समाजों में इस लोक पृष्ठभूमि से दूरी बनाकर सत्ता के हित में नया 'सत्यं, शिवम्, सुंदरम्' का साहित्य गढ़ लिया गया। इनके पीछे समाज का पढा-लिखा वर्ग था, जिसे द्विज वर्णधारी या सवर्ण कहा गया। इसने अपने लिखित साहित्य को ही साहित्य माना और बाकी को 'लोक' के फुटकल खाते में डाल दिया। इन्होंने सत्ता, धर्म और अर्थ ही नहीं, साहित्य के मापदंड भी अपने हिसाब से निर्धारित किए। पर आज आदिवासी समाज अपने साहित्य के मानदंड खुद गढ़ रहा है, आदिवासियों का प्राचीन साहित्य, जिसे अकादमिक जगत में लोक या फोक माना, वह कोरी कल्पना नहीं, अपितु वास्तविक अनुभव पर आधारित सच्चाई का साहित्य है, इसलिए वह फिक्शन या कोरी गल्प नहीं है। वाचिक आदिवासी परंपरा जिसे ऑरेचर या 'पुरखा साहित्य' कहा जाता है, उसकी स्थिति काल्पनिक साहित्य परंपरा से बिलकुल अलग है। यह लोक के नजदीक है पर उसका दर्शन गैर आदिवासी लोक से पूर्णतया अलग है।

गैर आदिवासी समाज लिपिबद्ध अनुभव और ज्ञान को, इंसान की काल्पनिक और यथार्थवादी सर्जना को शास्त्र और साहित्य मानता है। गैर आदिवासी विश्व शब्दों के वाक् जाल या कल्पनाशील लेखन को साहित्य का दर्जा देता है। जीवन, प्रकृति और विश्व के संबंध में उसका सम्पूर्ण डिस्कोर्स या बहस लिखित ज्ञान और साहित्य पर आश्रित और केन्द्रित है । इसी एकपक्षीय धारणा के चलते आदिवासी भाषाएं सिर्फ़ बोलियां बनकर रह जाती है और उनका साहित्य 'अनगढ़-मौखिक' साहित्य का भाग । लिखित भाषा और साहित्य के अभाव में उनके इतिहास, ज्ञान-विज्ञान और कलात्मक कौशल की परंपरा अस्वीकार कर दी जाती है। शास्त्रों में लिखित ज्ञान परंपराओं को डिकोड करने या उन्हें समझने-समझाने के चलते पूर्व और पश्चिम दोनों सभ्यताओं में गुरूओं के महत्व को समझते हुए उन्हें भगवान का दर्जा दिया गया।

निष्कर्षः-

हिन्दी आदिवासी साहित्य का संबंध आदिवासी समाज से है । चूंकि आदिवासी समाज मूलधारा के समाजों से भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक रूप से भिन्न समाज रहा है। अन्य संस्कृतियों से इसके रिश्ते पारस्परिक-सामंजस्य और बराबरी के नहीं होकर विजेता और विजित के रहे है। गैर आदिवासी संस्कृतियां चूंकि विजेता संस्कृति थी, इसलिए उन्होंने अपने ग्रंथों में आदिवासियों की खलनायक छवि प्रस्तुत की । इन संस्कृतियों का प्राचीन इतिहास, साहित्य और मिथक आदिवासियों को मानवेत्तर प्राणी मानकर समूल नाश की आकांक्षा व्यक्त करता रहा है । इसलिए वर्तमान आदिवासी साहित्य की परंपरा अपना उत्स आदिवासी परंपरा और पुरखा साहित्य में ढूँढती है।

आदिवासी साहित्य का एक भाग हिन्दी का आदिवासी लेखन है। वह भाषा का साहित्य होने के साथ हिन्दी भाषी आदिवासियों के जीवन का चित्रण करने वाला साहित्य हैं। हिन्दी में आदिवासियों के अलावा गैर आदिवासियों ने भी आदिवासी विषयक साहित्य रचा, पर इन दोनों के मकसद अलग अलग है। आदिवासियों द्वारा लिखित साहित्य भूमंडलीकरण के दौर में उपजी आदिवासी चेतना से जुड़ा हुआ है, वहीं गैर आदिवासी लेखन में आदिवासियों के अजूबेपन को रेखांकित करने के अलावा मार्क्सवादी विचारधारा केन्द्रित सर्वहारा की सत्ता स्थापना के हिरावल दस्ते के रूप में आदिवासी समाज का चित्रण है।

आदिवासी समाज की साहित्यिक परंपरा वाचिकता की परंपरा है, जो किसी शास्त्र से संचालित न होकर सामूहिकता की आधार भूमि से जुड़ी है। आदिवासी जीवन अनुभव कला, साहित्य और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह मिल जुलकर सामूहिक रूप से करता है। संपत्ति से लेकर हर पारिवारिक और सामाजिक जीवन में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना यहाँ देखने को मिलती थी। साहित्य भी कला के क्षेत्र में स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता था। साहित्य व्यक्ति की उपलब्धि न होकर समाज की धरोहर थी, जिसमें बहुत से रचनाकारों की सहभागिता होती थी। सारा समाज उसे अन्य कला रूपों के साथ अभिव्यक्ति देता, जिसमें नाच, गान, भाव भंगिमा और परिवेश के साथ वाताबरण महत्वपूर्ण हो जाता। वर्तमान में हिन्दी का आदिवासी साहित्य अपनी प्रेरणा और दर्शन जहाँ आदिवासी समाज से ग्रहण करता है, वहीं भाषा और विधागत संरचना हेतु वह प्रयुक्त भाषा को स्वीकार करता है।

2.2 आदिवासी साहित्य की अवधारणा

आदिवासी और गैर आदिवासी समुदायों में साहित्य की परंपरा एक जैसी नहीं रही है। आदिवासी समुदाय में साहित्य अन्य कला रूपों के साथ सामूहिक अभिव्यक्ति का माध्यम है। वाचिक परंपरा के रूप में साहित्य की उपस्थिति आदिम दौर से आदिवासियों में विद्यमान रही है। आदिवासी समाजों में साहित्य न तो व्यक्ति केन्द्रित रहा है और न ही किसी की व्यक्तिगत उपलब्धि। साहित्य के केन्द्र में समूह के जीवन अनुभव का निचोड़ है, इसलिए उस साहित्य का रचयिता भी व्यक्ति न होकर समाज है।

2.2.1 आदिवासी साहित्य की परिभाषा

आदिवासी साहित्य को जानने समझने के क्रम में अनेक विद्वानों ने उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। विनायक तुमराम के शब्दों में "आदिवासी साहित्य वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है, यह उन वन-जंगलों में रहने वालों का साहित्य है जिनके प्रश्नों का अतीत मे कहीं उत्तर नहीं दिया गया

।... वनवासियों का क्षत जीवन जिस संस्कृति की गोद में छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की शुरूआत करने वाला है यह साहित्य। आदिवासी सहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम-वेदना का शब्द रूप है।"[105] वे आगे लिखते हैं कि 'पहाड़ों की गोद में और कंटीली झाड़ियों में, बस्ती-बस्ती में जिनके जीवन का हर क्षण श्रृंखलाबद्ध हुआ है। ऐसे जंगलवासियों को मुक्ति की आशा दिलाने वाला है।.. यह साहित्य आदिमों की सारी शिकायतों, फरियादों को साथ लेकर युग की यात्रा पर निकल पड़ा है। 'इस तरह विनायक तुमराम 'अतीत के प्रश्नों' के साथ जिन 'शिकायतों और फरियादों' का उल्लेख करते है, उन पर मराठी दलित आंदोलन की छाप दिखाई देती है।

विनायक तुमराम के अनुसार 'आदिम वेदना और आदिम जीवन चित्रण के साथ आदिवासी साहित्य उस व्यवस्था पर भी विचार करता है, जिसने उन्हें आदिम जीवन जीने के लिए मजबूर किया। इसलिए उसमें विद्रोही चेतना की खास झलक भी मिलती है। 'निःसन्देह उक्त धारणा मराठी दलित आंदोलन और साहित्य विमर्श से प्रभावित है। जो मानती है कि दलितों के साथ आदिवासी भी उस धार्मिक उत्पीड़न के शिकार रहे है जो कि भारत में हिन्दू धर्म की ब्राहमणवादी परंपरा की वाहक है। राजाराम भादू भी मानते हैं कि "आदिवासी साहित्य के उद्भव और परिप्रेक्ष्य निर्माण में मराठी के दलित साहित्य के संबंध को जोड़कर देखा जाना सही भी है, लेकिन आदिवासी अस्मिता और उसकी संघर्षधर्मी चेतना का विकास और प्रतिरोध संगठनों के निर्माण में नक्सलबाड़ी आंदोलन के प्रेरणास्त्रोतों को नजरंदाज कर दिया गया।"[106] इस प्रकार राजाराम भादू आदिवासी साहित्य के उभार में दलित विमर्श के साथ उग्र वामपंथी आंदोलनों की भूमिका को रेखांकित करते है।

आदिवासी भाषा-साहित्य के अध्येता और आदिवासी चिन्तक रामदयाल मुंडा के अनुसार- "आदिवासी साहित्य एक विशेष प्रकार का लोक साहित्य है, जिसके केन्द्र में होते हैं एक साथ रहने वाले समुदायों के सामूहिक जीवन-अनुभव। सामुदायिकता के वहन और निर्वहन की विलक्षण क्षमता को ही आदिवासी साहित्य के काव्य सृजन की रीढ़ कहा जा सकता है।"[107] काव्य चेतना को आधार बनाकर आदिवासी साहित्य की जो परिभाषा रामदयाल मुंडा देते है उसके तहत आदिवासी साहित्य सामाजिक प्रतिबद्धता को रेखांकित करने वाला साहित्य है। यह मुद्दों पर आधारित, प्रकृति, स्त्री और अन्य कमजोर तबकों की आवाज में आवाज उठाने वाला साहित्य है।

[105] तुमराम विनायक: आदिवासियों की अब तक की साहित्य यात्रा, 2002, पृ. 18

[106] पाण्डेय डॉ. मनोज: आदिवासी विमर्श: परंपरा के पुनर्पाठ की जरूरत, आलेख https://www.deshbandhu.co.in/vichar

[107] मुंडा रामदयाल: अस्तित्व के लिए संघर्ष- आदिवासी साहित्य का मुख्य सरोकार, पृ. 20

हिन्दी के प्रख्यात कथाकार कमलेश्वर आदिवासी साहित्य में विद्रोह का स्वर रेखांकित करते हैं- "ऐसे विषम हालात में जब पूरे भारत के आदिवासी समुदाय की जीवन-शैली खतरे में हो, उनकी भाषाओं की मृत्यु हो रही हो, तब वह और उसका साहित्य, यदि विद्रोह और असहमति की भाषा में बोलता हो, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए ।" [108] कमलेश्वर यह भी मानते है कि 'आदिवासी साहित्य मूलतः लोक संस्कृति का साहित्य है ।' लिखित साहित्य लोक संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त करता है, उनमें समाये जीवन दर्शन को अपने साहित्य का आधार बनाता है। आज आदिवासी साहित्य लोक साहित्य तक ही सीमित नहीं है, वह अब आगे लिखित रूप ग्रहण कर रहा है।

प्रो. के. सच्चिदानंदन के अनुसार 'आदिवासी साहित्य जीवनवादी साहित्य है । आदमी के सर्वांगीण उत्थान का सवाल लेकर यह स्थापित समाज व्यवस्था को ललकार रहा है ।' डॉ. गोपीराम शर्मा भी प्रो. के सच्चिदानंदन की उक्त परिभाषा से सहमत दिखाई देते है, उनके अनुसार-"आदिवासी साहित्य आदिवासियों के मूलभूत हकों से बेदख़ल करने वाली सभ्यता के प्रति विरोध की आवाज़ है, यह साहित्य आदिवासियों के अस्तित्व को बचाने के उपक्रम के रूप में सामने आया है"[109] वस्तुतः उक्त परिभाषाओं के उलट आदिवासी साहित्य में समाज के हक में कोई ललकार नहीं है। उसमें बदले की भावना नहीं है, वह बदलाव को रेखांकित करता है, जो कि सम्पूर्ण मानवता के हक में है । 'आदिवासी समाज से संवाद स्थापित करने में आदिवासी साहित्य एक सशक्त माध्यम है। आदिवासी साहित्य की लंबी मौखिक परंपरा के माध्यम से हम आदिवासी संस्कृति और जीवन दृष्टि के बुनियादी तत्त्वों की पहचान कर सकते है। वहीं समकालीन आदिवासी लेखन आदिवासी समाज और जीवन में हो रहे बदलावों से हमें रू-ब-रू कराता है। [110]

'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका की संपादक और हिन्दी में अस्मिता विमर्श की प्रमुख पैरोकार रही स्व. रमणिका गुप्ता ने आदिवासी साहित्य लेखन के कईं विशेषांक निकालकर हिन्दी पाठक वर्ग का परिचय उक्त साहित्य से कराया। अतः आदिवासी साहित्य के संबंध में इनका मत भी महत्त्वपूर्ण है, इनके अनुसार " मैं आदिवासी साहित्य उसी को मानती हूँ, जो आदिवासियों ने लिखा और भोगा है....अर्थात् आदिवासियों द्वारा, आदिवासियों के लिए, आदिवासियों पर लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य है ।"[111]उक्त परिभाषा आदिवासी साहित्य को भी दलित साहित्य की तरह स्वानुभूति का साहित्य सिद्ध करती है। आदिवासी कथाकार रूपलाल बेदिया उक्त परिभाषा से पूर्ण

[108] कमलेश्वर : आदिवासी अस्तित्व, अस्मिता और साहित्य, 2005, पृ. 22

[109] मीणा श्रवण कुमार : समकालीन विमर्श बदलते परिदृश्य, पृ. 22

[110] मीणा गंगासहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, 2017, भूमिका - जोहार

[111] रावत उषाकीर्ति : आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य (सं.) 2012, पृ. सं. 30

सहमत नहीं है। उनके अनुसार-"अगर आदिवासी विषय, दर्शन और संस्कृति के अनुकूल साहित्य गैर आदिवासी भी लिखते हैं तो उसे आदिवासी साहित्य मानना चाहिए।"[112]

आदिवासी साहित्यकार हरिराम मीणा भी आधिकारिक अनुभव पर आधारित गैर आदिवासियों के लेखन को आदिवासी साहित्य में समाहित करने पर सहमत है-"यदि कोई गैर आदिवासी लेखक अपने आदिवासी जीवन के आधिकारिक अनुभव के आधार पर साहित्य रच रहा है तो ऐसी साहित्यिक अभिव्यक्ति आदिवासी साहित्य की श्रेणी में आयेंगी। इसलिए हमारा यह आग्रह नहीं है कि जो जन्मना आदिवासी नहीं है वो आदिवासी साहित्य नहीं रच सकता। सवाल आधिकारिक अनुभव का है।"[113] आधिकारिक अनुभव की पुष्टि के लिए आदिवासी साहित्यालोचक और रचनाकारों ने आदिवासी दर्शन और संस्कृति का गहन अध्ययन मनन के साथ उससे लगाव को प्रमुख माना है।

गैर आदिवासियों के आदिवासी संबंधित लेखन के संदर्भ में वंदना टेटे मानती है कि-"गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासियों पर रिसर्च करके लिखी जा रही रचनाएँ शोध साहित्य है, आदिवासी साहित्य नहीं।"[114] रोज केरकट्टा भी वंदना टेटे के उक्त कथन से सहमत होते हुए लिखती है कि-"गैर आदिवासी द्वारा रचित आदिवासी विषयक साहित्य में शिल्प तो है, परन्तु आत्मा नहीं है। उसमें सर्जक अपनी दृष्टि से अच्छाई-बुराई का कलात्मक विवरण रखता है लेकिन आदिवासियों का सच उससे अलग है।"[115] आदिवासी रचनाकारों का साहित्य संसार अपनी प्रारंभिक अवस्था में है। इसलिए उनके कलात्मक सौन्दर्य में वह प्रौढ़ता नहीं है जो गैर आदिवासी लेखकों में है। पर उनमें आदिवासी दर्शन और आदिवासी समाज की समझ गैर आदिवासियों से बहुत ज्यादा है।

प्रो. व्यंकटेश अंजाम के अनुसार "जो आदिवासी जीवन से प्रेरणा लेकर लिखा हुआ है, वह आदिवासी साहित्य है।"[116] विनायक तुमराम आदिवासी साहित्य के प्रेरणा स्त्रोत को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि-"सही अर्थ में आदिवासी साहित्य का प्रेरणा स्त्रोत उनकी संस्कृति और बोली-भाषा है। अतः भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक विशेषताओं समेत आदिवासियों की विविध बोली-भाषाओं में अभिव्यक्त लोक साहित्य और लिखित साहित्य ही सही अर्थ में आदिवासी साहित्य होगा।"[117] लोक साहित्य को आदिवासी साहित्य में समाहित करने का प्रयास अधिकांश आदिवासी साहित्य

---

[112] टेटे वंदना : आदिवासी दर्शन और साहित्य, पृ. सं. 24

[113] गुप्ता रमणिका : युद्धरत आम आदमी, अंक 13, नबंवर 2014, पृ. सं. 64

[114] टेटे वंदना : जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी में दिये व्यक्तव्य से

[115] टेटे वंदना : एलिस एक्का की कहानियां, 2015, पृ. सं. 22

[116] अमीन खन्ना प्रसाद : आदिवासी साहित्य (सं.) 2017 पृ. सं. 24

[117] गुप्ता रमणिका : आदिवासी साहित्य यात्रा, 2016 पृ. सं. 29

आलोचकों ने किया है। प्रो गंगासहाय मीणा और वंदना टेटे इसे एक स्वर में पुरखा साहित्य घोषित करते हुए आदिवासी साहित्य की रीढ़ मानते है। आदिवासी कथाकार रूपलाल बेदिया वाचिक परंपरा में उपलब्ध आदिवासी लोक साहित्य को लिखित रूप दिये जाने के पक्षधर है-"हमारी वाचिक परंपरा में जो समृद्ध साहित्य है, उससे बाहरी समाज के लेखक परिचित नहीं है।उन्हें लिखित रूप में सामने लाने की जरूरत है।"[118]

आदिवासी साहित्य किसे माना जाए ? यह सवाल हिन्दी अकादमिक जगत में आदिवासी साहित्य को परिभाषित करने के क्रम में प्रमुखता से उठाया जाता है। डॉ. गंगासहाय मीणा द्वारा आदिवासी साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए लिखते है कि "आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य माना जाए।...आदिवासी दर्शन ही वह तत्त्व है, जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है।...जहाँ आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य की मूल शर्त है, वहीं इसे बचाना आदिवासी साहित्य आंदोलन का मुख्य ध्येय। निष्कर्षतः आदिवासी साहित्य आदिवासी दर्शन पर आधारित साहित्यिक आंदोलन है, जो आदिवासी परंपरा से अपने तत्त्व लेता है और 21वीं सदी के पहले दशक में अकादमिक जगत में अपना अलग साहित्यिक आंदोलन होने का दावा प्रस्तुत करता है।"[119]

उक्त परिभाषाओं से आदिवासी साहित्य की निम्न बातें उभर कर सामने आती है, पहली ये कि आदिवासी दर्शन ही आदिवासी साहित्य का आधार है। दूसरी आदिवासी दर्शन अन्य समाजों से भिन्न है। तीसरी यह कि आदिवासी दर्शन संकटग्रस्त स्थिति में है और आदिवासी साहित्य उसे बचाये रखने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। चौथी यह कि इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में इस साहित्यिक आंदोलन ने अपनी उपस्थिति दर्ज़ की है।

आदिवासी साहित्य आलोचक वंदना टेटे के अनुसार-" आदिवासी दर्शन के प्रवाह को संरक्षित, प्रसारित और साझा करने वाला तथा अपनी मूलभाषाओं में अभिव्यक्त होने वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य है।"[120] वंदना टेटे की आदिवासी साहित्य संबंधी उक्त परिभाषा से अधिकांश आदिवासी रचनाकार सहमत नज़र आते है। निष्कर्ष रूप में 'आदिवासी साहित्य जीवनवादी साहित्य है, जो आदिवासियों के मूलभूत अधिकारों से बेदख़ल करने वाली सभ्यता के प्रति विद्रोह का स्वर बुलंद करता है। यह आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता को बचाने के उपक्रम के रूप में सामने आता है।'

---

[118] टेटे वंदना : आदिवासी दर्शन और साहित्य, 2016, पृ. सं. 24

[119] मीणा गंगासहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, 2017, पृ. सं. 42

[120] टेटे वंदना : आदिवासी दर्शन और साहित्य, 2016, पृ. सं. 49

2.2.2 भूमंडलीकरण और हिन्दी में आदिवासी साहित्य का प्रादुर्भाव

बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में भारत में अनेक सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों और विमर्शों का उभार हुआ। महिलाओं, दलितों और किसानों के साथ आदिवासियों ने भी एकजुटता का प्रदर्शन करते हुए उन मांगों और मुद्दों को उठाया, जिन्हें अभी तक स्थापित राजनीतिक तंत्र द्वारा स्वीकार ही नहीं किया गया। साहित्य में इन्हें विमर्श या अस्मिताओं के उभार के रूप में देखा गया। उक्त सभी विमर्श अपने शोषण और अत्याचार के लिए अपनी अस्मिता को जिम्मेदार मानते है। अतः इन विमर्शों में उक्त समस्याओं से निपटने के लिए अपनी जातीय अस्मिता को और अधिक मजबूत करने तथा सामूहिक संघर्ष को अनिवार्य माना। इन अस्मितावादी विमर्शों के उभार में भूमंडलीकरण की अहम भूमिका है।

भारतीय आदिवासियों का इतिहास सघंर्षमय रहा है। कभी अपने संस्कार, रीति-रिवाज़, परंपराओं और अस्मिता को नष्ट किये जाने तो कभी बाहरी घुसपैठ के खिलाफ़, इन्होंने विद्रोह का झंडा लहराया। जल-जंगल और जमीन के साथ प्राकृतिक खनिज संसाधनों की लूट का इन्होंने विरोध किया। आजाद भारत में 'विकास के मंदिर' इन्हीं की जमीन पर इन्हें कुचलकर बनाये गये। भूमंडलीकरण के दौर में वैज्ञानिक प्रगति और विकास के भारी शोर-शराबे में आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता का सवाल गौण हो गया है। 'लोकतंत्र' 'समानता' और 'मुक्ति' जैसे शब्दों की प्रासंगिकता आदिवासी संदर्भ में बेमानी साबित हो रही है।

भूमंडलीकरण के मायने आदिवासी और गैर आदिवासी समुदायों के लिए अलग-अलग है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन दोनों समुदायों के मध्य भौतिक, सांस्कृतिक और वैचारिक स्तर पर शताब्दियों लंबा फासला है। आदिवासी चिंतक और लेखक हरिराम मीणा के अनुसार-"...आदिम समाजों की अस्मिता के सवाल को जब इस उत्तर आधुनिक एवं वैश्विक दौर में समझने का प्रयास किया जायेगा, तो एक छोर पर वह आदिम समाज है, जिन्हें हम आदिवासी के नाम से जानते है। ये लोग अभी भी जीवन के प्रति आदिम नजरिया अपनाये हुए है दूसरी ओर तकनीक से सम्पन्न वह वर्ग सामने आता है, जो राष्ट्र-समाजों की सीमाओं को तोड़ता हुआ, वैश्विक रूप से अग्रणी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।"[121]

आदिवासी साहित्य के अध्येता प्रो. गंगासहाय मीणा आदिवासी साहित्य आंदोलन के उभार में जिन ऐतिहासिक और भौतिक कारणों का उल्लेख करते हैं, उसमें भूमंडलीकरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका

[121] मीणा हरिराम: आदिवासी दुनिया, 2013, पृ. सं. 168

है। उनके अनुसार-"दो दशक पूर्व भारत की केन्द्रीय सरकार द्वारा शुरू की गई आर्थिक उदारीकरण की नीति ने बाज़ारवाद का रास्ता खोला। मुक्त व्यापार और मुक्त बाज़ार के नाम पर मुनाफे और लूट का खेल आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन से भी आगे जाकर उनके जीवन को दांव पर लगाकर खेला जा रहा है।"[122] आदिवासियों के अनवरत् विस्थापन के चलते अधिकांश आदिवासियों के लिए रोजी-रोटी के साथ अस्मिता को बचाये रखने का बड़ा संकट पैदा हो गया। सरकारों ने आदिवासियों की ओर ध्यान देना बंद कर दिया, इसलिए जब संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा वर्ष 1993 को 'देशज लोगों का अंतर्राष्ट्रीय वर्ष' के रूप में मनाने की घोषणा की, तो भारत सरकार ने आदिवासियों के अस्तित्व को ही नकारते हुए दलील दी कि 'संयुक्त राष्ट्र द्वारा परिभाषित इंडिजिनस लोग भारतीय आदिवासी या अनुसूचित जनजातियां नहीं है, बल्कि भारत के सभी लोग देशज लोग है।' आदिवासी साहित्य में भारतीय शासन व्यवस्था के उक्त दृष्टिकोण से असहमति व्यक्त की गई है।

बाज़ार और सत्ता के बीच सबसे बड़ा गठजोड़ आदिवासियों के खिलाफ़ भूमंडलीकरण के दौर में देखा जाने लगा। माओवादियों और सरकारों के बीच सत्ता की रस्साकशी में आदिवासियों की कुर्बानी दी गई। नदियों, पहाडों, जंगलों और आदिवासी पड़ोस के छिनते जाने से आदिवासियों की भाषा, संस्कृति और उनसे निर्मित पहचान भी छिन गई। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व पर इससे बड़ा खतरा पहले कभी महसूस नहीं किया गया। ऐसे में प्रतिरोध की संस्कृति का जन्म लेना आवश्यक हो जाता है। आदिवासियों ने न केवल सामाजिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति के माध्यम से अपना प्रतिरोध प्रदर्शित किया, अपितु कला और साहित्यि भी इसके माध्यम बने। समकालीन आदिवासी साहित्य इस तरह भूमंडलीकरण की उपज माना जा सकता है।

कुमार सर्वेश भूमंडलीकरण के समय के आदिवासी लेखन को पूर्व में लिखे गये साहित्य लेखन से भिन्न मानते है-"ऐसा नहीं है कि हिन्दी में इससे पहले आदिवासियों के जीवन पर नहीं लिखा गया, लेकिन पिछले ढ़ाई दशकों के दौरान उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की तेज होती प्रक्रिया के साथ आदिवासियों के जीवन में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का हस्तक्षेप बढ़ा है। उनके जल-जंगल एवं जमीन से संबंधित पारंपरिक अधिकारों पर अतिक्रमण शुरू हुआ, इसने आदिवासी क्षेत्रों में संघर्ष तो तेज किया। इस संघर्ष में राजसत्ता और प्रशासन का हस्तक्षेप बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं कॉरपोरेट्स के पक्ष में तथा आदिवासियों के विरूद्ध रहा। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें आदिवासियों की अस्तित्वगत और

[122] https://www.forwardpress.in/2016/04/tribal-literature-challenges-and-possibilities_hindi/

अस्मितागत बेचौनी ने एक पृथक एवं स्वतंत्र धारा के रूप में आदिवासी विमर्श की संभावनाओं को बल दिया।"[123]

प्रो.गंगासहाय मीणा आदिवासी साहित्य लेखन की शुरुआत भूमंडलीकरण के बरक़्स मानते है, जहाँ वे लिखते हैं कि-"समकालीन आदिवासी लेखन की शुरुआत हमें उदारवाद, बाज़ारवाद और भूमंडलीकरण के उभार से माननी चाहिए। भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज की, इसलिए इसका प्रतिरोध भी मुखर हुआ। शोषण और उसके प्रतिरोध का स्वरूप राष्ट्रीय था, इसलिए प्रतिरोध से निकली रचनात्मक उर्जा का स्वरूप भी राष्ट्रीय था। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक उर्जा का नाम ही समकालीन आदिवासी साहित्य आंदोलन है।"[124] प्रो.गंगासहाय मीणा आदिवासी साहित्य आंदोलन के रूप में इस लेखन को चिन्हित करते है न कि आदिवासी विमर्श के बतौर, क्योंकि 'विमर्श' बनते ही यह साहित्यिक परंपरा दलित और स्त्री लेखन की तरह स्वानुभूति का पाठ बनकर संकीर्ण धारा में सिमट जायेगी।

आदिवासी साहित्य के रुप और विषयवस्तु की विवेचना करते हुए गंगासहाय मीणा लिखते हैं कि -"आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकूओं द्वारा किए गए और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ़ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है । यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है, जो देश के मूलनिवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय के अधिकार' के साथ खड़ी होती है।"[125]

प्रो. गंगासहाय मीणा 'आदिवासी साहित्य की अवधारणा' के अंतर्गत आदिवासी साहित्य के मापदण्ड की 3 कोटियों का जिक्र करते हैं- पहली आदिवासियों के बारे में लिखा गया, दूसरी आदिवासियों के द्वारा लिखा गया और तीसरी आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य। वे इसके पीछे तर्क रखते है कि -"जहाँ भी वन, जंगल या किसी आदिवासी समुदाय का जिक्र आता है, उसे ही आदिवासी साहित्य मान लिया जाता है और इससे 20वीं सदी के आखिरी दशक में प्रमुखता से उभरे आदिवासी साहित्य के आंदोलन के बारे में भ्रमों का निर्माण होता चला जाता है।

[123] http://sarthaksamwad.blogspot.com/2018/09/blog-post.html
[124] मीणा गंगासहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, 2017, पृ. 42
[125] मीणा गंगासहाय : पूर्वोक्त, 2017, पृ. 42

आदिवासी चिंतक हिन्दी साहित्य में आए वन या आदिवासी प्रसंगों को आदिवासी साहित्य मानने से इनकार करते है।"[126]

बीसवीं सदी के अंत में आदिवासी साहित्य में आने बाले बदलावों को रेखांकित करते हुए सरिता देवी लिखती हैं कि "हिन्दी में आदिवासी साहित्य का व्यवस्थित विकास सन 1990 के बाद हुआ। स्वतंत्रता से पहले जो आदिवासी साहित्य लिखा गया है, उसमें आदिवासी जीवन की जाँच-पड़ताल बहुत सतही और रोमानी दृष्टि से की गई। लेकिन बीसवीं सदी के सातवें-आठवें दशक तक आदिवासी साहित्य में जो बदलाव आया, उसने आदिवासी साहित्य को एक नया मोड़ दिया।"[127] इस आदिवासी साहित्य में अस्मिता की खोज, दिकूओं द्वारा किये गये और किये जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों का उद्घाटन, आदिवासी अस्तित्व एवं अस्मिता के संकट और आदिवासी प्रतिरोध को अभिव्यक्त करने का कार्य किया है।

2.2.3 आदिवासी साहित्य की परंपरा और स्वरूप

आदिवासी साहित्य की परंपरा और स्वरूप का लेकर आदिवासी रचनाकारों के विचार एक जैसे नहीं है। प्रो. गंगासहाय मीणा आदिवासी साहित्यलेखन की परंपरा को तीन भागों में बांटकर देखते है- (क) पुरखा साहित्य (ख) आदिवासी भाषाओं में लिखित साहित्य परंपरा (ग) समकालीन आदिवासी लेखन।

डॉ. गंगासहाय मीणा के अनुसार पुरखा साहित्य परंपरा में पूर्वजों / पुरखों द्वारा रचित मौखिक लोक साहित्य को रखा जा सकता है। पुरखा साहित्य के संदर्भ में वे तीन बातों को प्रमुख रूप से उल्लेखित करते हैं-(1) आदिवासी समुदायों के भीतर लोक या शास्त्र जैसी साहित्यिक अवधारणा का न पाया जाना। (2) आदिवासी समाज और संस्कृति में पुरखों का बहुत महत्त्व होना। (3) परंपरा से प्राप्त गीतों, कथाओं के आदि रचयिता के रूप में पुरखों की भूमिका को आदर सहित याद करना।

डॉ. गंगासहाय मीणा और आदिवासी साहित्य आलोचक वंदना टेटे समान रूप से पुरखा साहित्य की अवधारणा पेश करते हैं। यह सही है कि आदिवासी समाज और संस्कृति में लोक या शास्त्र जैसा भेद नहीं है और हर आदिवासी भाषा में आदिवासी जीवन-दर्शन, ज्ञान-परंपरा और मूल्य-विश्वास मौखिक रूप दर्ज़ होते रहे है, पर आज भी आदिवासियों के बीच यह परंपरा समाप्त नहीं हुई है, अनवरत् जारी है। ऐसे में उसे पुरखा साहित्य में कैसे समाहित करेंगे, यह सवाल महत्त्वपूर्ण है ?

---

[126] https://www.adivasisahitya.page/2019/09/aadivaasee-saahitya-kee-avadha-Fyb-OS.html

[127] https://www.apnimaati.com/2020/07/blog-post_16.html

आदिवासी साहित्य के अंतर्गत मौखिक साहित्य परंपरा को शामिल करते हुए डॉ. गंगा सहाय मीणा लिखते हैं कि-"हमें साहित्य के पूर्व निर्धारित प्रतिमानों और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इस विषय पर विचार करना चाहिए। आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य और उसकी मौखिक परंपरा, आदिवासी साहित्य का मूल स्त्रोत है। सिर्फ़ हिन्दी में लिखित, मुद्रित आदिवासी लेखन को आदिवासी साहित्य कहना उचित नहीं है। मौखिक साहित्य इसका मूलाधार है।"[128] इस तरह मौखिक रूप में उपलब्ध पुरखा साहित्य को वर्तमान आदिवासी लेखन की पृष्ठभूमि के तौर पर देखा जा सकता है। यह अपनी साहित्यिक विरासत को आगे बढ़ाने के साथ पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता का भाव ज्ञापित करता है। यह पूर्णतया उचित है,क्योंकि यही वह मूल आदिवासी साहित्य है जो आदिवासी भाषा में ही नहीं, अपितु उस आदिवासी भाषा की अपनी विधा में प्रकट हुआ है।

आदिवासी साहित्य लेखन का दूसरा रूप आदिवासी मातृभाषाओं में रचित साहित्य है, भले ही उसकी विधाएं दूसरी भाषाओं से उधार ली गई हो। डॉ. गंगासहाय मीणा के अनुसार-"इसमें विधाएँ भले ही बाहरी समाजों और भाषाओं से ली गई है, लेकिन चूंकि रचनाकार अपनी मातृभाषा में लिख रहा है, इसलिए अभिव्यक्त विचार और दर्शन की मौलिकता बनी रहती है।"[129] आधुनिक हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में साहित्य की विधाओं के बतौर उपन्यास, कहानी, कविता, निबंध, नाटक आदि को स्वीकार कर लिया गया है, जो कि औपनिवेशिक दासता का परिणाम है। आदिवासी समाज का उस औपनिवेशिकता से सीधा सामना इक्कीसवीं सदी में जाकर हुआ है। ऐसे में विचारणीय तथ्य यह है कि क्या आदिवासी रचनाकार अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए उन्हीं टूल्स का चयन करे, जिन्हें हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं ने उन्नीसवीं सदी में अपना लिया था। क्या आदिवासी रचनाकार अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति इन नवीन विधाओं में समुचित तरीके से प्रकट कर पायेगा?

कोई भी रचनाकार अपनी मूल भाषा और उस भाषा की पारंपरिक विधाओं में जितना पारंगत हो सकता है ? उतना किसी दूसरी भाषा और उसकी विधाओं में नहीं। आदिवासी रचनाकार अगर अपनी मातृभाषा में अपनी परंपरागत विधा के साथ अपने को प्रस्तुत करता है तो वह मुख्यधारा से अलग अपनी साहित्यिक पहचान बना पायेगा। जहाँ न केवल उसे उसकी भाषाई जमीन का आधार मिलेगा, अपितु परंपरा से प्राप्त विधाओं का ज्ञान भी होगा। समस्या यह है कि जितने भी आदिवासी समुदाय है, उनकी उतनी ही भाषायें है। प्रत्येक भाषा उस समुदाय विशेष के सांस्कृतिक-साहित्यिक मानस को उजागर करती है, जिन्हें उस भाषा और समुदाय का जानकार व्यक्ति ही अच्छी तरह समझ

[128] मीणा गंगासहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, 2017, पृ. 46

[129] https://www.adivasisahitya.page/2019/09/aadivaasee-saahitya-kee-avadha-Fyb-OS.html

सकता है। इसलिए उचित होता कि आदिवासी साहित्य के अंतर्गत मूल रूप से उस साहित्य को रखा जाता, जो न केवल आदिवासी भाषा में अपितु उस भाषा की परंपरागत विधाओं में अभिव्यक्त हुआ हो ।

डॉ.गंगा सहाय मीणा समकालीन आदिवासी लेखन के अंतर्गत हिन्दी और उससे इतर अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं के मौलिक और अनूदित साहित्य को शामिल करते है। यह ठीक उसी तरह है जिस तरह हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक शुरूआती तीन कालखण्ड़ों में हिन्दी पट्टी के सभी भाषाओं की रचनाओं को उसमें जगह देते है और जब आधुनिक काल में खड़ी बोली हिन्दी की पर्याप्त रचना मिलने लगती है, तब अन्य बोली भाषा की रचनाओं को बाहर का रास्ता दिखा देते है।

वर्तमान में उपलब्ध आदिवासी साहित्य को मुख्य रूप से तीन भागों में बांटकर देखा जा सकता है (1) आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य (2) हिन्दी या अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में आदिवासी और गैर आदिवासी रचनाकारों द्वारा लिखित साहित्य (3) अनूदित साहित्य। आदिवासी भाषाओं में रचित साहित्य सीमित पाठक वर्ग और बाज़ार की अनुपलब्धता के चलते बहुत उपेक्षित है। वहीं गैर आदिवासी भाषाओं पर आदिवासी रचनाकारों की सीमित पकड़ और पाठक वर्ग की अनिच्छा भी आदिवासी रचनाकारों पर दोहरे आघात की तरह है। ऐसे में गैर आदिवासी रचनाकार आदिवासी समाज और उसके जीवन दर्शन से अनभिज्ञ होने पर भी अपनी लेखनी के बल पर अपनी कलात्मकता का प्रदर्शन करते हुए गैर आदिवासी पाठक की संवेदना बटोरने में कामयाब साबित होते है। फिर भी आदिवासी लेखक अपने सामाजिक वैयक्तिक जिम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता की लड़ाई में अपना योगदान कर रहे है।

2.2.4 आदिवासी साहित्य का प्रयोजन

किसी भी भाषा का साहित्य निरूद्देश्य नहीं होता है। आदिवासी लेखन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए प्रो. गंगासहाय मीणा लिखते हैं कि "[130]

प्रो. गंगासहाय मीणा आदिवासी समाज से संवाद स्थापित करने में आदिवासी साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते है। वे मौखिक और लिखित साहित्य परंपरा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि-"आदिवासी साहित्य की लंबी मौखिक परंपरा के माध्यम से हम आदिवासी संस्कृति और

130

जीवन-दृष्टि के बुनियादी तत्वों की पहचान कर सकते हैं, वहीं समकालीन आदिवासी लेखन आदिवासी समाज और जीवन में हो रहे बदलावों से हमें रू-ब-रू करवाता है।"[131]

आदिवासी साहित्य के उद्देश्य को रेखांकित करती हुई वंदना टेटे लिखती हैं कि 'आदिवासी साहित्य का उद्देश्य वह नहीं है, जो अन्य समाजों के साहित्य का है। मौजूदा व्यवस्था के शोषण-उत्पीड़न और उसके विरूद्ध नकार-प्रतिकार तथा विद्रोह मुद्राएं और गतिविधियां किसी भी समाज की मूल प्रवृतियां नहीं है। यदि साहित्य का उद्देश्य क्रान्ति, नया मनुष्य और नई व्यवस्था की रचना करना है तो आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार यह फौरी कार्यभार है, स्थाई जीवन मूल्य नहीं।...यह कहना कि आदिवासी साहित्य प्रतिरोध के लिए लिखा जा रहा है, आदिवासी दर्शन के मूल आधारों की अवहेलना है, उसका नकार है। जो लोग समाजवाद, प्रगतिशीलता आदि के वाद से प्रभावित है या फिर उनके 'कैडर' है, उन्हें यह समझना चाहिए कि बाहरी व्यवस्थाओं द्वारा आदिवासियों का शोषण पिछले तीन सौ सालों की परिघटना है, जो अब भी जारी है। अगर आज आदिवासी लेखन में इस शोषण का प्रतिकार आ रहा है तो इससे आदिवासियों का मूल दर्शन खारिज़ नहीं हो जाता, जो मूलत रचाव और बचाव का दर्शन है।'[132] आदिवासी साहित्य के केन्द्र में मनुष्य के साथ समस्त जीव-जगत और समष्टि शामिल है।

वंदना टेटे आदिवासी साहित्य को वेदना और प्रतिरोध का साहित्य माने जाने के खिलाफ़ है। वे लिखती हैं कि 'एक ओर प्रतिरोध का साहित्य वर्तमान सत्ता के खिलाफ़ लड़ने वालों की सत्ता स्थापित करता है, वहीं आदिवासी साहित्य ऐसी किसी कामना को प्रश्रय नहीं देता। आदिवासी साहित्य मूलत सृजनात्मकता का साहित्य है, जो दुनिया की सुंदरता, उसकी विविधता को बचाये रखने की हरसंभव कोशिश कर रहा है। आदिवासी साहित्य हर तरह की गैर बराबरी के खिलाफ़ है। इसलिए जब पूरी दुनिया एक संस्कृति-एक भाषा की ओर बढ़ती चली जा रही है, तब आदिवासी दर्शन मानव समाज की भाषाई और सांस्कृतिक विविधता के पक्ष में खड़ा हुआ है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ के आदिवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता देते हुए उनके अस्तित्व और अस्मिता को बचाने के लिए प्रतिबद्धता दर्शा रहा है।

आदिवासी साहित्य के उद्देश्यों को रेखांकित करते हुए ग्लैडसन डुंगडुंग लिखते हैं कि "आदिवासी साहित्य पर यह जिम्मेदारी है कि वे आदिवासी दर्शन आधारित सृजन से अपने नालायक भाई-बहनों की घर वापसी के लिए पुरजोर अभियान की शुरूआत करें। इसी के साथ गैर आदिवासी

[131] मीणा गंगासहाय: आदिवासी साहित्यः स्वरूप, चुनौतियां और संभावनाएँ, बहुवचन पत्रिका अंक- 42 पृ.सं. 38

[132] टेटे वंदना : वाचिकताः आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध, 2016, पृ. 36

लेखकों को भी यह जिम्मेदारी लेनी होगी कि उन्होंने स्टार बनने के क्रम में आदिवासी समाज के साथ जो अन्याय किया है, उसकी भरपाई वे आदिवासी दर्शन वाले साहित्य को रच कर करें, क्योंकि आदिवासी समाज-इतिहास के साथ जो कुछ गलत हुआ है उसे सही करने की जिम्मेदारी सब पर है और यदि ऐसा आप नहीं कर सकते हैं तो निवेदन है कि आदिवासियों पर लिखना बंद कीजिए।"[133]

2.2.5 आदिवासी साहित्य का आधार: आदिवासी दर्शन

हिन्दी में आदिवासी साहित्य विमर्श की चर्चा पिछले कुछ दशकों में जोर पकड़ी है, आदिवासी साहित्य को आदिवासी दर्शन की कसौटी पर परखे जाने की वकालत आदिवासी साहित्यकार और आलोचकों ने की है। अतः आदिवासी दर्शन को जानना समझना नितांत आवश्यक है।

डॉ. गंगासहाय मीणा ने 'आदिवासी साहित्य की अवधारणा' प्रस्तुत करते हुए आदिवासी साहित्य की 3 कोटियां बनाई हैं- पहली आदिवासियों के बारे में लिखा गया, दूसरी आदिवासियों के द्वारा लिखा गया और तीसरी आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य। प्रो. गंगासहाय मीणा अंतिम कोटि को ही आदिवासी साहित्य के रूप में देखे जाने के पक्षधर है। आदिवासी साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं कि "आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य माना जाए।....आदिवासी दर्शन ही वह तत्त्व है, जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है।...जहाँ आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य की मूल शर्त है, वहीं इसे बचाना आदिवासी साहित्य आंदोलन का मुख्य ध्येय।"[134]

आदिवासी साहित्यालोचकों का मानना है कि 'आदिवासियों द्वारा लिखे जाने मात्र से भी आदिवासी साहित्य का निर्माण नहीं होता, क्योंकि अनुभूति की प्रामाणिकता लेखन का एकमात्र आधार नहीं बनती, उसमें अभिव्यक्ति कौशल भी उतनी ही जरूरी है। दूसरी बात यह है कि भारतीय आदिवासी समाज सांस्कृतिक हमलों के कटु दौर से गुजरा है, जिनके कारण उनमें हिन्दू धर्म और ईसाईकरण का व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसने उनकी मौलिक समझ और दर्शन को काफ़ी हद तक प्रभावित किया है। ऐसे में आदिवासी दर्शन ही वह तत्व है, जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है।'

गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासी साहित्य लेखन पर तीन आरोप मूलतः लगाये जाते है, पहला उसके लोक साहित्य होना, दूसरा अनगढ़ होना और तीसरा प्रतिरोध का साहित्य होना। इन तीनों ही

[133] टेटे वंदना : आदिवासी दर्शन और साहित्य, 2015, पृ. 66-67

[134] मीणा गंगासहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, 2007, पृ. सं. 42

आरोपों को लेखिका वंदना टेटे वेबुनियाद और आदिवासी जीवन दर्शन की सही समझ न होने का परिणाम मानती हैं। वे आदिवासी साहित्य को लोक साहित्य के अंतर्गत समाहित करने का विरोध करती हुई, आदिवासी साहित्य में लोक और शिष्ट के विभाजन को नकारती है- "प्रकृति-पूजक और बोंगा को मानने वाले आदिवासियों के साहित्य को हिन्दू धर्म की शब्दावली 'लोक' में बाँध कर संकीर्ण करना धार्मिक असहिष्णुता तो है ही, सांस्कृतिक अतिक्रमण भी है।"[135]

यह सही है कि आदिवासी समाज और संस्कृति में बहुसंख्यक हिन्दू धर्म और संस्कृति की भाँति लोक और वेद, लोक और शास्त्र, लोक और कुलीन जैसा भेदभाव उतना प्रभावी न तो पूर्व में रहा और न ही आज है। आदिवासी साहित्य को अनगढ़ बताने का मुख्य कारण वंदना टेटे के अनुसार साहित्य आलोचकों के आदिवासी सामूहिकता, सहजीवता और सह अस्तित्व के दर्शन से अपरिचित होना है। इसलिए प्रायः देखा जाता है कि आदिवासी साहित्य परंपरा में रचनाकार अदृश्य होता है, किसी ने कुछ रचना शुरू किया तो बहुत सारे दूसरों ने उसे पूरा करने में योगदान दिया। जहाँ तक प्रतिरोध का साहित्य होने की बात है वंदना टेटे इससे असहमत नज़र आती है। वे लिखती हैं कि 'प्रतिरोध का साहित्य वर्तमान सत्ता के खिलाफ़ लड़ने वालों की सत्ता स्थापित करना चाहता है, लेकिन आदिवासी साहित्य में ऐसी कोई कामना दूर-दूर तक नहीं है।'

2.2.6 आदिवासी दर्शन और लेखन: आदिवासी बनाम गैर आदिवासी

आदिवासी साहित्य की अवधारणा क्या है? उसके लिए किसी खास नजरिये की बात क्यों की जा रही है। आदिवासी साहित्य किस रूप में दूसरे साहित्य से अलग और महत्त्वपूर्ण है? आदिवासी साहित्य के मानदंड क्या है? भाव, विचार और रूपगत शैली के आधार पर आदिवासी साहित्य को देखने का नजरिया क्या हो? ऐसे सवालों का सामना आदिवासी लेखकों और उनके लेखन को समीक्षा के क्रम में करना पड़ता है। आदिवासी दर्शन के आलोक में ही इन सवालों का उत्तर दिया जाना संभव है।

आदिवासी विषयक होने मात्र से कोई साहित्य रचना आदिवासी साहित्य की कोटि में नहीं आता है। इस संबंध में वंदना टेटे लिखती हैं कि-"एक स्वायत्त और स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापित होने के क्रम में उसे वैसे साहित्य का सामना करना पड़ रहा है, जिनका विषय तो आदिवासी है, पर साहित्य आदिवासी दर्शन और संस्कृति के अनुरूप नहीं है। सीधे शब्दों में कहे तो जिस आदिवासी साहित्य में आदिवासी दर्शन नहीं है, जिन्हें आदिवासी साहित्य कह कर प्रचारित, वाचित और पाठित

[135] टेटे वंदना : आदिवासी साहित्यः परंपरा और प्रयोजन, 2013, पृ. 84

किया जाता रहा है, इनमें से अधिकांश मूलतः और प्रथमतः आदिवासी लेखन नहीं है। जिसके कारण आदिवासी साहित्य की सुस्पष्ट अवधारणा या वैचारिकी को समझने में मुश्किलें आ रही हैं।"[136]

हिंदू दक्षिण और वामपंथी विचारकों के साथ गांधी, लोहिया अंबेडकर के अनुयायियों ने भी आदिवासी समाज और साहित्य की अवधारणा को अपने तईं गढ़ा है, जिसमें सभी ने आदिवासी दर्शन की जगह अपनी वैचारिकी के भीतर इन्हें समाहित करने की पुरजोर कोशिश की। वंदना टेटे इन्हें 'एक ही झंडे के झंडाबरदार' और 'एक ही साम्राज्यवादी नस्ल की उपनस्लें' मानती हुई कटु आलोचना करती हैं। वे लिखती हैं कि-"वेद, कुराण और बाइबिल से शासित विभिन्न धार्मिक समूह, जो दुनिया के मानव संसाधन सहित सभी भौतिक संसाधनों पर अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए एक-दूसरे से होड़ में हैं, अंततः उन सभी की एक ही दार्शनिक आधारभूमि है। चाहे उनके राजनीतिक विचार और झंडे किसी भी रंग के हो।... उनमें आपसी युद्ध सिर्फ़ सत्ता को लेकर है। इसलिए आदिवासी उन सभी नस्लों और धर्मों के वर्चस्व और घृणा का एक समान पात्र है।"[137]

वंदना टेटे मार्क्सवादियों को भी इसमें शामिल मानती है जो आदिवासियों को आर्थिक आधार पर साम्राज्यवाद विरोधी अभियान का दस्ता मानता है और सांस्कृतिक स्तर पर आर्य संस्कृति में समरस कर लेने पर उतारू है। दरअसल गैर आदिवासी लोग एक सत्ता की जगह दूसरी सत्ता की स्थापना के लिए संघर्ष कर रहे हैं, जो अभी से बेहतर और ज्यादा मानवीय होगी, लेकिन आदिवासी अमानवीय, कम अमानवीय या बिलकुल अमानवीय जैसी व्यवस्था के खिलाफ़ या पक्ष में संघर्ष नहीं कर रहे है। वे जिस व्यवस्था रहित समाज में जी रहे हैं, उसे बचाने के लिए संघर्ष कर रहे है।

आदिवासी जीवन पर गैर आदिवासियों द्वारा किए जा रहे लेखन के संबंध में गंगासहाय मीणा का मानना है कि "वह उस लेखकीय संवेदनशीलता का परिचायक है, जो साहित्य मात्र के उद्देश्य, अनुभव और संवेदनशीलता के विस्तार का समर्थन करती है। वह भी हिंदी साहित्य की धरोहर है, लेकिन जैसे सभी युगों की प्रगतिशील कविताएँ 'प्रगतिवाद' नामक साहित्यिक आंदोलन में शामिल नहीं की जा सकती, वैसे ही आदिवासी जीवन के किसी पक्ष पर लेखन मात्र आदिवासी साहित्य नहीं कहा जा सकता।...आदिवासी जीवन पर गैर-आदिवासी लिखें। किसी भी विषय पर कोई भी लिख सकता है, पाठक को पढ़ने से कोई नहीं रोक सकता।"[138] इस प्रकार गंगासहाय मीणा आदिवासी विषय पर हर

[136] टेटे वंदना : वाचिकताः आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध, 2016, पृ. 20

[137] टेटे वंदना : पूर्वोक्त 2016, पृ.21

[138] मीणा गंगासहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, 2017, पृ. 44

लेखक के लिखे का समर्थन तो करते हैं पर ऐसे हर लेखन को आदिवासी साहित्य की कोटि में रखने के पक्षधर नहीं है।

वंदना टेटे का मानना है कि आदिवासी ही अच्छी तरह अपनी दास्तान लिख सकता है- "मुख्यधारा की सोच, भाषा और दृष्टिकोण से आदिवासी जीवन पर किया लेखन रिसर्च हो सकता है, लेकिन आदिवासी साहित्य नहीं। आदिवासी ही अपनी पीड़ा को सही ढंग से बयान कर सकता है उसकी समस्याएँ प्रधानतः आर्थिक नहीं हैं जैसा कि अधिकांश रचनाकारों ने चित्रित किया है।"[139] वे इसे और अधिक स्पष्ट करती हुई लिखती हैं कि 'आदिवासी साहित्य अन्य शोषितों के साहित्य की तरह वेदना और प्रतिरोध का साहित्य नहीं है। आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इंसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है जो मानता है कि प्रकृति, सृष्टि में जो कुछ भी है जड़-चेतन, सब सुंदर है।'[140]

ऐसा नहीं है कि आदिवासी का लिखा हर लेखन आदिवासी साहित्य का भाग मान लिया जायेगा। इस पर विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करती हुई वंदना टेटे लिखती हैं-"आदिवासी विषय पर लेखन और दृष्टि का सवाल गैर आदिवासी लेखकों के साथ-साथ आदिवासी लेखकों पर भी समान रूप से लागू होता है। जब हम देखते हैं कि वे उन्हीं के साहित्यिक-सांस्कृतिक उपकरणों व शब्दावलियों के जरिये, जो बाहरी यानि मुख्यधारा की दृष्टि से संपृक्त है, लेखन कर रहे हैं। मुख्यतया वैसे आदिवासी लेखक जो भाषा-संस्कृति की सामाजिक-राजनीतिक भूमिका को लेकर सचेत् नहीं होते हैं, 'बाहरी' (हिंदी या अंग्रेजी) भाषा में शिक्षित हुए हैं, वे उन्हीं मूल्यों के सहारे खुद को अभिव्यक्त करते हैं जो उनका नहीं है।" [141]

2.2.7 आदिवासी दर्शन और आदिवासी साहित्य का रांची घोषणा पत्र[142]

आदिवासी साहित्य की वैचारिकी और प्रवृतियों के निर्धारण हेतु जून 2014 में राँची शहर में 'आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी सृजन' विषय पर राष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन हुआ। झारखंडी भाषा, साहित्य, संस्कृति अखड़ा नामक संगठन द्वारा आयोजित इस सेमिनार में आदिवासी

---

[139] मीणा गंगासहाय : पूर्वोक्त, 2017, पृ. 43

[140] http://epgp.inflibnet.ac.in/epgpdata/uploads/epgp_content/s000018hi/p001377/m016624/et/1466051719hnd_p12_m31.pdf

[141] मीणा गंगा सहाय : आदिवासी साहित्य विमर्श, 2014 पृ. 196

[142] मीणा गंगा सहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका , 2016

सिद्धांतकारों ने एक 15 सूत्रीय घोषणा पत्र जारी किया, जिससे आदिवासी साहित्य की सही समझ पैदा हो और आदिवासी जीवन दर्शन और आदिवासी साहित्य की विचारधारा को समझा जा सके। यहाँ उनका उल्लेख करना उचित होगा।

- आदिवासी साहित्य में आदिवासी दर्शन का अनिवार्य तत्व है उसका प्रकृति की लय-ताल और संगीत का अनुगामी होना।
- प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव।
- परलोक की बजाय समस्त जीव-जगत की महत्वपूर्ण स्थिति।
- मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे का नकार।
- प्रकृति के साथ रचाव बचाव का व्यवहार।
- बाज़ारवादी लालसा और उससे उपजी धनलोलुपता तथा हिंसा का नकार।
- जरूरत के मुताबिक उपभोग और बचे हुए को दूसरों के लिए संरक्षित करना, जिसमें इंसान ही नहीं प्राणी जगत का हर जीव शामिल है।
- जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा।
- दुनिया की हर वस्तु में सुंदरता का वास यानि कुछ भी असुंदर नहीं।
- रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि के प्रति कोई पूर्वाग्रह नहीं।
- हर तरह की गैर-बराबरी का विरोध।
- भाषायी और सांस्कृतिक एकरूपता की जगह विविधता का समर्थन।
- आदिवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार का पक्षधर। आदिवासी स्वायत्ता और स्वशासन का पक्षधर।
- सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर।
- मिथकों का डिकोडीकरण यानि आदिवासियों की खलनायक की छवि पर सवाल उठाना आदि ।

आदिवासी साहित्य में उक्त विषयों के साथ आदिवासी आंदोलनों की परंपरा और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में आदिवासियों की भागीदारी को उजागर किया जा रहा है। साम्राज्यवाद के साथ-साथ सामंतवाद से टकराहट को व्यक्त करने और वर्तमान में आदिवासियों के सामने आने वाली समस्याओं जैसे- विस्थापन की समस्या, आर्थिक शोषण, बाहरी दखल से पैदा हुई समस्याओं का चित्रण आदिवासी साहित्यकारों का केन्द्रीय विषय है। आदिवासी रचनाकारों की मातृभाषा हिन्दी नहीं है इसलिए उन रचनाओं की द्विभाषी प्रस्तुति इसकी प्रमुख विशेषता मानी जा सकती है।

2.2.8 आदिवासी दर्शन और आलोचना (आदिवासी साहित्य विमर्श पर प्रो.वीरभारत तलवार के आक्षेप)

प्रोफेसर वीरभारत तलवार आदिवासी साहित्य और झारखंडी आदिवासी समाज के गहन अध्येता है। इन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग आदिवासियों के लिए काम करते हुए बिताया है, इसलिए आदिवासी साहित्य और समाज के संदर्भ में इनकी राय बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रो. तलवार सवाल उठाते है कि आदिवासी साहित्य विमर्श जो कि मूल भारतीय भाषाओं में अभिव्यक्त हो रहा है, वह आदिवासी समाज के विमर्श से अपने को कहां तक जोड़ पाने में सफल हुआ है और दूसरी बात यह कि आदिवासी विमर्श में आदिवासी समाज की कितनी उपस्थिति है- "यह देश बहुत बड़ा है और आदिवासी भी पूरे देश में फैले हुए हैं। एक नहीं, कई तरह के आदिवासी। उनकी अपनी भाषा है, अपना समाज है। हिन्दी साहित्य में अगर कोई विमर्श चला है या अंग्रेजी में, पत्रकारिता में चल रहा है, तो उसको हम अपने अर्थ में, अपने संदर्भ में आदिवासी विमर्श भले ही कह लें, पर आदिवासी समाज के अन्दर वह विमर्श कितना है? सवाल तो इस बात का है। यह आदिवासी विमर्श हमारी भाषा में हमारे समाज का है, लेकिन वह आदिवासी समाज का अपना कितना है? इसे देखने की जरूरत है।"[143]

प्रो. वीर भारत तलवार आदिवासी विमर्श की कमजोर स्थिति का रेखांकन करते हुए लिखते हैं कि -"हिन्दी में आदिवासी विमर्श एक कमजोर स्थिति में हैं। उनके कारण बहुत स्पष्ट है। आदिवासी विमर्श करने के लिए आदिवासियों के बारे में जानना बहुत जरूरी है और आदिवासियों को जानने के लिए उनके बीच जाना बहुत जरूरी है। बड़े-बड़े लेखक हैं जिन्होंने अदिवासियों पर कुछ लिख मारा है, बिना आदिवासी समाज की गहराई को समझे।"[144] दरअसल उनका यह कटाक्ष उन लेखकों के लिए है जो आदिवासियों पर सतही लेखन कर आदिवासी साहित्यकार के रूप में जाने जाते है।

प्रो. वीरभारत तलवार हिन्दी में आदिवासी विषयक लेखन की कमी के लिए साहित्यकारों की आदिवासी समाज के प्रति जानकारी के अभाव को मानते है। "हिन्दी में आदिवासी के बारे में लिखने वाले बहुत कम हैं। उसका कारण है कि हिन्दी के लेखक की दुनिया सीमित है। आदिवासी समाज ऐसा नहीं है कि आप जिस तरह मध्य वर्ग के समाज पर लिखते हैं, वैसे आदिवासी समाज पर लिख देंगे। यह भिन्न समाज है। एक भिन्न ऐतिहासिक अवस्था में है। एक भिन्न सांस्कृतिक मानस के साथ भिन्न जीवन शैली और मूल्यों को लेकर चलने वाला समाज है। जब तक आपको उसकी अंदरूनी जानकारी न हो, जब तक आपने वर्षों तक उनके बीच रहकर उनके साथ जीवन न जिया हो, आप उस समाज को

[143] तलवार वीरभारत : आदिवासी अस्मिता का सवाल, डॉ. रमेश चंद मीणा: आदिवासी विमर्श (सं.), पृ. 2

[144] तलवार वीरभारत : आदिवासी विमर्श: धर्म, संस्कृति और भाषा का सबाल कहां है? तिरछी स्पेलिंग ब्लॉग से

गहराई से चित्रित नहीं कर सकते है ।"[145] प्रो. तलवार आदिवासी विमर्श के सीमित दायरे को सूचित करते हुए लिखते हैं कि -"अंग्रेजी में कुछ लोगों ने आदिवासियों पर लिख कर जो सनसनी और एक चिंता फैलाई है, उसमें कुछ पढ़े लिखे हिन्दी लेखकों ने योगदान दिया और थोड़े से पढ़े लिखे आदिवासियों ने भी, लेकिन ये विमर्श के बहुत छोटे दायरे को सूचित करता है ।"[146]

हिन्दी के आदिवासी विमर्श के लिए दलित साहित्य प्रेरणा बना है, इस पर प्रो. तलवार आदिवासी लेखकों की साहित्य संबंधी समझ पर सवाल खड़ा करते है? जाहिर है वे साहित्य के हिन्दी मानकों की कसौटी पर आदिवासी लेखकों को खरा नहीं पाते हैं । वे इसे दलितों की देखा-देखी में चलाया गया विमर्श मानते है-" मेरा खयाल है कि दलित साहित्य की जो अवधारणा हिन्दी साहित्य में चली है, यह उसी की नकल पर खड़ा किया गया सवाल है । दलितों ने जब दलित साहित्य की अवधारणा बना ली तो फिर आदिवासी साहित्य की अवधारणा क्यों न बनाई जाए?"[147]

प्रो. वीरभारत तलवार लिखते हैं कि 'आदिवासियों के बारे में हमेंशा साहित्य लिखा जाता रहा है । खुद आदिवासी भी लिखते रहे हैं, दूसरे लोग भी लिखते हैं, कभी किसी ने यह सवाल नहीं उठाया कि आदिवासी साहित्य की अवधारणा क्या हो? किसको कहेंगे आदिवासी साहित्य?... आदिवासी साहित्य का यह जो सवाल है, इसे खुद आदिवासी भाषाओं के लेखकों ने नहीं उठाया ।... फिर किसने उठाया? यह सवाल हिन्दी के लेखकों ने उठाया । हिन्दी में आदिवासी साहित्य पर विमर्श करने वालों ने उठाया । जो लोग हिन्दी में अपना साहित्य लिखते हैं, जो लोग हिन्दी के माध्यम से आदिवासियों की चर्चा करते हैं- वे खुद चाहे आदिवासी हों या गैर आदिवासी, ऐसे ही लोगों ने यह सवाल उठाया है ।"[148]

प्रो. तलवार मानते है कि 'आदिवासी साहित्य वही है, जो आदिवासी भाषाओं में प्राथमिकता से लिखा गया है, इसलिए यह विमर्श भी आदिवासी भाषाओं में ही चलना चाहिए । इस तरह तलवार जी मुंडारी और संथाली जैसी भाषाओं में उस विमर्श की खोज करना चाहते है, जो वहाँ पहले से विद्यमान है । इन भाषाओं में लिखा साहित्य चाहे 'ऑरेचर' के रूप में हो या साहित्य की आधुनिक विधाओं में, उनमें आदिवासी जीवन दर्शन की उपस्थिति सहज ही है । संथाली या मुंडारी जैसी आदिवासी भाषाओं में आदिवासी विमर्श खोजने की जगह उनमें आदिवासी दर्शन से परे जो चल रहा है वह खोज का विषय होना चाहिए । प्रो. वीरभारत तलवार आदिवासी भाषाओं में ही आदिवासी विमर्श के तत्त्व खोजने की वकालत करते है-'यह विडंबना ही है कि जो संथाल असल में आदिवासी साहित्य लिख रहे हैं, वे

---

[145] तलवार वीरभारत : आदिवासी अस्मिता का सवाल, पूर्वोक्त पृ. 2-3

[146] तलवार वीरभारत : आदिवासी अस्मिता का सवाल, पूर्वोक्त पृ. 3

[147] तलवार वीरभारत : आदिवासी और आदिवासी साहित्य की अवधारणा, तदभव पत्रिका, अंक 34, पृ. 38

[148] तलवार वीरभारत : पूर्वोक्त ,पृ. 38-39

आदिवासी साहित्य का विमर्श नहीं चलाते और जो आदिवासी साहित्य का विमर्श चला रहे हैं, वे इसे आदिवासी भाषाओं के साहित्य में नहीं चला रहे हैं, हिन्दी में चला रहे है।'

इस स्थिति को और भी अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त करते हुए वे लिखते हैं कि-'वास्तव में बांग्ला, उड़िया या हिन्दी आदि भाषाओं में लिखा साहित्य, चाहे उसे गैर आदिवासियों ने लिखा हो या आदिवासियों ने, वह बांग्ला, उड़िया या हिन्दी भाषा का ही साहित्य माना जाऐगा, साहित्य की विषयवस्तु चाहे जो हो।' प्रो. गंगासहाय मीणा तलवार जी के इस विचार से असहमत है कि हिन्दी में लिखा आदिवासी साहित्य सिर्फ़ हिन्दी का ही साहित्य माना जायेगा, आदिवासी साहित्य का नहीं। वे कहते हैं कि 'हिन्दी क्षेत्र, हिन्दी जाति और हिन्दी प्रदेश की बात करते समय हम उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तराखंड़, झारखंड, बिहार, राजस्थान, हिमाचल आदि के पूरे क्षेत्र और जनसंख्या को उसमें शामिल मानते है, लेकिन उनकी भाषाओं और साहित्य को कभी अपना नहीं मानते है।' क्या इस क्षेत्र में निवासरत् लेखक का आदिवासी दर्शन आधारित हिन्दी साहित्य आदिवासी साहित्य का हिस्सा नहीं माना जायेगा?"

प्रो. वीरभारत तलवार आदिवासी समाज और साहित्य के अनेक संकटों का जिक्र करते हुए आदिवासी विमर्श की सीमाओं को उजागर करते है। आदिवासी समाज के संबंध में वे लिखते हैं कि "आदिवासी समाज की जो एक बड़ी समस्या है, वह है शिक्षित लोगों की अपने समाज और संस्कृति के प्रति हीन भावना। ये जो हीनता की भावना है और जो पैदा की गई है, उनकी भाषाओं के प्रति, उनकी संस्कृति के प्रति, कुछ व्यक्ति के रूप में इसमें उबरे हुए है आदिवासी विमर्श में, लेकिन आदिवासियों की सामान्य भावना हीनता की भावना है। एक आत्म सम्मान का आंदोलन जो अंबेडकर ने दलितों में चलाया और सफल हुए, वो आदिवासियों में अभी तक नहीं है।... 'दुर्भाग्य से आदिवासियों के बीच अभी तक कोई अंबेडकर नहीं हुआ।"[149]

प्रो. वीरभारत तलवार आदिवासियों में अंबेड़कर की तरह नायकत्व के अवतार की आकांक्षा अनायास ही व्यक्त नहीं करते हैं। गैर आदिवासी परंपरा के प्राचीन साहित्य से लेकर भारतीय सिनेमा जगत की सभी आधुनिक फिल्में समाज की समस्याओं को चमत्कारी नायकत्व के माध्यम से हल करने का प्रयास करती है, क्योंकि व्यक्तिवादी समाज अपनी समस्याओं का हल इसी नायकत्व की अवधारणा में देखता है, सामुदायिकता में नहीं। अंबेडकर जिस मानवतावादी लोकतांत्रिक समाज की स्थापना का स्वप्न दलितों को दिखाते हैं, वह आदिवासी समाज का आधारभूत सिद्धान्त रहा है। आदिवासी समाज में गड़बड़ी बाहरी समाजों द्वारा पैदा की गई है, आदिवासी आजीविका स्त्रोतों और

[149] https://tirchhispelling.wordpress.com/2013/04/29

जीवन शैली पर किया गया प्रत्यक्ष हमला और अप्रत्यक्ष सांस्कृतिक वर्चस्व ने आदिवासी समाजों को पतन के गर्त में धकेला है। ये आदिवासी समुदाय प्राकृतिक खनिज संसाधनों से भरपूर वन संपदा के मालिक थे, न कि दलितों की तरह सर्वस्वहीन समाज। बाबा साहब का संविधान आज भी आदिवासी हितों की सुरक्षा की गारंटी देता है, फिर भी आदिवासियों का शोषण पूर्ववत् जारी है।

एक ओर प्रो. वीरभारत तलवार आदिवासी विमर्श के प्रति नकार का भाव रखते हुए कहते हैं कि 'हिन्दी में आदिवासी विमर्श हिन्दी के साहित्यकार लोग नहीं चला सकते, क्योंकि उनको आदिवासी समाज का कोई ज्ञान नहीं है।' वहीं दूसरी ओर आदिवासी विमर्श में संस्कृति, भाषा और धर्म के सवाल को ठीक ढंग से नोटिस नहीं किये जाने पर चिंता व्यक्त करते है। वे आदिवासी विमर्शकारों को गंभीरतापूर्वक इस बात के लिए सोचने के लिए प्रेरित करते हैं कि बगैर भाषा के संस्कृति का बचाव किस सीमा तक सफल हो सकेगा।

प्रो. तलवार जमीनी संघर्ष के बगैर आदिवासी विमर्श की बात को बेमानी मानते हैं- 'आदिवासियों को अपने समाज और संस्कृति के प्रति आत्म सम्मान और आत्म गौरव का एक आंदोलन चलाने की सख्त जरूरत है, ताकि उनमें अपनी परंपरा और मूल्यों के प्रति हीनता की भावना नहीं आए, बल्कि वे इन पर गर्व कर सकें। दुर्भाग्य की बात है कि आज आदिवासियों के बीच न कोई सांस्कृतिक आंदोलन चल रहा है, न ही राजनीतिक आंदोलन, जबकि उनके जल, जंगल और जमीन को लूटने की शक्तियां इस समय पूरी तरह सक्रिय है।'

प्रो. वीरभारत तलवार जी का यह दृष्टिकोण मुख्यधारा के जनसंचार माध्यमों में आदिवासी सवालों की अनुपस्थिति को देखते हुए सही साबित होता है, पर पूर्वोत्तर भारत के भाषाई और जातीय अस्मिता आधारित आंदोलन और मध्य भारत के बाहरी लूट विरोधी जमीनी संघर्ष, जो नक्सलबाड़ी से शुरू होकर सिंगूर-नंदीग्राम, उड़ीसा के नियमगिरी से लेकर छत्तीसगढ़ के बस्तर और झारखंड के नये पत्थलगढ़ी आंदोलन में जिसकी उपस्थिति अनवरत् बनी हुई है, उसे अस्वीकार करता है। जो आदिवासी क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों की न्यूनता लिए हुए है, वहाँ भी सांस्कृतिक अस्मिता को बनाये रखने के लिए जागृति अभियानों को देखा जा सकता है।

प्रो. वीरभारत तलवार का मानना है कि 'वैश्विक पूँजीवाद के हमलों के मुकाबले आदिवासी एक हारी हुई लड़ाई लड़ रहे हैं। उनका प्रतिरोध किसी न किसी स्तर पर चलता जरूर रहेगा, लेकिन सवाल है कि क्या आदिवासी अपने समाज और संस्कृति को बचा पायेंगे? बचा पायेंगे तो कितना और किस रूप में।' पर यह सवाल आदिवासियों के साथ गैर आदिवासी समाजों पर भी उतनी ही शिद्दत से लागू होता है। आदिवासी इस व्यवस्था में अपनी जमीन से उखड़ेंगे जरूर, पर वे अकेले इसका शिकार नहीं

होंगे, अपितु समाज का बहुसंख्यक वर्ग जो बाज़ार का हिस्सा नहीं बन पायेगा, वो भी इन नीतियों का शिकार होगा।

आदिवासी साहित्य पर झारखण्ड़ की राजधानी रांची में 14-15 जून 2014 को 'आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी साहित्य' विषय पर दो दिवसीय सेमिनार का आयोजन किया गया। जिसमें आदिवासी दर्शन को आदिवासी साहित्य का आधार घोषित किया, इसे लेकर वीरभारत तलवार काफ़ी सशंकित है- "आदिवासी दर्शन के इन सूत्रों की रचना आदिवासियों के बारे में लिखने वाले गैर आदिवासी हिन्दी लेखक-लेखिकाओं जैसे- रणेन्द्र, महुआ माजी या संजीव को ध्यान में रखकर की गई है। आदिवासी दर्शन के 15 सूत्रों में से कितने सूत्र उनके लेखन में मिलते है और कितने नहीं मिलते, इसे जांचा जाएगा और इस तरह उन्हें उनकी जगह बता दी जाएगी।"[150] यानि तलवार जी के मुताबिक ये लोग आदिवासी साहित्य के नये अछूत होंगे। आदिवासी दर्शन की अनिवार्यता से साहित्य में सामन्ती प्रवृति को जन्म मिलेगा।

आदिवासी साहित्य समीक्षा के इन मापदण्ड़ों और सिद्धान्तों से असहमति व्यक्त करते हुए प्रो. वीरभारत तलवार कटाक्ष करते हैं कि-"आदिवासी साहित्य की अवधारणा का आधार आदिवासी जीवन दर्शन या आदिवासी दृष्टि होनी चाहिए। यह कहते हुए उन्होंने इस दर्शन के 15 बुनियादी तत्वों की सूची भी पेश की। अच्छी बात है कि उन्होंने आदिवासी साहित्य की अवधारणा का वस्तुगत मापदण्ड़ बनाया, लेकिन यह जो आदिवासी जीवन दृष्टि है, आदिवासी दर्शन है, इसकी परिभाषा क्या है? अथवा इसकी समझ क्या है, यह एक अलग समस्या है। हम किसको आदिवासी दर्शन कहेंगे? जब आप आदिवासी दर्शन के बहुत सारे स्थाई लक्षण बना लेंगे, तो आप देखेंगे कि जो वास्तविकता है आदिवासी समाज की, उसमें वे लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं दिखाई देते। तो उनके आधार पर आदिवासी दर्शन कैसे बनाएंगे? आदिवासी दृष्टि भी बदलती रहने वाली चीज है।"[151]

प्रो. तलवार आदिवासी समाजों को जड़ समाज नहीं, अपितु एक परिवर्तनशील जीता जागता समाज मानते हैं, जो वैज्ञानिक रूप से सही और विकास के बुनियादी सिद्धान्तों पर केन्द्रित है। दूसरी बात यह कि आदिवासी समाज भारत का बहुत बड़ा बहुभाषी और बहुसांस्कृतिक समुदाय है, जो विकास के अलग सोपानों पर खड़ा हुआ है, ऐसे में उनके सामाजिक मानदण्ड़ों की आधारभूमि अलग अलग होगी। प्रो. तलवार के ये विचार सैद्धान्तिक तौर सही है फिर भी कुछ ऐसे तन्तु अवश्य है जो भारत के समस्त आदिवासियों को एकता के सूत्र में बांधते है, जिनका उल्लेख वे स्वयं इसी लेख में

[150] तलवार वीरभारत : आदिवासी और आदिवासी साहित्य की अवधारणा, तदभव पत्रिका, अंक 34, पृ. 41

[151] तलवार वीरभारत : पूर्वोक्त पृ. 39-40

करते है जैसे भूमि के प्रति आदिवासियों का नजरिया, प्रकृति के साथ मनुष्य की एकता की चेतना, स्त्री की आनुपातिक दृष्टि से गैर आदिवासियों के सापेक्ष में सम्मानजनक स्थिति आदि।

प्रो. वीरभारत तलवार आदिवासियों के संबंध में गैर आदिवासियों के भ्रम का उल्लेख करने के क्रम में आदिवासी समाजों में आ रहे परिवर्तन को रेखांकित करते है, जैसे आदिवासियों को लेकर मातृसत्तात्मक समाज होने का भ्रम, जो अभी सिर्फ़ खासी और एक दो अन्य समुदायों में देखने को मिलता है, स्त्री स्वतंत्रता का भ्रम, कुछ समुदायों में स्त्री विशेषाधिकार जो कि हिन्दू महिलाओं से तुलनात्मक रूप में बेहतर होने का अहसास दिलाता है, दहेज प्रथा और यौन अत्याचारों की अनुपस्थिति का भ्रम आदि। प्रो.वीरभारत तलवार का मानना है कि आदिवासी रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजर रहे है, अब उनमें सामूहिकता उतनी ही बची है जितनी शहरों की अपेक्षा गाँवों में होती है। एकता और समानता का भ्रम टूट चुका है। विषमता घर कर चुकी है। मुख्य रूप से आदिवासियों में तीन नये वर्गों का उदय हो चुका है, पहला नौकरीपेसा मध्यवर्ग, दूसरा चुनावी राजनीति से पनपने वाला करोड़पति राजनैतिक वर्ग और तीसरा शहरों में रिक्शा खींचने वाला या कुली और भूमिहीन मजदूर के रूप में काम करने वाला वर्ग। इसलिए तलवार जी आर्थिक नजरिये को वरीयता देते हुए आदिवासियों को मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार वर्ग के रूप में चिन्हित करने का प्रयास करते है।

प्रो. वीरभारत तलवार कहते हैं कि 'आदिवासी जीवन दर्शन के इन सूत्रों को देखकर आदिवासी साहित्य लिखने को नहीं, अपितु आदिवासी साहित्य में आदिवासी जीवन दर्शन देखा जाना चाहिए। यानि आदिवासी लेखकों को नहीं, आदिवासी दर्शन को आदिवासी लेखकों के साहित्य की जरूरत है।' इस तरह तलवार जी आदिवासी दर्शन आधारित आदिवासी लेखकों के साहित्य को ही आदिवासी साहित्य के बतौर देखते हैं। इसके साथ ही आदिवासी साहित्य दर्शन के तौर पर 15 वे क्रमांक पर घोषित 'प्राथमिक आदिवासी भाषा' के साहित्य को ही आदिवासी साहित्य की प्रथम शर्त माने जाने की वकालत करते है, ऐसा करने से आदिवासी विषय पर गैर आदिवासी ही नहीं, खुद आदिवासियों द्वारा लिखा गया हिन्दी लेखन आदिवासी साहित्य से बाहर होगा -" दलितों से भिन्न स्थिति यहाँ ये है कि आदिवासियों की अपनी अलग भाषाएं है। इसलिए रणेन्द्र या महुआ माजी आदि के साहित्य में आदिवासी दर्शन के कितने ही सूत्र क्यों न मिल जाएं, उसके लिए उनकी सराहना तो जरूर की जा सकती है, लेकिन फिर भी उनका लेखन आदिवासी भाषा में नहीं होने के कारण हिन्दी साहित्य में ही आएगा, आदिवासी साहित्य में नहीं।"[152]

[152] तलवार वीरभारत : पूर्वोक्त

आदिवासी विषयों पर लेखन करने वाले चर्चित हिन्दी उपन्यासकार रणेन्द्र आदिवासियों से संबंधित अस्मिता विमर्श को नकारने के साथ अस्मितावादी लेखन की कमजोरियों को रेखांकित करते हुए लिखते है कि-"नब्बे के दशक से संजीव, मनमोहन पाठक, पुन्नी सिंह, तेजिन्दर, मैत्रेयी पुष्पा, भगवान दास मोरवाल, राकेश कुमार सिंह की समर्थ और उर्वर लेखनी ने हिन्दी उपन्यास फलक को साँवले-सलोने-जामुनी, एक खास आदिवासी रंग में रंग डाला ।.....इनकी विशिष्ट समस्याओं का रेखांकन मात्र इसलिए नहीं कि इनकी अस्मिताओं को केवल अलग से पहचान भर मिले । बल्कि इसलिए कि इन मोर्चों को बड़ी लड़ाई के लिए मानवमुक्ति के महान स्वप्न के लिए हिरावल दस्ता में ढ़ाला जा सके । अस्मितावादी आन्दोलनों का घृणा के बदले घृणा, लिंग-जातीय द्वेष के बदले द्वेष, नस्लीय आक्रामकता हमें स्वीकार नहीं है । यह एक बंद गली का सफर है जो कहीं नहीं पहुँचेगा । उल्टे व्यवस्था के खिलाफ़ मुकम्मल लड़ाई को कमजोर करेगा ।"[153]

रणेन्द्र का उक्त नजरिया अस्मितावादी विमर्शों के प्रति अतिवादी को व्यक्त करता है । फिर भी रणेन्द्र आदिवासी लेखन को तीन भागों में बांट कर देखते है- "योगेन्द्र नाथ सिन्हा से लेकर श्रीप्रकाश मिश्र तक एक धारा है जिसे रेखांकित करने की आवश्यकता है, जहाँ आदिवासी समुदाय 'अन्य' के रूप में ही वर्णित है । उसकी विचित्रताएँ ही रेखांकित करने योग्य है, क्योंकि हमारी अभिजात श्रेष्ठता ग्रंथि कमियाँ निहारने में ही तुष्टि पाती है । जहाँ सिन्हा जी उद्धारक की भूमिका में है, वहीं श्री प्रकाश मिश्र मिजो स्त्रियों की देह की मादकता निहारने और अंगों के डोलन को वर्णित करने में रसमग्न हैं । ऐसे उपन्यासकारों की लेखनी 'हम' और 'वे' के विभाजन को मजबूत करती चलती है । लेकिन संघर्षपथ के सहयात्री सहकर्मी साथी के रूप में संजीव, मनमोहन पाठक, मैत्रेयी पुष्पा, तेजिन्दर, पुन्नी सिंह की लेखनी की मौजूदगी के बावजूद खुद आदिवासी समाज से निकलकर आये उपन्यासकारों की अलग महत्ता है ।... भले यहाँ कहन की शैली अनगढ़ है, किन्तु स्वानुभूति उल्लेखनीय रहेगी ।"[154]

कवि-लेखक हरिराम मीणा हिन्दी आदिवासी लेखन में एक जाना पहचाना नाम है । विमर्श के नाम पर साहित्य में किसी तरह का विभाजन उन्हें स्वीकार नहीं-"साहित्य को टुकड़े में देखने का में पक्षधर नहीं हूँ कि ये स्त्री साहित्य, दलित साहित्य या आदिवासी साहित्य है । साहित्य तो साहित्य है और उस साहित्य में उसके ये अलग-अलग रूप हैं, उसके स्वरूप है ।"[155] पर वे संवेदनात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं । इसी आधार पर गैर आदिवासी लेखकों पर

---

[153] रणेन्द्र : हिन्दी उपन्यास और आदिवासी चिंतन; संघर्ष, सपने, चुनौतियाँ और 21वीं सदी (आलेख), अनुज लुगुन: आदिवासी अस्मिता प्रभुत्त्व और प्रतिरोध, पृ. 86

[154] रणेन्द्र : हिन्दी उपन्यास और आदिवासी चिंतन; संघर्ष, सपने, चुनौतियाँ और 21वीं सदी (आलेख), पृ. 87

[155] गुप्ता रमणिका : आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार, 2012, पृ. 74

टिप्पणी करते हैं कि-"आदिवासी साहित्य को हमने जितना पहचाना है, जाना है उसमें जो बहुत सारे गैर आदिवासी साहित्यकारों ने भी लिखा है, वह अधिकांश खारिज़ करने लायक है। हालांकि कुछ दमदार भी मिलेगा।"[156]

हरिराम मीणा के उक्त कथन के पीछे जो धारणा है, उसे व्यक्त करते हुए वे स्वयं कहते हैं- "आदिवासियों पर लिखे गये गैर आदिवासियों के साहित्य का आप विश्लेषण करें।... सभी को आदिवासी युवतियों की देह में उनके गोल-गोल गाल, उन्नत उरोज, पुष्ट जंघाएं, यही चीजें नज़र आती हैं पर उनकी उन्मुक्तता, उनकी उमंग, उनका राग, उनका गीत और गान नज़र नहीं आता। उनके अंदर कितनी पीड़ा है, पेट कितना भूखा है, रोटी मिल रही है कि नहीं, उनके बच्चे पढ़ रहे है कि नहीं, उनका स्वास्थ्य कैसा है, कितनी जमीन है उनके पास अथवा दूसरे लोग जो ठेकेदार हैं, जंगलात महकमे के लोग हैं या और लोग हैं, वे उनका शोषण कर रहे हैं, इसका सरकार कितना ध्यान रखती है, इन चीजों का विश्लेषण साहित्य में नहीं हुआ है। कई लोगों ने कुछ प्रयास किया भी है।"[157]

प्रो. वीरभारत तलवार आदिवासी संबंधी साहित्य की चार श्रेणी मानते हैं, पहली उद्धारक का भाव लिये हुए लिखने वाले लेखकों की श्रेणी, ऐसे लोगों में हिंदू जातीय श्रेष्ठता का भाव गहरे तक समाया हुआ होता है और ये आदिवासियों को हीन मानकर अपनी उद्धारक छवि के साथ उनका चित्रण करते हैं। योगेन्द्र नाथ सिन्हा का वन लक्ष्मी इसी तरह की रचना है। दूसरी श्रेणी में वे लेखक हैं जो आदिवासियों के प्रति सहानुभूति रखने के साथ आदिवासी समाज से थोड़ा वाकिफ़ है। दमन-शोषण और उत्पीड़न को चित्रित करने के साथ आर्थिक-राजनीतिक समस्याओं को उठाने का कार्य अपने साहित्य के माध्यम से किया है, पर आदिवासी समाजों के अंदरूनी चित्र, उनका सांस्कृतिक मानस और अंतर्द्वंद या तनाव की झलक प्रस्तुत करने में पूर्ण सक्षम नहीं हुए। मनमोहन पाठक, रणेन्द्र, संजीव, महुआ माजी, विनोद कुमार आदि इसी श्रेणी के लेखक है।

तीसरी श्रेणी के रचनाकार वे हैं जो आदिवासियों के बीच लंबे समय से रहते आये हैं और जिनमें उनका अच्छा बुरा समझने की दृष्टि है। ऐसे लेखकों में पुन्नी सिंह, श्रीप्रकाश मिश्र, प्रतिभाराय और गोपीनाथ महंती को शामिल कर सकते है। चौथी और अंतिम श्रेणी खुद आदिवासी समाज के लेखकों की है। आदिवासी समाज का जो अंदरूनी चित्र है, उसका जो सांस्कृतिक मानस और बुनाबट है, उसके अपने जो तनाव और अंतर्द्वंद हैं, वे आपको आदिवासियों की रचनाओं में ही मिलेंगे। ये आदिवासी रचनाएं महान भले ही न हो, क्लासिक भले ही न समझी गई हों और हिन्दी, बांग्ला या मराठी साहित्य

[156] गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, पृ. 70
[157] गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, पृ. 75

के आलोचनात्मक मापदंड पर खरी न उतरती हो, लेकिन आदिवासी समाज का सच्चा चित्र आपको इन्हीं रचनाओं में मिलेगा।'

निष्कर्षः-

आदिवासी साहित्य की परंपरा वाचिकता के रूप में आदिम दौर से आदिवासियों में विद्यमान रही है। समूह के जीवन अनुभवों को, समस्त कला रूपों के साथ सामूहिक रूप से अभिव्यक्त करने की प्रवृति आदिवासियों में रही है। वर्तमान हिन्दी का आदिवासी साहित्य उसी पुरखा साहित्य परंपरा का अगला पड़ाव है । सामूहिक जीवन अनुभव पर आधारित आदिवासी सभ्यता-संस्कृति के साथ, आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व पर मंडराते संकट को ध्यान में रखकर मातृभाषाओं और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं और उनकी विधाओं में लिखे जाने वाले साहित्य को आदिवासी साहित्य कहा जा सकता है। आदिवासी दर्शन की समझ अनिवार्य लेखकीय शर्त है।

भूमंडलीकरण ने हिन्दी आदिवासी साहित्य के उभार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस दौर में आदिवासियों को चौतरफा हमलों का सामना करना पड़ा, जिससे निपटने के क्रम में एक संभावित मोर्चा हिन्दी आदिवासी साहित्य है। यह बाहरी समाजों को आदिवासी संस्कृति और परंपरा की ख़ूबसूरती से परिचित कराने के साथ वर्तमान के आंतरिक और बाहरी संकटों से रूबरू करवाता है। यह शोषणकारी सभ्यता और संस्कृति के मानने वालों के मन में थोड़ी हमदर्दी और प्यार पाने के साथ सहानुभूतिपूर्ण ढंग से आदिवासियों के बारे में विचार करने को बाध्य करता है।

2.3 साहित्य और अस्मिता विमर्श

'विमर्श' शब्द अंग्रेजी के 'डिस्कोर्स' का हिन्दी अनुवाद है । यह उत्तर-आधुनिकता से उपजा शब्द है, जिसका अर्थ हिन्दी के 'विचार-विमर्श' से बिलकुल भिन्न है। अंग्रेजी साहित्य और भाषा में 'डिस्कोर्स' का आशय एक विशेष प्रकार की उक्ति या अभिव्यक्ति से माना है। 'एक विशेष प्रकार का कथन या भाषण, जिसका संबंध लेखक या वक्ता मात्र से है, पाठक या श्रोता से नहीं' । 'डिस्कोर्स' में रचना की श्रेष्ठता साहित्य के पैमाने पर न होकर रचनाकार की स्थिति पर केन्द्रित हो जाती है।

रचनात्मक गुणवत्ता की जगह अपनी खास जातिगत, लैंगिक, या परिवेशगत पहचान के बल पर स्वीकृति पाने की चाहत और गुणवत्ता का प्रश्न आने पर अलग सौंदर्यशास्त्र की माँग साहित्य विमर्शों पर लगने वाले मुख्य आरोप है। पर ऐसे साहित्य का मूल्यांकन हम तथाकथित मुख्यधारा के साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर भी नहीं कर सकते हैं। दलितों के संबंध में दलित चेतना, स्त्री के संदर्भ में स्त्री

चेतना और आदिवासी संदर्भ में आदिवासी दर्शन ही उनके मूल्यांकन का आधार बन सकता है। कसौटी पर परखे जाने की छूट किसी भी रचनाकार को नहीं दी जा सकती है। व्यवस्था बदलने की जगह विशिष्ट पहचान के माध्यम से व्यवस्था में जगह बनाने की आतुरता कुछ अस्मिता विमर्शों के पैरोकारों में देखने को मिलती है, इसलिए हिन्दी के प्रगतिशील और जनवादी साहित्यधारा के साथ, मार्क्सवाद की कटु आलोचना इनका प्रमुख लक्ष्य हो जाता है, पर इससे उनके बुनियादी सवालों को अलगाया नहीं जा सकता ।

हिन्दी में आदिवासी साहित्य की उपस्थिति से पूर्व रचनाकार की स्थिति पर आधारित 'स्वानुभूति बनाम सहानुभूति' जैसी बहस प्रमुख थी, किन्तु हिन्दी के आदिवासी साहित्य में यह केंद्र से दूर परिधि के इर्द गिर्द ही घूम रही हैं। आदिवासी साहित्य चिंतक गंगासहाय मीणा का मानना है कि "आखिर स्वानुभूति या अनुभूति की प्रमाणिकता को केन्द्रीय महत्व मिले भी क्यों ? निश्चय ही अनुभूति की प्रामाणिकता की जगह अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता अधिक महत्त्वपूर्ण है, और होनी भी चाहिए। यह सच है कि लंबे अनुभव, निकट संपर्क और संवेदनशीलता के बिना प्रामाणिक अभिव्यक्ति संभव नहीं है, खासकर आदिवासी संदर्भ में, लेकिन इसके बावजूद स्वानुभूति को एकमात्र आधार नहीं बनाया जा सकता।"[158] इस तरह आदिवासी साहित्य उस विचार को नकार देता है जहाँ लेखक की जातिगत पहचान ही उसके साहित्य की व्याख्या का आधार बनती है।

2.3.1 दलित और आदिवासी विमर्श का तुलनात्मक विवेचन

अकादमिक जगत में लंबे समय तक आदिवासी साहित्य विमर्श को दलित विमर्श का ही भाग मान कर चर्चा की गई है, पर इन दोनों साहित्यिक विमर्शों में तात्त्विक और रूपगत भेद रहा है। आदिवासी साहित्य विमर्श को दलित साहित्य का भाग समझे जाने पर 'अरावली उद्घोश' पत्रिका के संपादक बी.पी वर्मा पथिक ने लिखा कि "बीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक हिन्दी पट्टी में केवल दलित विमर्श और दलित साहित्य का बोलबाला रहा था। कुछ अपवादों को छोड़ दे तो, तब न कहीं आदिवासी विमर्श और आदिवासी साहित्य का जिक्र होता था, न कभी इसकी आवश्यकता महसूस की जाती थी। चाहे गैर आदिवासी साहित्यकार हो या दलित साहित्यकार, अधिकांश ने यही भ्रम पाल रखा था कि दलित संज्ञा में आदिवासी का भी समावेश है।"[159]

दलित और आदिवासी साहित्य के विषय और उसकी प्रकृति को रेखांकित करते हुए गंगासहाय मीणा लिखते है कि "दलित साहित्य में वर्णव्यवस्था के दंश, छुआ-छूत और अपमान को चित्रित-

[158] https://www.forwardpress.in/2016/04/tribal-literature-challenges-and-possibilities_hindi/

[159] सोनवणे राजेन्द्र अक्षत : आदिवासी विमर्श, वर्तमान साहित्य, अप्रेल 2009, पृ. 38

वर्णित किया जाता है। आदिवासी साहित्य में वर्ण व्यवस्था और उससे उपजी समस्या से इतर जंगल, विस्थापन और बाहरी लोगों की घुसपैठ मुख्य विषय रहे हैं। दलित विमर्श में दलित के दर्द को दलित ही बयान करता है। पर यहाँ जो भी साहित्यकार आदिवासी विषय के प्रति संवेदित है, लिख सकता है।...जब तक आदिवासी वर्ग से समुचित लेखक सामने नहीं आ जाते, तब तक गैर आदिवासी लेखकों के योगदान को महत्त्व दिया जाना आदिवासी विमर्श की दलित विमर्श से अलग विशेषता ठहरती है।"[160] दलित साहित्य जहाँ दलित जाति से आए लेखकों के साहित्य के तौर पर जाना जाता है, वहीं आदिवासी साहित्य की स्थिति इससे भिन्न है। प्रो. गंगासहाय मीणा उस साहित्य को भी आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के बतौर देखते है जो गैर आदिवासियों ने सहानुभूति पूर्वक आदिवासियों पर लिखा है-"समय-समय पर गैर-आदिवासी रचनाकारों ने भी आदिवासी जीवन और समाज को अभिव्यक्त किया, साहित्य में आदिवासी जीवन की रचनात्मक प्रस्तुति की। इस पूरी परंपरा को हम समकालीन आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के तौर पर रख सकते हैं।"[161] पर सवाल यह उठता है कि आज जो गैर आदिवासी साहित्यकार आदिवासी विषयक लेखन कर रहे है, उनको किस श्रेणी में रखा जाये।

दलित चिंतन और साहित्य के गहन अध्येता प्रो. रामचंद्र दलित और आदिवासी विमर्श के तात्त्विक भेद को स्वीकार करते हुए दोनों विमर्शों की शोषणकारी व्यवस्था के खिलाफ़ सामूहिक प्रतिबद्धता को दोहराते है- "आदिवासी साहित्य की वैचारिकी और उसकी राष्ट्रीय समस्याएं दलित साहित्य से भिन्न है। दलित साहित्य का सीधा संबंध हिंदू धर्मसत्ता और वर्चस्व की राजनीति से है। दलित साहित्य ने वर्ण, जाति, अस्पृश्यता, अपमान और आर्थिक विषमता को अपने विमर्श में जगह दी। आदिवासी साहित्य और आदिवासी जीवन की समस्याएं भाषा, क्षेत्र और सांस्कृतिक विभिन्नताएं लिए हुए है।' भारतीय शासन व्यवस्था के शिकार जितने दलित है उतने आदिवासी भी है, दोनों का शत्रु एक ही है। इसलिए दलित और आदिवासियों को अपनी लड़ाई एक साथ लड़नी चाहिए।"[162]

नई आर्थिक नीति और भूमंडलीकरण के संबंध में दलित और आदिवासी साहित्यकारों की राय बिल्कुल भिन्न है। "भूमंडलीकरण और इसके उपादानों ने जाति-आधारित पेशों से मुक्ति दिलाने में मदद की है और इस प्रकार जाति व्यवस्था को तोड़ने में सहायक का काम कर रहा है। इसलिए दलित साहित्य उसके प्रति नरम रुख अपनाता दिख रहा है। वहीं दूसरी तरफ भूमंडलीकरण दुनियाभर में

[160] http://epgp.inflibnet.ac.in/epgpdata/uploads/epgp_content/s000018hi/p001377/m016624/et/1466051719hnd_p12_m31.pdf

[161] मीणा गंगासहाय : पूर्वोक्त

[162] डॉ. रामचंद्र: हिन्दी दलित साहित्य आंदोलन और आदिवासी साहित्य, पृ. 118

आदिवासियों का जीवन तबाह कर रहा है। इसलिए यह आदिवासी साहित्य में सबसे बड़ी समस्या और चुनौती के रूप में सामने आता है।"[163]

दलित और आदिवासी साहित्यकार के बीच भूमंडलीय पूँजीवाद की समझ के अंतर पर अविनाश कुमार सिंह अपने लेख 'भाषा, राष्ट्रीयता और आदिवासी सवाल' में लिखते है कि "आज का दलित विमर्शकार अपने दुःख का अंत पूँजीवाद में देख रहा है। आदिवासी विमर्श तो जल, जंगल और जमीन और इसी के तईं आदिवासी संस्कृति का विनाश इसी पूँजीवाद के बढ़ते प्रभाव में देख रहा है।"[164] भूमंडलीकरण ने जिस नकारात्मकता के साथ आदिवासी जीवन को प्रभावित किया है, उतना दलित जीवन को नहीं। दलित और आदिवासी साहित्य, दोनों ही मुक्तिकामी साहित्य आंदोलन होते हुए भी संरचनात्मक और वैचारिक रूप से अलग ही नहीं है अपितु बहुत से मसलों पर भिन्न राय रखने वाले साहित्यिक आंदोलन है। भाषायी अस्मिता का सवाल, भूमंडलीकरण की प्रवृतियों की व्याख्या, वर्चस्ववादी धार्मिक-सांस्कृतिक परंपरा का सवाल, साहित्य की संरचनात्मक समझ आदि के स्तर पर इनका विभेद काफ़ी व्यापक है।

'ऐतिहासिक रूप से लगभग एक ही समय में पैदा हुए दोनों साहित्य आंदोलनों के प्रति अधिकांश बाहरी साहित्यकार और समाज उपेक्षा का भाव रखते है और शंका की नज़र से देखते है। साहित्य इतिहास लेखन में इनकी साहित्य परंपरा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।' दलित साहित्यकार जहाँ जातीय अस्मिता पर आधारित अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के आतुर है, वहीं आदिवासी साहित्यकार मुख्यधारा की देखा-देखी, उनके तईं साहित्य गढ़ने को प्रयासरत है। इसके लिए वे गैर आदिवासी भाषा ही नहीं अपना रहे, अपितु उन विधाओं को भी अपना रहे है, जो आज मुख्यधारा की साहित्यिक विधाएँ है।

भाषा आदिवासी अस्मिता का मुख्य घटक है इसलिए उनके समाप्त होते जाने से आदिवासी समाज और साहित्य का चिंतित होना लाज़िमी है। आदिवासी साहित्य आंदोलन में आदिवासी भाषाओं के बचाने का सवाल भी शीर्ष पर है। चूंकि दलितों की अपनी कोई विशिष्ट भाषा नहीं है, इसलिए उनमें भाषाओं के बचाव का सवाल कोई मायने नहीं रखता है। दलितों ने अंग्रेजी को मुक्ति की भाषा के बतौर देखा समझा, इसलिए वहाँ 'अंग्रेजी माता का मंदिर' प्रमुख हो जाता है। परंपरागत रूप से हीनता का बोध कराने वाले कामों से दलितों को मुक्ति दिलाने में अंग्रेजी सहायक रही है। वे इसके

[163] मीणा गंगा सहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, 2017 पृ. 103

[164] मीणा गंगासहाय : आदिवासी साहित्य विमर्श (सं.), 2014, पृ. 59

माध्यम से कथित 'ग्राम स्वराज्य' से निकलकर 'भूमंडलीय गाँव' के नागरिक बनने में कुछ हद तक सफल भी हो रहे है । जिस तरह सामंतवाद की जकड़नों के विरूद्ध पूँजीवाद व्यक्ति स्वतंत्रता की हिमायत करता हुआ क्षणिक और अर्थहीन मुक्ति का अहसास कराता है, उसी तरह अंग्रेजी भाषा मुक्ति की भाषा ठहरती है।

दलित साहित्य में जहाँ अंबेडकरवाद का उल्लेख प्रमुख रूप से होता है, वहीं आदिवासी साहित्य में ऐसा कोई वाद न होकर आदिवासी जीवन दर्शन है। दलित साहित्यकारों का सम्पूर्ण लेखन जाति आधारित भेदभाव और उसके प्रतिरोध पर आधारित है। वे उस ऐतिहासिक लेखन पर सवाल खड़ा करते है, जो दलितों में हीनताबोध कराता है। इसलिए उस इतिहास लेखन को दलित परिप्रेक्ष्य में पुन लिखे जाने की वकालत करते हैं।

आदिवासी साहित्य उमंग और उल्लास का साहित्य है, जिसमें प्रेम और प्रकृति प्रधान है। 'प्रेम यहाँ खूबसूरत अहसास और जरूरी मानवीय मनोभाव है और प्रकृति आलंबन या उद्दीपन नहीं, वह आदिवासी जीवन के केन्द्र में है।' वह पूर्वजों की भूमिका में है। आदिवासी दर्शन प्रतिरोध का नहीं, अपितु बचाव और रचाव का दर्शन है। वह एक सत्ता की जगह दूसरी सत्ता की स्थापना का समर्थक नहीं है। वह सामुदायिक सहजीवन का हिमायती है, जिसकी परिसीमा में मनुष्य ही नहीं, प्राणी जगत का हर सदस्य शामिल है।

आदिवासी समाज का संबंध पहाड़ और जंगलों से है, इसलिए मुख्यधारा से एक निश्चित दूरी पर बने रहने के कारण उसमें सवर्ण समाज का जातिभेद, लिंगभेद का असर बहुत कम रहा। उनकी अपनी सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति और भाषा संरचना है। अपनी जमीन, गृहस्थ संरचना और पहचान के मिटने का दर्द भी गुणात्मक रूप से दोनों समाजों यानि आदिवासी और दलित का अलग है, उक्त दोनों समुदाय भिन्न सांस्कृतिक मानस के साथ प्रस्तुत होते है।

दलित ऐतिहासिक रूप से हिन्दू संस्कृति के सबसे नीचे पायदान पर रहे हैं, इसलिए इस संस्कृति के प्रति उनका नकार का भाव है, जबकि आदिवासियों की अपनी स्वयं की संस्कृति है, जिसमें कोई सीढ़ीगत संरचना नहीं रही है। फलस्वरूप आदिवासी समाज और साहित्य में संस्कृति के बचाव का प्रश्न प्रमुख है। फिर भी कुछ सवाल है जिन पर ये दोनों समाज एक ही धरातल पर खड़े हैं और वे है- शोषण, अन्याय, गरीबी, भुखमरी के खिलाफ़ और बुनियादी हक, न्याय और मानवीय गरिमा के सवाल। अपने विशिष्टताबोध के साथ इन बुनियादी मसलों पर एकता कायम करना बहुत जरूरी है। गैर दलित और गैर आदिवासी सहयोगियों को भी सही-गलत की कसौटी पर कसते हुए साझेदार बनने को प्रोत्साहित करना चाहिए।

निष्कर्षः-

हिन्दी अस्मिता विमर्शों की दुनिया में दलित, स्त्री और आदिवासियों की चर्चा प्रमुखता से की जाती है। अपनी खास जातीय, लैंगिक और क्षेत्रीय परिवेश की पहचान को उजागर करने वाले ये विमर्श एक भिन्न प्रकार के साहित्य को जन्म देते है। ये साहित्य के परंपरागत सौंदर्यशास्त्र की बजाय नवीन सौंदर्य शास्त्र की माँग करते है। इसे साहित्य के परंपरागत ठेकेदार 'व्यवस्था परिवर्तन की जगह व्यवस्था में हिस्सेदारी' और 'कसौटी पर परखे जाने की छूट' का हवाला देते हुए अस्वीकार करते है। अस्मिता विमर्श के पैरोकारों का मानना है कि जब किसी खास जाति, लिंग और परिवेश पर आधारित वर्गों ने एकजुट होकर उसी पहचान को आधार बनाया, जिसके माध्यम से उनका शोषण हुआ तो इसमें गलत क्या है। दरअसल व्यवस्था में जगह बना चुके लोगों के मन में डर है कि इससे उन्हें अपना हिस्सा बांटना पड़ेगा, इसलिए वे इसकी मुखालिफ़त करते है। दलित और आदिवासी विमर्श से स्त्री विमर्श की समस्यायें, ऐतिहासिक स्वरूप और संदर्भ भिन्न है, इसलिए दलित और आदिवासी विमर्श को ही मैंने तुलनात्मक रूप से देखने का प्रयास किया है।

दलित विमर्श के उभार में मराठी दलित आंदोलन और बाबा साहव अंबेडकर के जीवन दर्शन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है, जबकि आदिवासी विमर्श भूमंडलीकरण की नीतियों की प्रतिक्रिया के बतौर उभरा। दलित विमर्श में जहाँ हिन्दू वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा का दंश प्रमुखता से उभरा, वहीं आदिवासी विमर्श अपने नायको के खलनायक की छवि गढ़े जाने से दुखी है। सीमांत पर स्थित होने के कारण आदिवासियों पर हिन्दू व्यवस्था के अत्याचार उतने तीखे नहीं रहे जितने दलितों पर।

भूमंडलीकरण के संबंध में दोनों की विमर्शों की समझ एक दूसरे से उलट है। भूमंडलीकरण ने दलितो को शहरों में सम्मानजनक जिंदगी जीने का अवसर प्रदान किया, वहीं आदिवासियों को उनके जल, जंगल और जमीन से बेदख़ल कर दिया। अंग्रेजी भाषा जहाँ दलितों के लिए मुक्ति की भाषा बनी, वहीं आदिवासी भाषाओं का मिटते जाना उनकी अस्मिताओं से जुड़कर उनके सर्वस्व हरण का कारण बना। आदिवासी और दलित विमर्श मुक्तिकामी विमर्श है जो आपसी सहयोग से समतावादी समाज का सपना सच करेंगे।

अध्याय:- 3

भूमंडलीकरण : हिन्दी उपन्यास और आदिवासी

3.1 हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण का स्वरूप और प्रवृतियाँ

3.2 भूमंडलीकरण से पूर्व के हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी

3.3 भूमंडलीकरण के दौर के हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी

3.4 भूमंडलीकरण की प्रवृतियों के आलोक में विवेच्य उपन्यासों का अध्ययन

अध्याय: 3

भूमंडलीकरण: हिन्दी उपन्यास और आदिवासी

3.1 हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण का स्वरूप और प्रवृतियाँ

भूमंडलीकरण ने दुनिया में बाज़ारवाद आधारित जिस उपभोक्ता संस्कृति को रचा, उसने विकासशील देशों के सामान्य मध्यम वर्ग को अपने 'मायाजाल' में इस तरह उलझाया, कि बुद्धिजीवियों के लिए यह चिंता का विषय बन गया। हिंदी उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों के माध्यम से इस बाज़ारवादी-उपभोक्ता संस्कृति के खिलाफ़ प्रतिरोध व्यक्त किया है। इन उपन्यासकारों ने स्थितियों का चित्रण और पात्रों की प्रस्तुति इस रूप में की, कि एक सामान्य वितृष्णा का भाव पाठक के मनोजगत में पैदा हो जाये। इसके पीछे जो रचना-दृष्टि काम कर रही है, वह भूमंडलीकरण के स्वरूप और संरचना को साम्राज्यवादी-आर्थिक उपनिवेशवाद से जोड़कर देख रही थी। जिसके माध्यम से पूँजीवाद ने अपना प्रभुत्व कायम किया है। हिन्दी उपन्यासों में वर्णित भूमंडलीकरण की प्रवृतियों को निम्न बिंन्दुओं के आलोक में समझा जा सकता है-

3.1.1 बाज़ार का आतंक यानि माया का महाठगिनी रूप

अतीत में भारत की औपनिवेशिक गुलामी की शुरूआत बाज़ार के माध्यम से ही हुई थी। जिसमें साम्राज्यवादी ताकतों ने अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिए पहले व्यापार कंपनियों को यहाँ भेजा और धीरे-धीरे सम्पूर्ण राष्ट्र को गुलामी की बेड़ियों में जकड़ लिया। इस गुलामी को स्थायित्व प्रदान करने के लिए औपनिवेशिक ताकतों ने सैन्य बल का प्रयोग किया। वर्तमान सदी में इस साम्राज्यवादी नीति को बाज़ार के माध्यम से ही फलीभूत किया जा रहा है। जो काम पूर्व में सैन्य ताकत के बल पर किया जा रहा था, वह आज बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मार्फत हो रहा है। इसे लेकर उपन्यासकारों ने जनता को आगाह किया है।

कमलेश्वर के उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' का पात्र 'अदीब' घोषित करता है- "बाजारों के लिए बनते हैं साम्राज्य। और साम्राज्यों को जीवित रखने के लिए बनाए जाते हैं बाज़ार।... यही है औद्योगिक क्रांति का सतत् जीवित रहने का मजबूरी भरा सिद्धान्त। यही है पूँजीवाद, इसी का दूसरा नाम है साम्राज्यवाद। तीसरा नाम है-उपनिवेशवाद। और आज दस्तक देती हुई नई सदी में इसका नाम है बाज़ारवाद।"[165] इस दौर के हिन्दी उपन्यासों के संदर्भ में बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद को समझा जाये,

[165] कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, 2014, पृ.सं. 291

तो यह बख़ूबी स्पष्ट हो जाता है कि आम नागरिक किस तरह बाज़ार और बाज़ार की शक्तियों के वशीभूत होता जा रहा है।

आज की नई पीढ़ी पैसे की चकाचौंध में, बाज़ार में उपलब्ध हर नई वस्तु और उत्पादों की प्राप्ति के लिए अपनी हैसियत से ज्यादा खर्च कर रही है। उधार की संस्कृति ने मध्यवर्ग के भीतर एक अनुकूलन बना लिया है। अलका सरावगी का उपन्यास 'कलि कथा: वाया बाईपास' में दो पीढ़ियों के अंर्तद्वन्द्व को बाज़ार के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधि किशोर बाबू पाई-पाई जोड़कर पैसा बनाता है, 'माचिस की तीलियों तक का हिसाब रखता है' और दूसरी ओर इन्हीं की अगली पीढ़ी 'ऋण' कृत्वा, घृतम् पीवेत' के जीवन दर्शन को चरितार्थ करते हुए 'लोन' और 'फाइनेन्स' के बल पर उपभोग की वस्तुएं एकत्रित करती जा रही हैं।

काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'काशी का अस्सी' में मुख्य स्वर राजनीतिक-सामाजिक भ्रष्टाचार है, परन्तु वहाँ भी बाज़ार को लेकर होने वाला विमर्श दिख जाता है- "इस पूरे मामले का संबंध बाज़ार से है।... हम तो बाज़ार का एक ही मतलब जानते हैं सरकार, बाज़ार वह नहीं है जो सड़क पर है, दुकान में है, नुक्कड़ पर है, शोकेस में है। बाज़ार वह है, जो तुम्हारे दरवाजे पर है, पोर्टिकों में हैं, ड्राइंगरूप में है, बेडरुम में है, अलमारी में है, किचेन में है, टॉयलेट में है और यही क्यों, तुम्हारे बदन पर है, सिर के बालों से लेकर पैरों के नाखून तक में है। ऐसा कि जो भी तुम्हारे घर जाए या तुम्हें देखे, उसकी लार टपकने लगे, उसकी नींद और उसका चैन छिन जाए, तड़प उठे कि यह चीज जो तुम्हारे पास है, उसके पास सुबह नहीं, तो शाम तक आ जाए। और जब तक न आए, तब तक न खाना अच्छा लगे, न पीना, न जीना।।"[166] बाज़ारवाद की यह प्रवृति जिसमें उपभोक्ता खुद खिंचा चला आता है, चाहे उस वस्तु की उसे जरूरत हो या नहीं। यह भूमंडलीकरण की ही देन है।

बाज़ारवाद भूमंडलीकरण की अनिवार्य और अवश्यंभावी प्रवृत्ति है। इसने हमारी जीवन पद्धति और मूल्यों में इतना परिवर्तन कर दिया है, कि वह आधुनिक देवता के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। अनामिका ने अपने उपन्यास 'तिनका-तिनके पास' में इसे शब्दबद्ध करते हुए लिखा है कि- "तैंतीस करोड़ देवताओं की बात खूब कही- देवताओं की सूची में एक नया देवता है बाज़ार देवता! है न? एक बार उसे भी सर नवां आएं ? कुछ जरूरी खरीददारियाँ करनी है।"[167] बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारतीय बाज़ार पर कब्जा जमाने के लिए इतनी लालायित है कि छोटे व्यापारों के बढ़ते संकटो के बीच, आत्महत्याओं की गूंज उन्हें नहीं सुनाई देती। रवीन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूंगा' में

[166] सिंह काशीनाथ : काशी का अस्सी, 2016, पृ. सं. 142

[167] अनामिका : तिनका तिनके पास, 2008 पृ.-

बाज़ार की रणनीति के कारण तिल-तिल भूख से मरने को मजबूर और आत्महत्या में मुक्ति मानने वाले लोगों की तुलना जलियाँवाला बाग हत्याकांड के शहीदों से की है- "... जलियाँवाला बाग आदमियों को घेरकर गोलियों से भूनने का कांड है, जबकि बुढ़िया भूख से अपने-आप मर गई थी। वह भी घिरी थी, अंग्रेजी सूत और कपड़ों से।"[168] अगर बाज़ार को हड़पा नहीं जाता, तो शायद बुढ़िया को अपने सूत के लिए बाज़ार मिल जाता और उसे इस तरह मरना नहीं पड़ता।

अलका सरावगी के दूसरे उपन्यास 'शेष कादम्बरी' में बाज़ारवाद अपनी पूर्ण चमक-दमक के साथ उपस्थित है। उपन्यास की पात्र 'रुबी दी' जब चमचमाती महंगी कारों के बीच जब अपनी खटारा एम्बेसडर कार को देखती है तो उसे बढ़ी कोफ़्त होती है- "वह पहले अपने को जमाने के साथ पाती थी, पर अब नई तरह की चमचमाती गाड़ियों के बीच अपने को बहुत अकेला और पिछड़ा हुआ पाती है। सदी के अंतिम दस सालों में तो अब समझना नामुमकिन है कि किसके पास, कितना पैसा, कहाँ से आ रहा है। हर तरफ गाड़ियाँ हैं, एक से एक नई, चमचमाती।"[169] इन चमचमाती गाड़ियों के पीछे भागती नई पीढ़ी, और 'फायनेन्स' की बाज़ारवादी चाल को स्पष्ट करता हुआ यह उपन्यास, बाज़ार को समझने का बेहतरीन माध्यम है।

अलका सरावगी के एक अन्य उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में इन स्थितियों को गहराई से चित्रित किया है, कॉर्पोरेट जगत की दुनिया के अन्त-बाह्य संबंधों की सच्चाई को उजागर करने में यह उपन्यास कारगर है- बाज़ारवाद कैसे वस्तुओं की ललक उन लोगों के बीच भी पैदा करता है, जिन्हें न तो उन उपभोक्ता वस्तुओं की जरूरत है और न ही वे उनकी क्रय क्षमता में आते हैं। पर येन-केन प्रकारेण उन्हें प्राप्त करने का स्वप्न बाज़ार दिखाता है- "जमाना ये दिल मांगे मोर का है। बस्तर के एक गाँव में अपनी झोपड़ी में बैठकर आदिवासी टी.वी. पर वाशिंग मशीन में कपड़े धुलते देख रहा है और डबल-डोर फ्रिज में जाने कब से ताजी लौकी और टमाटर की गाथा सुन रहा है। इस देश की एक अरब जनता अब एक साथ सपने देख रही है- फ़र्क यही है कि किसी के सपने छोटे है, तो किसी के ज्यादा बड़े।" [170]

रविन्द्र वर्मा के उपन्यास 'दस बरस का भँवर' और 'आखिरी मंजिल' बाज़ारवाद की स्थितियों का कुशलतापूर्वक चित्रण करते हैं। 'दस बरस का भँवर' युवाओं से लेकर बूढ़ों तक में फैलते 'ब्रांडेड चीजों' के शौक की बानगी प्रस्तुत करता है। छोटे से शहर 'झाँसी' में रहने वाले बाँके बिहारी अपने

[168] वर्मा रविन्द्र : मैं अपनी झांसी नहीं दूंगा, 2004 पृ.
[169] सरावगी अलका : शेष कादम्बरी, 2004 पृ.- 10
[170] सरावगी अलका : एक ब्रेक के बाद, 2008 पृ.सं. 11

मँझले बेटे द्वारा मुम्बई में खरीदे जूते पहनकर यह अनुभूति करता है- "पैरों में नाईक के सफेद जूते पहने, उसने कहा था, पापा, आप इन्हें पहनकर घूमिए, चलना दौड़ने जैसा लगेगा।" [171]

रजनी गुप्त का उपन्यास 'एक न एक दिन' नई पीढ़ी की कॉर्पोरेट दुनिया का चित्रण प्रस्तुत करता है तो राजू शर्मा का 'विसर्जन' उपन्यास भूमंडलीकरण की आर्थिकता का विश्लेषण और आकलन प्रस्तुत करता है। वैश्विक बाज़ार में 'कला बाज़ार' को रेखांकित करने वाला अशोक भौमिक का उपन्यास 'मोनालिसा हँस रही थी' कला जगत के यथार्थ को प्रस्तुत करता है, वहीं चित्रा मुद्गल का 'आवां' उपन्यास विज्ञापन जगत में मॉडलिंग के व्यवसाय की विवशता और बारीकियों को उजागर करता है।

3.1.2 निजीकरण: पूँजीवाद का खुला आकाश

भूमंडलीकरण के दौर में बेलगाम हुए पूँजीवाद ने निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए वैश्विक आर्थिक ताकतों के माध्यम से सरकारों पर दबाव बनाया, कि वे लोकतांत्रिक जनकल्याण की योजनाओं से अपने हाथ खींचकर उन्हें बाज़ार के हवाले कर दे। 1990 के बाद केन्द्र और राज्य सरकारों ने भारतीय जनता को यह समझाया कि निजीकरण से न केवल कार्यकुशलता बढ़ेगी, अपितु सरकार की अनावश्यक जिम्मेदारी घटेगी। निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए पहले फायदे की सरकारी कंपनियों को खस्ता हाल में पहुँचाया गया, फिर औने-पौने दामों पर बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियों को सौंप दिया गया। यह सत्ता के पूँजीपतियों के हाथ में चले जाने और राजनीतिक नेतृत्व के मुखौटे को उजागर करता है। आम जीवन की मूल आवश्यकता रोटी, कपड़ा और मकान ही नहीं, शिक्षा और स्वास्थ्य को निजीकरण के मायावी दानव ने निगल लिया। पानी का भी निजीकरण इस भूमंडलीकरण के दौर की अमानवीय सच्चाई को उजागर करता है।

प्रियंवद ने अपने उपन्यास 'परछाई नाच' ने इसे सामने रखा है। आम आदमी के हक के साथ खिलवाड़ करती कोका-कोला जैसी कंपनियों ने पानी से आम जनमानस को मरहूम कर दिया। 'कितने पाकिस्तान' का पात्र अर्दली भी इस अवस्था का संकेत करता है-"आज भी इण्डिया के हजारों गाँव में जहाँ पीने का साफ पानी नहीं पहुंच पाया है, वहाँ पेप्सी और कोक पहुँच चुका है।"[172] पेयजल बोतलबंद शक्ल में देश के कोने-कोने में पहुँच रहा है, जबकि साधारण मनुष्य इसके लिए संघर्षरत् है।

3.1.3 बाज़ारवाद और साम्प्रदायिकता का गठजोड़

[171] वर्मा रविन्द्र : दस बरस का भँवर, 2007 पृ.सं. 18

[172] कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, 2014, पृ.सं. 291

भारत में भूमंडलीकरण के साथ साम्प्रदायिकता की आग तेजी से फैली । बाज़ारवाद और साम्प्रदायिकता के गठबंधन ने न केवल आम जनता का ध्यान सामाजिक न्याय और आर्थिक गुलामी से दूर किया, अपितु उग्र राष्ट्रवाद की प्रवृति को जन्म दिया। हिन्दी उपन्यासों में इसके खिलाफ़ प्रतिरोध की चेतना विकसित हुई। 1990 में 'गैट करारनामे' के खिलाफ़ पूरे देश में आंदोलन का उभार हो रहा था, क्योंकि निजीकरण, उदारीकण जैसी नीतियों की बुनियाद इस करार में छिपी हुई थी। सामाजिक न्याय की चर्चा भी होने लगी थी। ऐसे में संघ परिवार की रथ यात्राओं और बाबरी मस्जिद विध्वंस ने भूमंडलीकरण विरोधी आंदोलन को दबाने का कार्य किया ।

राजनीति के अपराधीकरण के साथ साम्प्रदायिकता का स्वरूप और प्रखर होता गया। राम जन्मभूमि-विवाद और बाबरी मस्जिद विध्वंस के प्रति हिन्दी उपन्यासकारों ने आक्रोश व्यक्त करने के साथ चिंता जाहिर की। इस दौर के कुछ उपन्यास तो इसी कथ्य पर केन्द्रित है, तो बहुत से अपने कथा प्रसंगों में इस स्थिति को समझने वाले कथानक रचते है । अलका सरावगी का 'कलिकथा: वाया बाईपास' काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी', रवीन्द्र वर्मा का 'दस बरस का भँवर', कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान', हरिचरण प्रकाश का 'एक गधर्व का दु:स्वप्न, अनवर सुहैल का गोधरा कांड पर 'पहचान' आदि ऐसे उपन्यास है, जो भूमंडलीकरण के दौर में भारतीय साम्प्रदायिकता को रेखांकित करते हैं।

रवीन्द्र वर्मा के उपन्यास 'निन्यानवे' में दिखाया गया है कि यूरिया खाद बनाने वाली कंपनी अपने उत्पाद का नाम 'जै श्रीराम' रखती है, ताकि बाज़ार में वह यह जतला सके कि उस खाद को न केवल श्रीराम का आशीर्वाद है, अपितु वह उस पक्ष के साथ है, जो जय श्रीराम के नाम का उद्घोश कर उग्र धार्मिक उन्माद फैला रहे हैं। वहीं दूसरी और 'चांद' यूरिया में गाय की हड्डियों के चूरे का इस्तेमाल होने को प्रचारित किया गया। क्योंकि "व्यवसाय कोई लिहाज नहीं करता। वह हर चीज इस्तेमाल करता है, मजहब से जमीन तक हर चीज का।"[173] कृषि में प्रयुक्त खाद भी धार्मिक मुहर के साथ उपस्थित है, क्योंकि माहौल में धार्मिक तनाव है। बाज़ार इसका भरपूर फायदा उठाता है।

'परछाई नाच' उपन्यास में 'पानी बेचने वाली कंपनी 'गंगा का पानी' ही नहीं बेचती है, बल्कि उसकी पवित्रता को धर्म का रंग लगाकर बचेती है- "हमारा पानी धर्म और आध्यात्म का पानी होगा। मनुष्य को देवताओं के लोक में ले जाने वाला... उसके पुरखों की तड़पती, अभिशप्त, अतृप्त आत्माओं को मुक्त करने वाला होगा। यह पानी हर उस आदमी के लिए जरूर होगा, जिसके घर में कोई मरने

[173] वर्मा रवीन्द्र : निन्यानवें, 2002 पृ.सं. 17

वाला बूढ़ा है, कोई ऐसा रोगी है जिसका रोग ठीक नहीं होता।.... यह एक नया विचार है जिसके साथ हम बाज़ार पर हमला करेंगे।" [174]

रवीन्द्र वर्मा के उपन्यास 'दस बरस के भँवर' में दिखाया गया कि 'लखनऊ जैसे शहर में ताजियों को लेकर शिया-सुन्नियों के झगड़े तो सुने थे, पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे बिल्कुल नई बात थी। उपन्यास के पात्र नूर और अमन का बेटा पिता से सवाल करता है कि-"पापा मंदिर और मस्जिद एक साथ क्यों नहीं रह सकते?" वस्तुतः यह समय से पूछा गया सवाल है। नमन को यह प्रश्न व्याकुल करता है कि "मथुरा और काशी में वे एक दूसरे के साथ पीठ से पीठ टिकाए रहते हैं, तो अयोध्या में क्यों नहीं?" यहाँ पर लेखकीय दृष्टि उभरकर सामने आती है। जवाब मिलता है क्योंकि "अयोध्या में मस्जिद के मलबे से कुर्सियों की खेती होगी।"

अनवर सुहैल के उपन्यास 'पहचान' में गोधरा कांड के बाद हुए नरसंहार की रिर्पोटिंग करते पत्रकारों की प्रकृति और उनके प्रायोजकों के माध्यम से दिखाया है कि साम्प्रदायिकता की आग में झुलसी मानवता भी बाज़ार की बिक्री का एक 'प्रोडक्ट' है। उपन्यासकार लिखता है- "गोधरा कांड के बाद गुजरात में मारकाट मची हुई थी। एक से बढ़कर एक न्यूज रिपोर्टर कैमरा टीम के साथ जहाँ-तहाँ पिले पड़े हैं, ताकि दंगों का लाइव-कवरेज बना सके।' हर टी.वी. चैनल दिखा रहा था- "यह एक्सक्लूसिव कवरेज सिर्फ़ इसी चैनल में आप देख रहे हैं... ये देखिए हमारे संवाददाता के साथ जनता कैसा बर्ताव कर रही है- लोग हमारा कैमरा तोड़कर फेंक देना चाहते हैं, इस सड़क को देखिए, पुलिस के सिपाही मौन खड़े भीड़ को अवसर दे रहे हैं... वो देखिए एक गर्भवती महिला किस तरह भागना चाह रही है... किस तरह त्रिशूल और लाठियाँ लिये, माथे पर गेरुआ पट्टी बांधे युवक उस महिला को चारों तरफ से घेरकर खड़े हो गए हैं... और... और ये रहा उस महिला के पेट का त्रिशूल की नोक से चीरा जाना.... देखिए किस तरह त्रिशूल पर अजन्मा बच्चा भीड़ के सिरों पर खुले आकाश में लहराया जा रहा है। याद रखिए ये लाइव कवरेज हमारे चैनल पर ही दिखाया जा रहा है।"

वस्तुतः खबरों का यह प्रसारण जिस आत्मिक मनोभाव से किया जा रहा है, वह न्यूज चैनलों की अमानवीय असंवेदनशीलता को व्यक्त करता है "और इन खबरों के प्रायोजक हैं- 'हीरे-जवाहरात के व्यापारी, चरस-हीरोईन के स्मगलर, जूता, साबुन, कंडोम और नेपकिन्स के निर्माता।" बाज़ार का दर्शन हर हाल में अपना प्रोडक्ट ग्राहकों को पहुँचाने के लिए आतुर है।

3.1.4 बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आकर्षण: युवा सपनों का बिखराव

[174] प्रियंवद : परछाई नाच, 2005, पृ.सं. 123

भूमंडलीकरण ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत में कारोबार करना आसान बना दिया। जहाँ एक ओर सरकारों द्वारा रोजगार सृजन की अक्षमता व्यक्त की गई, वहीं दूसरी ओर ये मल्टीनेशनल कंपनियाँ लाखों-करोड़ों का पैकेज लेकर उच्च तकनीकी संस्थानों के दर पर माथा टेकने लगी। तकनीक में दक्ष इन युवाओं के पास अपने सपने पूरा करने का यह सुनहरा अवसर था, इससे पहले इतने बड़े 'पैकेजों' का अस्तित्व ही नहीं था। पर इसी लालसा ने इन युवाओं को मशीनी रोबोट में बदल दिया- "न इन्हें भोजन की चिन्ता है न आराम की। एक आँख कम्प्यूटर पर गढ़ाये ये भोजन की रस्म अदा कर लेते हैं। और फिर लग जाते हैं, कंपनी का व्यापार सिद्ध करने।"[175]

भारी भरकम पैकेजों पर काम करने वाली कॉरपोरेट्स जगत की यह युवा पीढ़ी तनाव से रहित नहीं है। रजनी गुप्त का उपन्यास 'एक न एक दिन' इस विसंगति को अच्छी तरह व्यक्त करता है-"ए नीति, कितना बड़ा छलावा साबित होते हैं ये लाखों के पैकेज ? घर वाले उसी हिसाब से हर महीने पैसे जोड़ने लगते हैं, मगर अंदर की हकीकत हम उन्हें ठीक से समझा भी तो नहीं पाते।" पैसे कमाने की इस अंधी दौड़ में उनका वजूद एक मशीन के रूप में ही है- 'कोई नहीं समझना चाहता हमारे तनावों को? ओफ़! कितनी भगदड़ मची रहती है हमारे अंदर-बाहर? कभी-कभी लगता है- मशीन में और हममें क्या फ़र्क रह गया है ? 'इस पीढ़ी के लोग "महत्वाकांक्षाओं के भंवर जाल में फँसे हैं, जिसकी कोई 'हद' कभी हो भी नहीं सकती।"[176]राजू शर्मा का 'विसर्जन' उपन्यास युवाओं की इसी लालसा और स्वप्नों के बिखराव को अभिव्यक्त करता है। रवीन्द्र वर्मा का 'निन्यानवे' उपन्यास में मुखर्जी ऐसा पात्र है जो कंपनी और अपने हित को सर्वोपरि मानते हैं, उनके लिए इस बात से कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि 'वह जिस दवाई की मार्केटिंग कर रहा है, वह असरदायक है भी या नहीं- "मौत ऊपर वाले के हाथ में है। हमारे हाथ में मौत से पहले अपनी दवाईयाँ बेचना है।" [177]

अलका सरावगी का उपन्यास 'कलिकथा: वाया बाईपास' दिखाता है कि पुरानी पीढ़ी असीमित दौलत की लालसा में अपनी युवा पीढी को बहुराष्ट्रीय कंपनियों की नौकरी करते देखना चाहती है, बड़े भारी भरकम पैकेज उनके अभिमान की पुष्टि करते हैं "हमारे खानदान में ये जो रामविलास हुए थे न, उन्होंने ही इतनी बड़ी हवेली बनवाई थी भिवानी में। अंग्रेजों से बड़ी दोस्ती थी उनकी। क्या पता, हमारा बेटा उतना ही 'लकी' निकले। क्या पता कोई मल्टीनेशनल कंपनी का विलायती साहब उस पर मेहरबान हो जाए।"[178] 'ईंधन' उपन्यास में रोहित पैसे की आवश्यकता के चलते बाजारवादी शक्तियों

[175] कालिया ममता : दौड़, 2000, पृ.सं. 21

[176] गुप्त रजनी : एक न एक दिन, 2008, पृ.सं. 320

[177] वर्मा रवीन्द्र : निन्यानवें, 2002 पृ. सं. 87

[178] सरावगी अलका : कलि कथा वाया बाइपास, 2002 पृ. सं.

की गिरफ्त में फँसता है। कंपनी वाले इतना काम करवाते हैं कि वह तनाव में चला जाता है, पर यह तनाव ही व्यक्ति की सफलता को सामने रखता है। ऐसा कंपनी घोषित करती है- "उनमें से हर एक बेहद स्मार्ट, वाक्पटु और कुशल हिसाबी था, लेकिन वे हर समय तनाव में रहते थे। उनसे कहा भी यही जाता था कि तुम्हें हर समय तनाव में रहना चाहिए।"[179] तनाव में व्यक्ति की सोच कुन्द हो जाती है और वह उसी को नियति मान बैठता है।

साम्राज्यवाद दुनिया पर एकाधिकार बनाये रखने के लिए मनुष्य को मौलिक सोच से मुक्त कर यंत्र में ढ़ालना चाहता है। वह मनुष्य को मानसिक स्तर पर गुलाम बनाकर उसे साम्राज्यवाद के गुणगान हेतु प्रशिक्षित करता है। ऐसी स्थिति में वह अपने जीवन परिवेश, संस्कार और संस्कृति को भूलता जाता है। नयी पीढ़ी का यह अंधानुकरण भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति के लिए खतरा बनता है। हिंदी उपन्यास इस संस्कृति के खिलाफ़ प्रतिरोध खड़ा करता है।

3.1.5 कृषि और देशी उद्योगों की बदतर स्थिति

भूमंडलीकरण के पैरोकारों ने कृषि को उद्योग के रूप में चिन्हित कर बाज़ार के हवाले करने के लिए सरकारों पर दबाव बनाया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्वबैंक ने भारत ही नहीं, तीसरी दुनिया के देशों को दिये जाने वाले ऋण के साथ यह शर्त थोप दी कि वे अपने कृषि बाजारों को दुनिया के विकसित देशों के लिए खोलने के साथ ही कृषि सब्सिडी में कटौती करेगें। इस तरह भूमंडलीकरण ने भारतीय कृषि बाज़ार को वैश्विक खिलाड़ियों के लिए खोलने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

ममता कालिया ने अपने उपन्यास 'दौड़' में इसका संकेत किया है- "तरकारियाँ विश्व बाज़ार का जिन्स बनती जा रही है। इनका भूमंडलीकरण हो रहा है।"[180] कृषि क्षेत्र में दिये जाने वाले अनुदान पहले किसानों तक नहीं पहुँचते थे, तो वहीं आज भूमंडलीकरण ने सरकारी अनुदानों को ही खत्म कर दिया है। खाद-बीज पर दी जाने वाली रियायत कम कर दी है। पहले कृषि क्षेत्र में आधुनिक मशीनों और दूसरे संसाधनों की कमी थी, जिसके कारण किसानों को भारी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ता था। गरीबी और ऋण के दुष्चक्र के साथ बाज़ार में फसल की उचित कीमत न मिलने के कारण किसान आत्महत्या करने को मजबूर थे। आज भी उन स्थितयों में कोई खास बदलाव नहीं आया है।

रवीन्द्र वर्मा का 'निन्यानवे', 'दस बरस का भँवर' राजू शर्मा का 'हलफनामें' और 'विसर्जन' किसान समस्याओं पर केन्द्रित उपन्यास है। भारत जैसे देश में 'कृषि संकट' पैदा होने में अनेक कारण

[179] प्रकाश स्वयं : ईंधन, 2004 पृ.सं. 131

[180] कालिया ममता : दौड़, 2000, पृ.सं. 19

जिम्मेदार है- कृषि में घटता सरकारी निवेश, बढ़ती लागत और घटता लाभ, 'सेज' की संस्कृति आदि। ऐसे में किसान इस जाल-जंजाल से तभी मुक्त हो सकता है, जब वह इस दुनिया से मुक्त हो जाए- "इधर किसानों की आत्महत्या की खबरें आई थी, जिनका एक ही कारण था- ऋण और एक ही प्रविधि थी- कीटनाशक पी जाना, जैसे आदमी कीड़ा हो गया हो।"[181] भारत के कृषक वर्ग की हताशा का जिक्र कई उपन्यासों में हुआ है।

आज के भूमंडलीकरण ने कृषि और उससे जुड़े लघु उद्योग-धंधों को चौपट कर दिया है। उन्नत तकनीक से लैस इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों को मानवीय श्रम की उतनी जरूरत भी नहीं थी। वे उन बेरोजगार युवाओं के सस्ते श्रम से काम चला सकती थी, जो थोड़े से पैसों में पूरा दिन खट सकते थे- "नयी टेक्नोलाजी के रोटरी प्रेसों के आगे परंपरागत छापेखाने एक के बाद एक बन्द होते जा रहे थे। नयी टेक्नोलॉजी में उन्हें प्रशिक्षित करने को कोई तैयार नहीं था। वहाँ इतने आदमियों की जरूरत भी नहीं थी। बूढ़ों और असमय बूढ़ों की तो हरगिज नहीं। उनका काम शोषण कराने को तैयार और थोड़े पैसों में पूरा दिन खटने को राजी चन्द बेरोजगार किस्म के लड़कों से ही चल जाता है, जो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे।"[182] हिन्दी उपन्यास पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम के शोषण को उजागर करने के साथ श्रमिकों के प्रतिरोध को भी दर्ज़ करते हैं।

3.1.6 उपभोक्ता संस्कृति का प्रसार

भूमंडलीकरण ने एक नवीन पूँजीवादी संस्कृति विकसित की, जिसे उपभोक्ता संस्कृति कहा गया है। उपभोग की संस्कृति में विकास का पैमाना इस बात पर निर्भर है कि आप उपभोग के लिए कितने संसाधनों का प्रयोग करते हैं- 'दौड़' उपन्यास का पवन कहता है- "मैं ऐसे शहर में रहना चाहता हूँ जहाँ कल्चर हो न हो, कंज्यूमर कल्चर जरूर हो। मुझे संस्कृति नहीं उपभोक्ता संस्कृति चाहिए, तभी मैं कामयाब हूँगा।"[183] यह उपभोक्ता संस्कृति पवन को उसके ही पारिवारिक घर में 'एडजस्ट' होने से रोकती है। ईधन उपन्यास का रोहित भी इसी उपभोक्ता संस्कृति का शिकार है- "बुम्बई ने मुझे सपने देखना सिखा दिया। उसने मुझे अपने अब तक के जीवन को नीची नज़र से देखना, अपनी लगभग हर जानी-पहचानी चीज को घटिया समझना और जो कभी नहीं सोचा था उसे सोचना, उसके सपने देखना और देख पाने की कोशिश में सिर खपाते रहना सिखा दिया।"[184] रोहित तमाम सुख-सुविधाओं के साधनों से घर भरता जाता है, पर परिवार के लिए समय नहीं निकाल पाता, जो उसके लिए पारिवारिक

---

[181] वर्मा रवीन्द्र : दस बरस का भँवर, 2007 पृ.सं. 73

[182] स्वयं प्रकाश : ईधन, 2004 पृ.सं. 265

[183] कालिया ममता : दौड़, 2000, पृ. सं. 43-44

[184] स्वयं प्रकाश : ईधन, 2004, पृ.सं. 133

त्रासदी का कारण बनता है । उपन्यास के अंत में उपभोक्ता संस्कृति से उत्पन्न मोहभंग और उसके खोखलेपन को दर्शाया है।

'कलिकथा: वाया बाईपास' उपन्यास में 'अमोलक' नामक पात्र अपनी खस्ता आर्थिक हालात में भी नई कार खरीदता है, फाइनेंस के बल पर। जब उनके पिता किशोर बाबू इस पर सवाल करते हैं, तो वह जो जवाब देता है वह युवा पीढ़ी के उपभोक्ता संस्कृति के मकड़जाल में फँसे होने को दर्शाता है- "देखते नहीं कितने लोग कैसे-कैसे, किसलिए आत्म-हत्या कर रहे हैं- कोई लड़की जहर खा लेती है, क्योंकि उसका बाप उसे माधुरी दीक्षित वाला घाघरा-चोली नहीं ला कर देता और अपने इर्द-गिर्द क्या हो रहा है उसकी कोई खबर है आपको ? अभी मेरे दोस्त अक्षय की पत्नी ने आत्महत्या कर ली, क्योंकि अक्षय उसे अपनी शादी की सालगिरह पर ताज बंगाल नहीं ले गया था सेलीब्रेट करने ।' और कांता भाभी का तो सबको मालूम ही है- नए फर्नीचर और गहनों के सेट का दाम नहीं दिया भैया जी ने। इसलिए ऐन दिवाली के पहले जहर खा लिया उन्होंने। दो दीदियों के घर में बड़ी गाड़ी है, हमारा मन नहीं होता क्या ? आप चाहते हैं कि जो भैयाजी के साथ हुआ; मेरे साथ भी वही हो।" [185]

महानगरों में अन्तर्राष्ट्रीय ब्रांडों के बड़ी तादाद में खुलते शोरूम उपभोक्तावाद को नये-नये रूपों में बढ़ाने और उकसाने का काम करते हैं- "किशोर बाबू की पत्नी को समझ में ही नहीं आता कि शर्टों में ऐसा क्या है, कि बच्चे बिना नामी ब्रांड के कोई चीज खरीदते ही नहीं।" दरअसल ब्रांडिड संस्कृति ने भारतीय उपभोक्ता के मिजाज को पूर्णतया बदलकर रख दिया है। बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद का भयावह चेहरा हम तभी देख पाते हैं, जब सारी मानवीयता और रिश्तों की उष्मा इसकी भेंट चढ़ जाती है। अब उपभोक्ता आलू-गोभी जैसी सब्जी भी एयर कंडीशंड सुपर मार्किट से मंगवाना पसंद करता है। वैश्विक बाज़ार में इतने उत्पाद हैं कि उपभोक्ता क्या खरीदे और क्या न खरीदे, इस चक्कर में सब कुछ खरीदता है। पर जो आज खरीदता है, वह कल पुराना हो जाता है।

उपभोक्तावादी संस्कृति ने प्रत्येक व्यक्ति को करोड़पति होने का स्वप्न बेचा है। जब तक वह स्वप्न पूरा नहीं होता, तब तक वह जीवन भर के लिए टूटन और अवसाद में भर जाता है। उपभोक्तावाद ने नई पीढ़ी को जिस रूप में ढाल दिया है, अनामिका 'तिनका-तिनके पास' उपन्यास में उसका वर्णन करते हुए लिखती हैं कि-"आज की पीढ़ी का जीवन एक प्रकार से रोबोट होकर रह गया है। बात-बात पर थैंक्यू बोलने वाली पीढ़ी की नियति यह है कि "कम्प्यूटर दादा, मोबाईल दादी, टेलीविजन बुआ, कोचिंग चाचा, मम्मी और डैडी- बस इतनी सी जिनकी दुनिया हो-वृहत्तर विश्व की वर्चुअल रियलटी

[185] सरावगी अलका : कलिकथा : वाया बाईपास, 1998 पृ. सं. 198-199

उन्हें एक निकट मायानगरी का कैदी बना लेती है ।"[186] उपभोक्ता संस्कृति का चित्रण करने में 'कलिकथा: वाया बाईपास', 'शेष कादम्बरी', 'दस बरस का भंवर', 'आखिरी मंजिल', 'एक न एक दिन', 'विसर्जन', 'आवां', 'पंचकौड़ी' आदि उपन्यास बहुत हद तक सफल है। अपसंस्कृति का फैलाव, अंग्रेजी भाषा का बढ़ता वर्चस्व, मीडिया का बाजारीकरण, विज्ञापन की संस्कृति, औपनिवेशिक दासता और प्रतिरोध आज के हिन्दी उपन्यासों का मूल विषय है।

कुल मिलाकर भूमंडलीकरण ने जिस आर्थिक नीति का प्रचार-प्रसार किया है, वह आर्थिक निवेशीकरण से ज्यादा पाश्चात्य संस्कृति के फैलाव का साधन है। इसने भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों में गुलाम मानसिकता को जन्म दिया। बाजारीकरण, निजीकरण और उपभोक्तावाद को प्रश्रय देने वाली नीतियाँ जहाँ एक ओर कृषि और कुटीर उद्योगों का नाश, राष्ट्रीय कंपनियों के दिवालियेपन और स्वदेशी के तिरस्कार को बढ़ा रही है। वहीं दूसरी ओर बाज़ार की उपभोक्ता संस्कृति व्यक्तिवाद को सामने रखकर मानवीय रिश्तों में दरार और मूल्यों में बदलाव ला रही है। बाज़ारवाद को फैलाने में मीडिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मीडिया बाज़ार के जरिए लोगों को खींच रहा है। विज्ञापन जगत उपभोग केन्द्रित पाश्चात्य संस्कृति को प्रश्रय दे रहे है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण को आर्थिक और सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का कारण माना है, जो पूरे भारत में तनाव की स्थिति पैदा कर रहा हैं। लोक संस्कृति, भाषा और परंपरागत मूल्य खत्म हो रहे हैं, जिन्हें उपन्यासकारों ने प्रस्तुत कर नये आदर्शों मान्यताओं का खोखलापन उजागर किया है। इस तरह आधुनिक भूमंडलीकरण के दौर के हिंदी उपन्यास पाश्चात्य संस्कृति के सामने भारतीय संस्कृति का आदर्श खड़ा करते हैं।

3.1.7 भूमंडलीकरण और औपन्यासिकता

भूमंडलीकरण ने दुनिया भर के भाषा-साहित्य को प्रभावित किया। इस दौर में साहित्यिक मूल्य- मान्यताओं और विधागत स्वरूप में भारी परिवर्तन देखने को मिला। हिन्दी उपन्यास के संदर्भ में यथार्थ चित्रण की प्रस्तुति, उसके बदलते कलात्मक रूप को देखकर विजेन्द्र नारायण सिंह लिखते हैं कि 'हिंदी उपन्यास अपनी यात्रा में थक गया' और उसमें 'रचनात्मकता की नई कोंपल नहीं फूट रही है।" [187] हिन्दी उपन्यास में यथार्थ चित्रण की प्रस्तुति आज प्रेमचंद काल से पूर्णतया बदल गई है, हालांकि प्रेमचंद अपने युग के यथार्थ को जिस ढ़ंग से चित्रित करते हैं वह कम क्रांतिकारी नहीं था। ऐसा इसलिए कि "प्रेमचंद के उपन्यास जो यथार्थवादी शैली में आज इतने परंपरागत जान पड़ते हैं, उन्होंने अपने समय में उन्नीसवीं शती की किस्सागाई की जमीन को छोड़कर अचानक ऐसा मोड़ लिया था, जिसमें

[186] अनामिका : तिनका-तिनके पास, 2008, पृ.सं. 61

[187] सिंह पुष्पपाल : भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास, 2012, पृ.सं. 121

भारतीय समाज का औपनिवेशिक चरित्र अपने सम्पूर्ण दैन्य-दरिद्रता के साथ प्रकट हुआ था। पिछले दो सौ वर्षों के दौरान उत्तरी भारत के ग्राम्य जीवन में जो विषमता और आत्मवंचनायें थी, उनकी खरोंचे जिस कलात्मक निर्ममता से व्यक्त हुई है, वह सहसा हिन्दी की उपन्यास विधा को बीसवीं सदी के साहित्य के समकक्ष ला खड़ी करती है।" [188]

वर्तमान समय का 'यथार्थ' 'यथार्थवाद' के अन्तर्गत ग्रहण किए गए अर्थ से भिन्न है। आज का यथार्थ हिन्दी उपन्यासों में काल्पनिक जादुई यथार्थवाद के रूप में प्रकट हुआ है। उपन्यास के आवश्यक उपादानों के अन्तर्गत फैंटेसी, नीतिकथा, पौराणिक कथा, मिथक आदि का प्रयोग भी यथार्थ की प्रस्तुति के लिए हो रहा है और इसे यथार्थवाद से पलायन, अलगाव या समाप्ति नहीं कहा जा सकता। ये तो वे टूल्स है, जिससे मनुष्य के वर्तमान को देखने की दृष्टि मिलती हैं। वर्तमान समस्याओं का चिंतन इनके माध्यम से ज्यादा उभर पाता है। रणेन्द्र के आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यास और कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' इसके बेहतरीन उदाहरण है। 'कमलेश्वर का कितने पाकिस्तान' में 'कारगिल-युद्ध से लेकर प्राक्-ऐतिहासिक काल तक के घटना क्रम, मुगल साम्राज्य की अनेक हस्तियाँ, मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा का काल, कोफी अन्नान का समय-सब एक दूसरे में बहुत कुशलता से अन्तर्गमन करते हैं।'[189]

भूमंडलीकरण के परिवेश में 'उपन्यास की मृत्यु और 'पुनर्जन्म' की घोषणाएँ होती रही है। इस संदर्भ में नोबल पुरस्कार सम्मानित साहित्यकार वी.एस. नायपाल ने 15 अक्टूबर 2004 को अपनी पुस्तक 'मैजिक सीड्स' के लोकार्पण के समय उपन्यास की मृत्यु की घोषणा की। इस पर उनका तर्क था कि 'जमाने के बदलाव से उपजी व्यस्तता में, पाठक के पास इतना समय ही नहीं है कि वह उपन्यास पढ़े। उससे कम समय में वह कोई फिल्म या टीवी. सीरियल देख सकता है। "पहले लोग उपन्यास इसलिए पढ़ते थे, क्योंकि दिल बहलाव के साधन सीमित थे। अब लोग फिल्म देखना अधिक पसंद करते हैं। लोग दो घंटे में एक फिल्म देख लेते हैं, जबकि एक उपन्यास को पढ़ने में एक सप्ताह या उससे अधिक का वक्त लग जाता है।"[190] पर उन्यास की रचना को मात्रा और गुणवत्ता के आधार पर देखा जाये, तो स्थिति उतनी खराब नहीं दिखती है कि निराशा में डूब जाए।

उपन्यास की विधा आज भी सबसे ज्यादा बिकाऊ और न पिटने वाला उत्पाद है। पुष्पपाल सिंह ने उपन्यास विधा की सृजन यात्रा के स्थायी होने के संबंध में लिखा है कि- "उपन्यास की सृजन-यात्रा इसलिए भी नहीं रुक सकती कि युगबोध का समग्रता में चित्रण करने के लिए उपन्यास की कथा

[188] वर्मा निर्मल : बहुवचन पत्रिका, अंक-3, अप्रैल-जून 2001

[189] सिंह पुष्पपाल : भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास, 2012, , पृ. सं. 121

[190] सिह पुष्पपाल : पूर्वोक्त, पृ.सं. 128

के विराट-फलक की आवश्यकता होती है, कहानी तो उस सबका खंड-खंड चित्र ही प्रस्तुत कर सकेगी । साहित्य का पाठक उससे ऐसी कृति की अपेक्षा रखेगा ही, जिससे वह अपने संघर्ष संकुल जीवन को समग्रता में साहित्यकार की संवेदनात्मक दृष्टि से देख सके ।"[191] भूमंडलीकरण के समय में उपन्यास विधा के अन्तर्गत शिल्प में भारी बदलाव हुआ है । कभी उपन्यास का शीर्षक चौंकाता है, तो कभी उसमें अन्य विधाओं की भी चहलकदमी दिख जाती है । विभिन्न शैल्पिक प्रयोग उसे नये आकर्षण से बांध देते हैं ।

3.1.8 शिल्पगत परिवर्तन: परकाया प्रवेश यानि विधाओं की आपसी चहलकदमी

कहानीकार हिमांशु जोशी ने अपने कहानी संग्रह 'सागर तट के शहर' की भूमिका में लिखा है कि- "साहित्य की विधाएँ भी नए-नए रूपों में परिभाषित हो रही है । कहानी, कहानी तक सीमित न रहकर, विशुद्ध सच का पर्याय बन रही है । जीवनियाँ जीवंत कथाओं का रूप ले रही हैं । आत्मकथाएं औपन्यासिक शैली में पाठकों को अधिक रिझा रही हैं । यानि जो जैसा है, उसे हम उस रूप की अपेक्षा किसी दूसरे रूप में देखना अधिक पसंद कर रहे है । विधाओं की सीमा-रेखाओं के टूटने से साहित्य नया आकार ले रहा है । उसमें कम कृत्रिमता और अधिक आत्मीयता यानि अनुभूति की प्रामाणिकता अधिक सहज लग रही है ।"[192] हिमांशु जोशी विधागत स्वरूप की बजाय अनुभूति की प्रमाणिकता को अधिक महत्त्वपूर्ण मान रहे हैं । विधागत तोड़फोड़ से बना नया रूप साहित्य में एक ऐसी विधा को जन्म दे रहा है, जिसमें खुद लेखक को पता नहीं है कि उसने किस विधा की रचना की है-"आज कोई भी साहित्यिक विधा अपने मूल स्वरूप में सिमटकर नहीं रह गई है, उसमें गद्य की अन्य विधाओं की अन्तर्भुक्ति बड़े कौशल से की गई है । इस विधागत तोड़फोड़ में उस विधा का जो नया रूप निकल कर आता है, स्वयं रचनाकार को भी उसका ठीक-ठीक भान नहीं हो पाता है ।" [193]

'काशी का अस्सी' काशीनाथ सिंह की एक महत्वपूर्ण रचना है । इसे लेकर रचनाकार खुद असमंजस में है कि वे इसे कहानी माने या उपन्यास या फिर रिपोर्ताज । रिपोर्टिंग, भाषण, पत्रकारिता, आत्मकथांश अदि के माध्यम से वर्तमान के जीवित राजनेता, साहित्यकारों, विश्वविद्यालयों, अध्यापकों और स्वयं कथाकार ने अपने को चित्रित किया है, वह औपन्यासिक शिल्प का नया नमूना है । कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' 'अतीत में वर्तमान और वर्तमान में अतीत' को जिस शैल्पिक कौशल के साथ प्रस्तुत करता है, उसे लेकर कुछ आलोचकों ने इसे उपन्यास मानने से ही इनकार कर दिया, तो कुछ ने

---

[191] सिंह पुष्पपाल : पूर्वोक्त, पृ.सं. 130

[192] जोशी हिमांशु : सागर तट के शहर, 2005 भूमिका पृ.सं. 5

[193] जोशी हिमांशु : पूर्वोक्त पृ. सं. 5

'अनुपन्यास' की कैटेगरी में डाल दिया। डायरी, पत्र शैली और न्यायालय की रिपोर्टिंग आदि के माध्यम से बुना गया कथानक उपन्यास के एक नये रंग-ढंग से परिचय कराता है। अलका सरावगी के 'कलिकथा- बाया बाईपास' उपन्यास में डायरी तिथियों को ही अध्यायों के शीर्षक के बतौर डाल दिया गया है। जैसे '7 नवम्बर, प्रमल कुमार टैगोर स्ट्रीट','कौलः1 जनवरी 2000 ई', '2 जुलाई 1940' आदि। इसी तरह अनामिका के उपन्यास 'तिनके-तिनके पास' में डायरी तिथियों का उल्लेख किया है।

उपन्यास को आत्मवृतांत के रूप में भी देखा जाने लगा है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में- "हर आत्मकथा एक उपन्यास है और हर उपन्यास एक आत्मकथा।"[194] किन्तु वर्तमान उपन्यासों, विशेषकर लेखिकाओं के उपन्यासों में 'आत्मकथा' की सीमा तक यह चित्रित होता है। प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता', मैत्रेयी पुष्पा का 'कस्तूरी कुंडल बसै' एवं 'त्रियाहठ' जैसे उपन्यास आत्मकथा के कलेवर में है, वहीं मृदुला गर्ग उपन्यास 'कठगुलाब' स्त्री पक्ष का विश्लेषण करते हुए निबंध की सीमाओं को स्पर्श करता हैं। काव्य पंक्तियों का प्रयोग उपन्यास में पहले भी होता रहा है, पर इधर के उपन्यासों में उसकी बहुतायत देखने को मिलती है। उपन्यास में संवादों के माध्यम से नाटक की अन्तर्भुक्ति देखी जा सकती है। उपन्यासों के परंपरागत स्वरूप में अध्यायों को नाम देने की जगह प्रायः क्रम दिया जाता था। उपन्यास को अध्यायों में विभाजित कर शीर्षक देने की प्रवृत्ति इसी दौर में पनपी है। कहीं ये शीर्षक पाठक को चौंधियाते हैं, तो कहीं कथानक से तारतम्य बिठाते हैं। 'मुझे चाँद चाहिए' में शीर्षक के साथ उपसंहार दिया गया है जिसमें 47 उपशीर्षक है- 'सतरंगी इन्द्रधनुष', 'राजश्री की गाय', 'फ्रैंड फिलास्फर एवं गाइड' 'अपरिचय के सह्याद्रि' और 'अंतिम प्रेम की अंतिम भाषा' आदि। ये शीर्षक अध्याय के कथ्य से संबंधित होते हैं। अलका सरावगी के 'कलिकथा-वाया बाईपास' में शीर्षकों को बहुत आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है- 'समवेयर इन द नार्थ', 'जिंदगिया बेमतलब' आदि। आज यह प्रवृत्ति काफ़ी फैशन में है। संजीव के उपन्यास 'आकाश चंपा' में शीर्षक इस प्रकार है- 'सखि रे, की पूछसि अनुभव मोर', 'हाँ तो मैं क्या पढ़ रहा था?', 'सोसायटी के बैक बैंचर्स', 'गोभी के खेत में', 'कंकालों की फसल' आदि।

भूमंडलीकृत दौर से पूर्व के हिंदी उपन्यास आकार की दृष्टि से बहुत पृथुलाकार है। इससे जहाँ लेखक को कथा के व्यापक फैलाव का अवसर मिला है, वहीं प्रकाशक को मोटा मुनाफा। वर्तमान के बदले हुए सामाजिक परिदृश्य में इसने पाठक और आलोचक को इससे दूर भी किया है। अंग्रेजी साहित्य के लेखक खुशवंत सिंह ने एक जगह लिखा कि- "पूरे जीवन कथा-साहित्य पढ़ने की गिरफ़्त में पड़ा हुआ, अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उपन्यास चार सौ पृष्ठों से ऊपर नहीं होना चाहिए, उसमें

[194] यादव राजेन्द्र : हंस, दिसम्बर 2001, भूमिका से

पांच-छः पात्रों का ही चरित्र-निर्वहन हो तथा उसका मूल्य 300 रु. से कम ही हो ।"[195] वर्तमान की भागदौड़ भरी जिंदगी में पढ़ने के समय पर होता अतिक्रमण उपन्यासों के आकार को छोटा रखने पर बल देता है। लेखक के लिए भी बड़ा कथानक पठनीयता का बुरी तरह क्षरण करता है, उसमें दोहराव और अनावश्यक विस्तार की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। ऐसे में छोटे उपन्यासों जैसे- निन्यान्वें, 'मैं अपनी झांसी नहीं दूंगा', 'कलिकथा बायां वाईपास', 'काशी का अस्सी', 'ग्लोबल गाँव के देवता' आदि की सफलता के पीछे उनका लघु आकार भी है।

हिन्दी उपन्यासों के कथाफलक को देखें तो पायेंगे कि भूमंडलीय क्षेत्र का हर विषय और अनुभव, कथा निर्मित का विषय बना है। वैश्वीकरण की आर्थिकता के श्वेत-श्याम पक्ष, अमीर-गरीब के बढ़ती खाई, बाज़ारवाद, उपभोक्तावादी मूल्यदृष्टि, अर्थ का मोह, आकाशी मृगतृष्णा उपन्यासों का प्रमुख कथ्य बनी है। औपनिवेशिक दासता में रहते हुए देश और व्यापक जनसमुदाय ने जो भोगा-सहा है , उसकी ऐतिहासिक जाँच पड़ताल प्रस्तुत कर उपन्यासकारों ने अपनी नवीन दृष्टि का परिचय दिया है। पूर्व-दीप्ति पद्धति से कथा को बहुत पीछे ले जाना, फैंटेसी और व्यंग्य के माध्यम से कथानक का नया आश्चर्य लोक सामने रखना, परिवेश के सच को और अच्छे ढंग से व्यक्त करने हेतु व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग इस दौर के उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है।

भाषाई नजरिये से हिंदी उपन्यास अपने पूर्ण परिमार्जित और 'खांटी' शुद्धताबोध को त्यागकर सहज छवि के साथ 'भाषा बहता नीर' की सार्थकता सिद्ध कर रहा है। काशीनाथ और संजीव की उपन्यास भाषा से उसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। काशीनाथ सिंह बनारस की बोली-वाणी, वहाँ के गालीवादी लोक को आकुंठ भाव से अपनाते हैं। 'काशी के अस्सी' में प्रस्तुत गालियाँ वहाँ की भाषा का जरूरी अंग और श्रंगार है। इसलिए पात्र भी सहज रूप से उनका उद्घोश करते हैं-'भौंसड़ी के सौ करोड़ की आबादी में पाँच झंटकुल्ली सी.पी.आई. और दिखाएँगे ऐसे कि ये न हो तो देश ही न चले।' काशी की गालियों का यह 'शब्द कल्पद्रुम' पूरी धज के साथ, बिना किसी जोड़ घटाव के इस उपन्यास में वर्णित है। भूमंडलीकृत पीढ़ी के लेखकों की भाषा अपने परिवेश की नई-नई चीजों, उपकरणों, संवेदना, बिंब के साथ इतनी अर्थवान और सक्षम है कि इससे भाषा एकदम खिल उठी है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास भूमंडलीकरण के दौर में अपने व्यापक विषय और संदर्भों के साथ हिन्दी पाठक के समक्ष उपस्थित है। पाठक अपनी पसंद और वैचारिकी के आधार पर कोई भी उपन्यास चुन सकता है। उसकी पसंद का हर बाज़ारवादी 'टेस्ट' हिन्दी के इन उपन्यासों में उपलब्ध है। इन उपन्यासों के केन्द्र में मध्यवर्गीय समाज और उसकी विसंगतियों का

[195] पुष्पपाल सिंह: भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास, 2012, पृ. सं. 134

चित्रण ही ज्यादा हावी है, ये उपन्यास कहीं अपने वैचारिक बोध के साथ पाठक को उद्देलित करते है, तो कहीं उनके मनोजगत के अनुकूल बात रखकर उनके अहं को संतुष्ट करते है । विषय का नया विस्तार, शिल्प के नये प्रयोग हिन्दी उपन्यास पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को रेखांकित करते है।

3.2 भूमंडलीकरण से पूर्व के हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी

हिन्दी गद्य साहित्य के उद्भव और विकास के साथ ही उपन्यास विधा का शुभारंभ हुआ । आधुनिक काल की सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास स्थापित है । स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गाँधीजी और कांग्रेस का नेतृत्व भारतीय आजादी के नारे को गाँव-गाँव तक ले जाने के लिए दृढ़ संकल्पित था । हिंदी साहित्यकार भी इससे प्रभावित थे, उन्होंने अपने उपन्यासों में गाँव-देहात को प्रमुखता से उभारने का कार्य किया । आजादी के काफ़ी बाद तक हिन्दी उपन्यास साहित्य में आंचलिकता की यह प्रवृति विशेष रूप से छाई रही । इसका विकास दो रूपों में हुआ-जनपदमूलक और जनजातीय मूलक।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने अपने आलेख 'आंचलिक उपन्यास और ग्रामीण यथार्थ में' आंचलिक उपन्यासों का वर्गीकरण करते हुए लिखा हैं कि "हिंदी के विशुद्ध आंचलिक उपन्यासों के दो प्रधान भेद है- पहले उपन्यास वे है, जिनमें अंचल विशेष के जनजीवन का चित्रण होता है । दूसरे प्रकार के आंचलिक उपन्यास वे हैं, जिनमें किसी जाति-विशेष (प्राय अपरिचित और आदिम जातियों) का जीवन चित्रित होता है ।"[196] शिवदत्त वावळकर जैसे लेखक आंचलिक और जनजातीय उपन्यासों के फ़र्क को चिन्हित करते हुए लिखते हैं कि "आंचलिक उपन्यास में रचनाकार का विशेष ध्यान 'अंचल' पर केन्द्रित रहता है, जबकि जनजातीय जीवन पर उपन्यास लिखते समय रचनाकार का विशेष ध्यान आदिवासी जाति और उनके जीवन सरोकारों पर स्थिर रहता है । जनजातिमूलक उपन्यासों में उपन्यासकार जनजातियों के जटिल जीवन को रेखांकित करते हुए उनके जीवन मूल्य, पर्व, उत्सव, परंपरा, विश्वास, संघर्ष और प्रकृति आदि के विभिन्न रंगों को चित्रित करता है । "[197]

हम इन जनजातिमूलक उपन्यासों को आदिवासी जीवन केन्द्रित प्राथमिक उपन्यास कह सकते है । इन उपन्यास लेखकों का उद्देश्य आदिवासी जीवन और उनकी किन्हीं अनसुनी-अनदेखी परंपराओं, विश्वासों से गैर आदिवासी समाज को परिचित कराना था । आदिवासी उपन्यासों की इस परंपरा में यह देखना दिलचस्प है कि आदिवासी समाज की प्रस्तुति के समय इन्होंने लेखकीय सच्चाई और ईमानदारी

[196] मिश्र रामदरश : हिंदी के आंचलिक उपन्यास (सं.), पृष्ट संख्या 31

[197] वावळकर शिवदत्त : हिंदी उपन्यास और जनजातीय जीवन, 2018, पृ. सं. 62

को कितनी निष्ठा के साथ निभाया हैं। आदिवासी समाज को आधार बनाकर लिखे गये इन उपन्यासों के लेखक गैर-आदिवासी थे, इसलिए इन्होंने जो भी अपने अनुभव जगत से जाना-समझा, उसे कथा का रूप दे दिया। हिन्दी साहित्य में गैर आदिवासी लेखकों द्वारा रचित आदिवासी विषयक उपन्यासों को ऐतिहासिक कालक्रमानुसार तीन भागों में बांटकर देख सकते हैं।

3.2.1 हिन्दी के आदिवासी विषयक उपन्यास : आजादी से पूर्व

हिन्दी में आदिवासी जीवन पर उपन्यास लिखने वालों में सबसे पहला नाम जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का आता है, जिन्होंने मुंगेर जिले के मलयपुर अंचल के मल्लाह आदिवासियों पर 1899 ई. में बसंत मालती उपन्यास लिखा। यह उपन्यास आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं यथा-सांस्कृतिक पर्व, उत्सवधर्मिता, विश्वास, गीत-संगीत, नये-पुराने जीवन मूल्य, प्रकृति के साथ उनके सह अस्तित्व को अभिव्यक्ति देने वाला उपन्यास है। इस उपन्यास की खूबियों को उजागर करते हुए डॉ. बी. के कलसावा लिखते हैं कि "आदिवासियों के जटिल जीवन चित्र को अंकित करने के लिए लेखक कहीं मोटी रेखायें खींचता हैं तो कहीं पतली, कहीं अवकाशों को भरने के लिए दो चार बिंदु अपनी तूलिका से जड़ देता है।"[198] तदोपरांत 1907 ई. में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' 'अधखिला फूल' और ब्रजनंदन सहाय 'अरण्यवाला' उपन्यास की रचना करते हैं। आदिवासी जीवन की पूर्ण तस्वीर प्रस्तुत करने वाले हिन्दी उपन्यासों में रामचीज सिंह का 'वनविहंगिनी' (1909) महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। यह झारखंड़ के संथाल परगना की आदिवासी महिलाओं के जीवन संघर्ष को उजागर करता है।

1914 ई. से 1952 ई. तक के कालखंड में आदिवासियों से संबंधित कोई उपन्यास हिंदी साहित्य में नहीं दिखाई देता, जबकि इससे पूर्व आदिवासी जीवन से संबंधित कईं महत्वपूर्ण उपन्यास आ चुके थे। इस स्थिति का उल्लेख करते हुए शिवदत्ता वावळकर लिखते हैं कि -"हिंदी साहित्य में भी लगभग सभी विधाओं के माध्यम से स्वाधीनता की भावना मुखर हुई, परन्तु उस समय के आदिवासियों द्वारा अंग्रेजों तथा हिंदुस्तानी जमींदारों के खिलाफ़ किए गए विद्रोह तथा आंदोलनों को साहित्य में अभिव्यक्ति नहीं मिली।"[199] इस स्थिति में इतिहास में छूटते गये आदिवासियों के सघर्षों को साहित्य में प्रस्तुत किए जाने की अपेक्षा बनी रहती है, परन्तु साहित्य ने भी उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। आदिवासी विषयक उपन्यासों का यह खालीपन आजादी के बाद तक चला।

3.2.2 हिन्दी आदिवासी उपन्यास : आजादी के बाद (1947-1990)

[198] कलासवा बी के : हिंदी में आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, , पृ. सं. 64

[199] वावळकर शिवदत्त : हिंदी उपन्यास और जनजातीय जीवन, 2018, पृ. सं. 58

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी में आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यासों की एक अनवरत् धारा विकसित हुई। देश की आजादी के कर्णधारों ने आदिवासी समाज को भरोसा दिलाया कि अब सब कुछ ठीक होगा। जवाहरलाल नेहरू ने आदिवासी स्वायत्ता के साथ उनके विकास की बात रखी। पं. नेहरू द्वारा घोषित 'आदिवासी पंचशील की नीति' के बावजूद आदिवासियों को आन्तरिक उपनिवेश मानने वाली मुख्यधारा की सोच में कोई बदलाव नहीं आया। इसका नतीजा यह हुआ कि आदिवासी असंतोष की आग पूर्व की भांति सुलगती रही, जिसकी चरम अभिव्यक्ति पूर्वोत्तर के अलगाववादी आंदोलन और मध्य भारत के नक्सलबाड़ी विद्रोह में आदिवासियों की भूमिका से समझी जा सकती है।

भारत ने जिस लोकतांत्रिक विकास का सपना देखा, वह आदिवासी संदर्भों में कहीं नहीं दिखा। नेहरू के विकास के मंदिर आदिवासियों को रौंद कर ही बन रहे थे। आदिवासियों को पलायन, विस्थापन, भुखमरी और गरीबी के अलावा कुछ हासिल नहीं हुआ। इस परिवेश में हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों की उपस्थिति कितनी संभव हुई, क्या हिन्दी उपन्यासकार आदिवासी समाज की इन बदली हुई परिस्थितियों को व्यक्त करने में कामयाब हुए। यह देखना निहायत ही जरूरी है। शिवदत्ता वावळकर लिखते हैं कि-"स्वतंत्रता के बाद हिंदी उपन्यास साहित्य में आंचलिक लेखन की एक धारा प्रवाहित हुई, जिसके अंतर्गत जनजातियों को केन्द्रीय विषयवस्तु बनाकर उपन्यास लेखन की परंपरा विकसित हुई।"[200]

इस दौर में एक ओर गैर आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी विषयक सैंकड़ों उपन्यासों का सृजन किया, वहीं हिन्दी भाषा और साहित्य की थोड़ी समझ रखने वाले आदिवासी रचनाकार भी रचनाकर्म में प्रवृत हुए। उपन्यास चूंकि इस समय तक हिन्दी साहित्य में प्रमुख विधा के तौर पर स्थापित हो चुकी थी, इसलिए हिन्दी सीखे हुए कुछ आदिवासी रचनाकारों ने उपन्यास लेखन का प्रयास किया। मैं इस उप अध्याय में आदिवासी और गैर आदिवासी लेखकों के उपन्यासों का कालक्रमानुसार उल्लेख करते हुए उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषताओं और गैर आदिवासी तथा आदिवासी उपन्यासों के मूलभूत अंतर को उजागर करने का प्रयास करूंगा।

आजादी के बाद 1960 ई. तक हिन्दी कथा साहित्य में आंचलिकता के साथ ग्रामीण परिवेश की प्रस्तुति प्रमुख रूप से देखी जा सकती है। गांधी के सिद्धान्तों पर कुछ हद तक विश्वास जताने वाली कांग्रेसी राजसत्ता अभी तक भारत को गांवों का देश मानती रही। इसका असर उस दौर की बुद्विजीवी साहित्यिक जमात पर भी पड़ा। इसलिए आजादी से पूर्व जिस आदिवासी विषयक लेखन का अकाल

[200] वावळकर शिवदत्त : पूर्वोक्त, 2018, पृ. सं. 60

सा था, वह खत्म हो गया । हिन्दी साहित्यकरों ने आंचलिकता के प्रभाव में आदिवासी जीवन के वैशिष्ट्य को उजागर करने वाले उपन्यासों की सृष्टि की ।

1947-60 ई. के प्रमुख आदिवासी विषयक उपन्यासों में वृंदावन लाल वर्मा द्वारा लिखित 'कचनार' (1947 ई.) देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिए' (1952-53 ई.), 'ब्रह्मपुत्र' (1956 ई.), श्याम परमार का 'मोरझाल' (1956 ई.), योगेन्द्रनाथ सिन्हा का 'वनलक्ष्मी' (1956 ई.), रांघेय राघव का 'कब तक पुकारूं (1957 ई.), बाबा नागार्जन का 'वरूण के बेटे' (1957 ई.), राजेन्द्र अवस्थी का 'सूरज किरण की छांव' (1958 ई.), गुरूवचन सिंह का 'वनपाखी' (1960 ई.), शानी का 'सांप और सीढ़ी' के नाम से पूर्व में प्रकाशित 'कस्तुरी' (1960 ई.) जयसिंह का उपन्यास 'कलावे' (1960 ई.) प्रमुख उपन्यास है ।

वृंदावन लाल वर्मा द्वारा लिखित उपन्यास 'कचनार' (1947 ई.) आदिवासी नायिका कचनार और गैर-आदिवासी नायक दिलीप सिंह की प्रेम कहानी प्रस्तुत करता है, जिस पर आदर्शवाद का मुलम्मा चढ़ा हुआ है । शिवदत्ता वावळकर के अनुसार "आदिवासी स्त्री की चारित्रिक विशेषताओं-संघर्ष, श्रमशीलता, कर्तव्य दक्षता तथा निस्वार्थ भाव से सहायता किए जाने वाले संदर्भों को समझने की दृष्टि से इस उपन्यास का महत्वपूर्ण स्थान है "[201] देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास 'रथ के पहिए' (1952-53 ई.) इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें न केवल पाठक को आदिवासी समाज की लोकयात्रा का अनुभव प्राप्त होता है, अपितु उपन्यास घोषित करता है कि आदिवासी प्राचीन भारतीय सभ्यताओं के निर्माता है । सुधार की भावना से लिखित इस उपन्यास में गोंड़ आदिवासियों के रहन-सहन, रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि का चित्रण किया गया है । समीक्षक गोपाल राय के अनुसार 'रथ के पहिए में पहली बार मध्यप्रदेश की गोंड़ जनजाति के जीवन यथार्थ का प्रमाणिक और संवेदना संचित अंकन हुआ है । यह उपन्यास संग्रहालयों में बंद पुरातात्त्विक यथार्थ और सजीव रूप में विद्यमान पुराकालीन मनुष्य के जीवन को आमने-सामने रखते हुए जनजातियों के अध्ययन को वरियता देता है ।' डॉ. गिरीश कर्नाड़ ने इस उपन्यास को "कालक्रम की दृष्टि से पहला जनजाति मूलक आंचलिक उपन्यास कहा है ।"[202]

फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' (1954ई.) में संथाल आदिवासियों के शोषण का थोड़ा चित्रण है । मेरीगंज अंचल के संथाल आदिवासी प्रतिकूल परिस्थितियों में, हार न मानते हुए संघर्ष करते है और अपनी खास छवि पाठक के मन पर अंकित करते है । देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' (1956ई.) असम के लोकजीवन पर आधारित है । इसमें ब्रह्मपुत्र की बाढ़ से त्रस्त आदिवासियों की

[201] वावळकर शिवदत्त: हिंदी उपन्यास और जनजातीय जीवन, 2018, पृ. सं. 64

[202] वावळकर शिवदत्त : पूर्वोक्त, 2018, पृ. सं. 65

जिजीविषा और विड़म्बनाओं को चित्रित किया है। श्याम परमार द्वारा लिखित 'मोरझाल' (1956 ई.) मालवा के भील आदिवासियों पर केन्द्रित उपन्यास है। 'मोरझाल' प्राकृतिक आपदाओं और बीमारियों के इलाज के लिए भीलों में प्रचलित 'टोटका यंत्र' है। उपन्यासकार भील आदिवासियों की उत्पत्ति, उनमें प्रचलित प्रथा, दैनिक आचरण और समृद्ध लोक विरासत का अंकन करता है।

योगेन्द्रनाथ सिन्हा का 'वनलक्ष्मी' (1956 ई.) बिहार के 'हो' आदिवासियों पर केन्द्रित उपन्यास है। इसमें उनके रीति-रिवाज, धर्म, समाज, उत्सव, रूढि और परंपराओं को स्थान दिया है। आदिवासी समाज भी धार्मिक रूढ़िवाद से मुक्त नहीं है, यह बतलाना लेखक का उद्देश्य है। धर्मांतरण की प्रक्रिया और प्रवृति को भी इस उपन्यास में चित्रित किया है। रांघेय राघव का 'कब तक पुकारूं' (1957 ई.) खानाबदोश जीवन बिताने वाले करनटों/नटों की कहानी कहता है। रांगेय राघव के अनुसार "यह सच है कि इस कथा की वर्णनात्मकता मेरी है, परंतु तथ्य उसी सुखराम के हैं, जो ऐतिहासिक रूप में अपनी पहचान ठाकुर वंश से रखता है। वह रजवाड़ों की मध्यकालीन संस्कृति से अभी तक बाहर नहीं निकला है।"[203] उपन्यास की भूमिका में ही लेखक संकेत कर देता है कि उसकी इस रचना का उद्देश्य क्या है- "यह खनाबदोश समाज घोर उत्पीड़ित है, शोषित है।... असली भारत गाँव में है, जो अब भी मध्यकालीन विश्वासों से ग्रस्त है। ये विश्वास मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था से नियंत्रित हैं। मैंने उनको प्रकट करने का यत्न किया है।" [204] निम्नवर्गीय खानाबदोश नटों पर उच्च वर्गों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों को अभिव्यक्ति देने के साथ सामाजिक-आर्थिक जीवन, धार्मिक विश्वासों, रीति रिवाजों को वाणी देने का काम यह उपन्यास करता है। शिवदत्ता वावळकर इसे स्त्री अस्मिता से जोड़कर देखते हैं- "शोषण के परिप्रेक्ष्य में पुरुष की अपेक्षा स्त्री में उभरी संघर्ष की प्रखर अस्मितावादी चेतना 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास में मुखर हुई है।" [205]

बाबा नागार्जन द्वारा लिखित 'बरूण के बेटे' (1957 ई.) उपन्यास में मछुआरों के जीवन संघर्ष और जागरण की कहानी कही गई है। शिवदत्ता वावळकर के अनुसार "मछुआरों में आनेवाले जागरण के बीच सभ्य समाज के अंतर्विरोध और छद्म मानसिकता का पर्दाफाश नागार्जन ने बड़ी शिद्दत से किया है।"[206] वहीं राजेन्द्र अवस्थी का 'सूरज किरण की छांव' (1958 ई.) बस्तर के आदिवासी रीति रिवाज, मान्यताओं और सांस्कृतिक मूल्यों को प्रस्तुत करने के साथ आदिवासी समाज में पनपती वेश्यावृति की प्रवृति को रेखांकित करता है। गुरूवचन सिंह द्वारा लिखित 'वनपाखी' (1960 ई.) उपन्यास का

---

[203] राघव रांगेय : कब तक पुकारूं, 2013, पृ.सं. 15

[204] राघव रांगेय : कब तक पुकारूं, 2013, भूमिका से

[205] वावळकर शिवदत्त : हिंदी उपन्यास और जनजातीय जीवन, 2018, पृ. सं. 69

[206] वावळकर शिवदत्त : पूर्वोक्त, 2018, पृ. सं. 69

कथानक 'काम की तलाश' मे निकले आदिवासी युवक युवतियों की भटकन, सामाजिक अलगाव और शोषण की पीड़ा को दर्शाता है। 'सांप और सीढ़ी' के नाम से प्रकाशित शानी का 'कस्तुरी' (1960 ई.) छत्तीसगढ़ के बस्तर इलाके में सरकार की ओर से विकास के नाम पर प्रस्तुत औद्योगिक योजनाओं के अनिष्ट परिणामों को दिखाने वाला उपन्यास है। औद्योगिक विकास और आधुनिकता के बीच पिसते आदिवासी मजदूरों के संघर्षों को भी यह अभिव्यक्त करता है। जयसिंह का उपन्यास 'कलावे' (1960 ई.) विनोवा भाबे के भूदान आंदोलन को अपने कलेवर में समेटते हुए भील समुदाय के आपसी टकराव को रेखांकित करता है।

उक्त सभी उपन्यास आदिवासी जीवन के वैशिष्ट्य को उजागर करने के साथ लेखक और पाठक की आदिवासी संबंधित जिज्ञासा को शांत करते है। चमत्कारिक कौतुहलपुर्ण दृष्टि से आदिवासी शोषण को उजागर करने वाली ये रचनायें लेखक को नवीन 'प्लेटफ़ॉर्म' उपलब्ध करवाती है। इन रचनाओं पर जहाँ एक ओर 'गांधीवादी आदर्शवाद का मुलम्मा चढ़ा हुआ है, वहीं दूसरी ओर समाज सुधार का भाव लिए हुए कृपालु दृष्टि भी है। कहीं आदिवासियों के दु;ख से सराबोर होकर लेखक सत्ता को कोसता है, कहीं उनकी नियति का रोना रोता है। इस तरह इस दौर के उपन्यास कुछ नया प्रस्तुत करने का भाव लिये हुए आदिवासी समाज से परिचित कराने का प्रयास करते है।

1961 से 1980 ई. तक यानि बीसवीं सदी के सातवें-आठवें दशक में भारतीय आदिवासी क्षेत्रों में राजनीतिक और सामाजिक रूप से काफ़ी उथल-पुथल दिखाई देती है। नक्सलबाड़ी आंदोलन के उभार और आदिवासी क्षेत्रों में विस्तार के साथ भारत के उत्तर-पूर्व में अलगाववादी आंदोलनों का उग्र रूप इस काल में देखने को मिला। इसी दौर में 'आधुनिक भारत के मंदिरों' की स्थापना आदिवासी जमीन पर उनकी इच्छा के खिलाफ़ आदिवासी अधिकारों को धत्ता बताते हुए की जा रही थी। विस्थापन और पलायन के साथ आदिवासी आजीविका का एक बड़ा संकट इस दौरान पैदा हुआ। उक्त समस्याओं पर हिन्दी भाषा में शायद ही कोई उपन्यास इस समय लिखा गया। आदिवासी अनूठेपन को चित्रित करने की चाह अब कमजोर दिखाई देने लगी।

इस दौर में आदिवासियों से संबंधित जो उपन्यास सामने आये, उनमें योगेन्द्रनाथ सिन्हा का उपन्यास 'वन के मन में' (1962ई.), उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' (1964ई.), गुलशेर खां शानी का 'शालवनों का द्वीप' (1966ई.), जय भारती का 'कोहरे में खोये चांदी के पहाड़' (1968ई.), राजेन्द्र अवस्थी का 'जंगल के फूल' (1969ई.) और कृष्णचंद्र शर्मा का 'रक्तयात्रा' (1978ई.) प्रमुख है। दो दशकों के लंबे अंतराल में केवल आधा दर्ज़न उपन्यासों की उपस्थिति आदिवासी विषयों के प्रति मूलधारा की उदासीनता को अभिव्यक्त करती है।

योगेन्द्रनाथ सिंहा का उपन्यास 'वन के मन में' (1962 ई.) जहाँ प्रेम-विवाह और दहेज की समस्या को रेखांकित करने के साथ झारखंड़ के सिंहभूमि जिले के आदिवासी जीवन की कहानी कहता है। उदयशंकर भट्ट द्वारा लिखित 'सागर लहरें और मनुष्य' (1964 ई.) उपन्यास जहाँ मुबई के बरसोवा में बसे मछुआरों के जीवन का चित्रांकन करता है। वहीं गुलशेर खां शानी का 'शालवनों का द्वीप' (1966 ई.) बस्तर के अबूझमाड़ इलाके में स्थित ओरछा गाँव के माड़िया गोंड़ जनजाति की जीवन पद्धति, रीति-रिवाज, परम्परा, रूढियों और धार्मिक मान्यताओं को अभिव्यक्त करने वाला उपन्यास है।

जय भारती द्वारा लिखित 'कोहरे में खोये चांदी के पहाड़' (1968 ई.) उपन्यास देहरादून के पास 'जौनसार' के आदिवासी रीति-रिवाजों का चित्रण करने के साथ उस समाज की प्रमुख वैवाहिक समस्या- सहपत्नी प्रथा (बहुपति प्रथा) को उठाता हैं। लेखक के अनुसार यह प्रमुख समस्या है, जहाँ सबसे बड़े भाई की ही शादी होती है और बाकि के भाई उसी को पत्नी के रूप में मानते है। उपन्यास के नायक माधोसिंह के माध्यम से लेखक इस प्रथा का विरोध करवाता हैं और इसे अज्ञान और अंधविश्वास का प्रतीक मानता है। इस प्रकार वह आदिवासी समाज को सतही और बाहरी तौर पर देख रहा है, क्योंकि जिस तरह पहाड़ी क्षेत्रों में भूमि की सीमित उपलब्धता है वहाँ भूमि का बंटवारा कहां तक चलेगा। कद्दाखी आदिवासियों पर लिखी गई किताब 'प्राचीनता का भविष्य'[207] इस मनोविज्ञान को समझाने में पूर्णतया सक्षम है।

राजेन्द्र अवस्थी द्वारा लिखित उपन्यास 'जंगल के फूल' (1969 ई.) आदिवासी अस्मिता और अंग्रेजों के खिलाफ़ गोंड़ विद्रोह को अभिव्यक्ति करता है। उपन्यासकार के अनुसार "इस उपन्यास में उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के अलावा मेरी अपनी कल्पना भी है । उपन्यास की पूरी कहानी प्राय काल्पनिक है, इसके द्वारा मेरा मूल उद्देश्य बस्तर के घोटुल जीवन, वहाँ की संस्कृति, रीति-रिवाज और उनके जीवन के समग्र चित्र को सामने रखना था "[208] कृष्णचंद्र शर्मा का 'रक्तयात्रा' (1978 ई.) उपन्यास हिंदी में उत्तर-पूर्व भारत की नागा जनजाति पर केन्द्रित पहला उपन्यास है, इसमें नागा जनजाति के इतिहास और संघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। बीसवीं सदी के सातवें-आठवें दशक में लिखे गये उक्त उपन्यास पूर्व के उपन्यासों की भांति आदिवासी जीवन के वैशिष्ट्य को ही सामने रखने का सतही प्रयास करते है। इन उपन्यासों में आदिवासी जीवन का कोई तात्कालिक चित्र प्रस्तुत नहीं होता, जबकि आदिवासी समाज में काफ़ी उथल-पुथल इस दौर में देखने को मिलती है।

---

[207] होज, हेलेना नाबर्ग होज : प्राचीनता का भविष्य, बनियन ट्री प्रकाशन, अनु. ज्वाला प्रसाद मिश्र,२०१३

[208] अवस्थी राजेन्द्र : जंगल के फूल, 2019, पृ.सं. 11

1980 से 1990 ई. के बीच जिन उपन्यासों में आदिवासी जीवन को रेखांकित करने का प्रयास किया है उनमें राजस्थान के गाड़िया लोहारों को केन्द्र में रखकर लिखा गया मणि मधुकर का उपन्यास 'पिंजरे में पन्ना' (1981 ई.), पीटर पॉल एक्का का 'पलाश के फूल' (1982 ई.) राकेश वत्स का 'जंगल के आसपास' (1982ई), बाल्टर भेंगरा द्वारा लिखित 'शाम की सुबह'(1982 ई.), संजीव का 'सावधान! नीचे आग है' (1986 ई.), सुरेशचंद्र श्रीवास्तव का 'वनतरी' (1986 ई.), डॉ. शिवप्रसाद का 'शैलूष' (1986 ई.) निकोबारी आदिवासियों पर केन्द्रित हिमांशु जोशी का 'महासागर' (1987ई.) अवैध कोयला खदानों के साथ बांसगोड़ा गाँव के लोगों की संघर्षमयी जीवन गाथा कहने वाला संजीव का उपन्यास 'धार' (1990ई.) और कृष्णा अग्निहोत्री का 'नीलोफर' (1990ई.) प्रमुख है। जहाँ 'पिंजरे में पन्ना' (1981ई.) उपन्यास में लुहारों की निजी पहचान, मूल्य मान्यताओं, परंपरा और रीति रिवाजों को अभिव्यक्ति दी है। वहीं राकेश वत्स का 'जंगल के आसपास' (1982ई.) सोन नदी के किनारे स्थित पिछड़े शोषित आदिवासियों की कथा कहता है। आदिवासी क्षेत्र में पूँजीपतियों के शोषण, पिछड़ापन और अभाव से घिरा आदिवासी जीवन उपन्यास का मुख्य कथ्य है। बाल्टर भेंगरा द्वारा लिखित 'शाम की सुबह' (1982 ई.) उपन्यास आदिवासी विमर्श को सामने रखने का प्रयास करता है।

पीटर पॉल एक्का आदिवासी समाज से आने वाले प्रारम्भिक हिंदी कथाकार है। इनके उपन्यास और कहानियों का धरातल आदिवासी समाज है। इन्होंने आदिवासी समुदायों में आजादी के बाद आये सांस्कृतिक-सामाजिक परिवर्तनों के साथ शोषण और अत्याचार को अपनी लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्त करने का कार्य किया। हिंदी साहित्य में अपनी रूचि को अभिव्यक्त करते हुए उन्होने चार उपन्यास-'पलाश के फूल', 'सोन पहाड़ी', 'मौन घाटी' और 'जंगल के गीत' की रचना की।

आदिवासी आंचलिकता को रेखांकित करने वाले उपन्यास 'पलाश के फूल' (1982 ई.) का कथानायक 'आंनद बाबू' है, जो कि शहरी परिवेश में पला बड़ा है। एक इंजिनियर के रूप में इनकी नियुक्ति आदिवासी क्षेत्र में हो जाती है। आनंद बाबू खुद के नष्ट हो जाने, सुख सुविधाओं से परे होने, अतीत की गुफा में खो जाने का डर साथ लिए हुए इस चुनौती को अंजाम देते है। आंनद बाबू इस डर का अहसास अपने शुभचिंतक-परिवारजनों के माध्यम से पहले ही कर लेता है-"खूंखार आदिवासियों की अपनी भयानक दुनियां, तीर धनुष से भेद दे तो घुट-घुट कर दम तोड़ दोगे। क्यों बेकार स्वयंसेवक का जुनून ले रहे हो। यहाँ शहर में रहों, आराम की जिंदगी गुजारो। वहाँ जंगल में जंगल के बाशिंदों के बीच अपनी प्रतिभा को क्यों नष्ट करते हो।"[209] गैर आदिवासी मध्यवर्ग की दुनिया गाँव से शुरू होकर शहर के बीच बस जाने की आकांक्षा के साथ खत्म हो जाती है। सारी सुख सुविधाओं का केन्द्र शहर

[209] एक्का पीटर पॉल : पलाश के फूल, 2012, पृ.सं. 56

ही तो है। उपन्यासकार मानता है कि जंगली-प्राकृतिक परिवेश मध्यवर्ग को रास नहीं आता, पर जब उसे धन की चाह होती हैं, तब वह इन्हीं क्षेत्रों में घुसपैठ करता है और भारी आपाधापी-जल्दबाजी के बीच धन बनाकर वापिस शहरों की ओर पलायन कर जाता है। प्रकृति के संरक्षक, जल-जंगल और जमीन के पहरेदार आदिवासियों को निपट गँवार और असभ्य समझना कोई नई बात नहीं है, क्योंकि मुख्यधारा की ब्राह्मणवादी संस्कृति श्रम की लूट में कामयाब व्यक्ति को ही बुद्धिमान और श्रम से जीवन यापन करने वाले को गँवार के रूप में पहचानती है।

आदिवासी शोषण और संघर्ष के अनेक रूप 'पलाश के फूल' उपन्यास में दर्ज़ है। आजादी के बाद सरकारी विकास नीतियों के कारण आदिवासी क्षेत्रों की प्राकृतिक संपदा का दोहन तेजी से होने लगा। समावेशी विकास की असफलता ने उसकी सार्थकता और औचित्य पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया- "बेहिसाब खदान, कोलियारी खुलेंगी, नदियों पर पुल बनेंगे। बिजली तैयार होगी, नहरें खुलेंगी। वर्षों की मेहनत से बनी-बनाई जमीन डूब जायेगी। मुआवजे के नाम पर दिखावे की रकम मिलेगी। घर-वार छोड़ना होगा। घर के आदमी विस्थापित कर दिये जायेंगे। दूर के इलाके से आये लोगों का राज होगा। स्थानीय आदिवासी चाय बागानों, ईंट-भट्टों की राह लेंगे।"[210] पीटर पॉल एक्का अपने उपन्यास में इस सवाल को प्रमुखता के साथ रेखांकित करते हैं कि विकास के नाम पर जो बदलाव हो रहे है उनमें आदिवासी कहा है ? उपन्यास का नायक इस सवाल को कई बार उठाता है -"यह भी नियति का कैसा मजाक है? कि जिनके लिए इतनी मेहनत से पुल और सड़कें बनवाता रहा, उस पर चलने वाले वे लोग ही गाँव घर छोड़कर बहुत दूर अनदेखी दिशाओं में चले जा रहे हैं। इन आदिवासियों के भाग्य में क्या यही लिखा है ? जो बांध बनते हैं, नहरें खोदी जाती है, जो सड़कें बनती हैं, खदानें खुलती हैं, वह सब उनके लिए नहीं होते है ? औरों के लिए होते है। उनके लिए हमेंशा की तरह वही मजबूरी है, बेगारी, जंगल के जानवरों की सुबकती निरीह, बेरौनक सी जिंदगी है। "[211]

आदिवासियों का संघर्ष भूख से शुरू होता है। देश का लगभग 90 फीसदी आदिवासी भुखमरी के शिकार है। उपन्यास में इसका संकेत आंनद बाबू के माध्यम से मिलता है- "श्रमिक साइट का निरीक्षण करते हुए दोपहर होने के आया। सुबह से काम में लगे लोग पस्त होने लगे थे। क्या पता सुबह कुछ पेट में ड़ालकर चले हैं या नहीं। शायद नमक मिला बासी भात और दो एक प्याज। उस ओर नम्बरदार थाली बजाता है, तो मजदूरों में हर्ष की लहर दौड़ जाती है।" [212] आदिवासी समाज जंगल और कृषि पर आधारित खेतीहर समाज है। जब से जंगल पर सरकार का दबदबा बढ़ने लगा है, इनकी

[210] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, 2012, पृ.सं. 59
[211] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, 2012, , पृ.सं. 59
[212] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, 2012, पृ. सं. 2

मुसीबतें बहुत बढ़ गयी है। एक ओर फॉरेस्ट गार्डों ने जंगल पर अधिकार कर आदिवासियों के जंगली उत्पाद संग्रहण पर प्रतिबंध लगा दिया, वहीं दूसरी ओर उनकी खेतीहर जमीन पर सरकारी परियोजनाओं का बुलड़ोजर चलने लगा। रोजमर्रा की जरूरतों ने ऐसी स्थिति में आदिवासियों को बंधुआ मजदूर बनने पर मजबूर कर दिया- "कब का कर्जा, कब का पैसा साब। ऋण क्या लिया, जिनगी बिक गया साब। 100 रूपया लिया था साब। अब तक चुकता नहीं हुआ। तीन महिने से अपना जवान लड़का लड़की साहूजी का काम करता, फिर भी कर्जा नहीं भरता। यह तो जैसे जनम भर का गुलाम हो गया। "[213]

अशिक्षा और गरीबी ने आदिवासी समाज को और अधिक अन्धविश्वासी बना दिया। अपनी जमीन-जंगल से बेदख़ल होता आदिवासी प्राकृतिक अकालों की चपेट नहीं झेल पाता और वह पलायन को मजबूर होता है -"आंनद बाबू हम जा रहे है ! जा रही हो, कहाँ ? नहीं, जानती कहाँ, जहाँ भाग्य ले जायेगा। उधर से कोई चालान करने वाला आया है। कहता है चाय बागान, ईंट के भट्टों में रोजी-रोटी का ठिकाना लगा देगा।"[214] रोजी-रोटी की तलाश में होने वाला यह विस्थापन आदिवासी स्त्रियों को बाहरी दिकूओं के जाल में फंसने को मजबूर कर देता है। शहरी आकर्षण, रोजी-रोटी की उम्मीद या प्रेमजाल के फंदे में फँसकर आदिवासी स्त्री खुद-ब-खुद शिकार बन जाती है। "ठेकेदार जो रीझ गया, तो हजारों कसमें वादे दिला एतवारी को राजी कर लिया था। वह मान भी गयी थी, सोचा कि जीने का सहारा तो मिल जायेगा। फिर क्या हुआ ? वही जो बेहिसाब भोली भाली निश्छल वन्य बालाओं के साथ होता है, कुछ महिने बाद सब कुछ लेकर चुपके से कहीं चला गया। एतबारी बिलकुल अकेली रह गयी थी।"[215] आदिवासी संघर्षों के साथ उपन्यासकार आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक पहाड़ी सौंदर्य और उत्सवधर्मिता का चित्रण भी उपन्यास में करता हैं। दारू की लत और उसकी विनाशलीला का चित्रण करते हुए लेखक उपन्यास नायक के माध्यम से टिप्पणी करता है- 'ये आदिवासी घर, खेत खलिहान सब बेच देंगे पर पियेंगे जरूर।'

सोन पहाड़ी (1984 ई.) पीटर पॉल एक्का का दूसरा प्रमुख उपन्यास है। सोन पहाड़ी यानी सोने का पहाड़। सोन पहाड़ी के कथानक में वही परिवेश और घटनाओं का वैसा ही क्रम है, जैसे पूर्व के उपन्यास 'पलाश के फूल' में है। विस्थापन, भूख, सरकारी योजनाओं का मकड़जाल, आदिवासी स्त्री का शोषण और प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण ही इस उपन्यास का रचना फलक है। उपन्यास का नायक सुनील, जो कि शहर मे पला-बड़ा आदिवासी है। जो कि आदिवासी क्षेत्र में बांध बनाने वाली कंपनी

[213] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त,2012, पृ. सं. 3
[214] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, 2012, पृ. सं. 32
[215] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, 2012, पृ. सं. 42

का इंजीनियर है। अपनी संस्कृति से कटा हुआ सुनील आदिवासी क्षेत्र में रहने वाली नायिका 'बिलकों' के साथ प्रेम संबंध बनाता है, उसी प्रेम प्रसंग के इर्द-गिर्द ही इस उपन्यास की कहानी बुनी गयी है। आदिवासी इलाके के प्राकृतिक सौंदर्य चित्रण के साथ आदिवासी स्त्री सौंदर्य भी इस उपन्यास में प्रमुखता से चित्रित हुआ है- "आम पहाड़ी बालाओं की तरह कुछ ज्यादा गोरी, उभरते कद का नाजुक बदन, पतली नपी-तुली कलाईयां, तराशा हुआ गुलबदन, मुस्कराता चेहरा, बोलती आँखें मासूमियत से सनी हुई, गोरी गोरी कलाईयों मे काँच की दो-एक चूड़ियाँ। सुंदरता की वैसी अनुपम मूर्ति जिंदगी में कभी देखने को नहीं मिली।"[216] गैर आदिवासी उपन्यासों में आदिवासी स्त्री सौंदर्य की दृष्टि जहाँ भोगपरक रहीं है, वहीं आदिवासी उपन्यासकार उनके श्रम के सौंदर्य को रेखांकित करते है। वे मेहनती और संघर्षशील स्त्री की छवि पेश करते है-"बिलको का जब से स्कूल छूटा, मां के कामों में हाथ बंटाने लगी। मां तो चाहती थी कि मैं पड़ती रहूँ, पर मां को बैसा मेहनत करते देख कैसे पढ़ सकती थी ? मैं भी उसके साथ काम पर जाने लगी। घर में ढ़ेर सारे काम थे। कभी महुआ बटोरती थी, कभी तेंदू पत्ते, कुसुम ड़ोरी, इमली, कंद फल-फूल। बंधा में खेती होती थी, पास के स्टेशन पर लकड़ी बेचती थी। "[217]

विकास परियोजनाओं में छिनती हुई जमीन और उनके बदले किए जाने वाले खोखले वादों से भी आदिवासी समाज परिचित हैं - "डेम बनेगा हमारी जमीन पर, हम जायेंगे परदेश।"[218] आदिवासी इस बात से अच्छी तरह परिचित है कि परियोजनाओं में निगली गयी जमीन के बदले कभी जमीन नहीं दी जाती। कागजों मे बंद फाइलें उन्हें कभी उनका पूरा मुआवजा नहीं दिला पाती -"आप बोलो कब तक आस धरेगा हम लोग, खून पसीना से हम लोग खेत बनायेगा। हजार दू हजार रूपयों का लोभ दिखायेगा ई लोग। आप बोलो हम कहाँ जायेगा ? कहाँ जायेगा। एक हजार में जिंदगी गुजरता है क्या ? "[219] आदिवासी पढ़े-लिखे न होने के बावजूद भी शोषण की इस प्रक्रिया को अच्छी तरह से समझते है, इसलिए विद्रोह के स्वर उपन्यास में दिखाई देते है - "कोरिया परियोजना, नहीं चलेगा, नहीं चलेगा। जब तक माँग हमारा पूरा नहीं होगा, काम आगे नहीं बढ़ेगा, नहीं बढ़ेगा। धोखे की नीति नहीं चलेगा, नहीं चलेगा"। आदिवासी विरोध के इन स्वरों में गांधीजी के अहिंसक आंदोलन की छवि दिखाई देती है इसलिए वे गांधीजी को याद करते है- "बोलों पिरेम से महतमा गांधी की जय।" शोषण की प्रक्रिया से मुक्ति के क्रम में लेखक को गांधी का अहिंसक रास्ता ही भाता है। जबकि इस दौर तक झारखंड़ में नक्सल आंदोलन आदिवासी क्षेत्रों में अपनी पकड़ मजबूत कर चुका होता है।

---

[216] एक्का पीटर पॉल : सोन पहाड़ी 2012 , पृ. सं. 72

[217] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 95

[218] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 112

[219] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 112

आदिवासियों के बीच हिंदूकरण की प्रवृति के बढ़ते जाने को उपन्यास में उकेरने का प्रयास कुछ कथा चरित्रों के माध्यम से लेखक ने किया है- "सच्ची-पवित्तर होगी तो आग से कुछो नी होगा, ऐसा विश्वास था। अब ऊ सुगिया का साहस देखो साहब, सती साधवी सीता मैया सा सीधा बैठ गये, तो यादो माचिस खोद के आग लगा दिहीन। सुनते है सुगिया के दिन चढ़ जाय रहे। अब ई लोगों का विसवास है साब, ऊ चुडैल हो गये है। अब भी अमावस्या की रात में किसी छोना के रोने की आवाज आवै है।"[220] आदिवासी समाज मे न तो अग्नि-परीक्षा है और न ही चुड़ैल का साया। आदिवासी समाज में पुरखे उनके हितैशी और साथ रहने वाले होते है। गैर आदिवासी हिंदू समाज की मान्यतायें कैसे आदिवासियों के बीच घर कर रही है, उपन्यासकार यह बतलाने का प्रयास करता है।

आदिवासी और गैर सरकारी संगठनों के प्रतिरोध के चलते आदिवासी अपने हकों को प्राप्त कर लेंगे, ऐसी उपन्यासकार की धारणा है। तभी उपन्यास का सुखांत करते हुए उपन्यासकार लिखते है- "सोन पहाड़ी ने बहुत उन्नति कर ली। गाँव तक पक्की सड़क बना दी गयी है। गाँव में सब कुछ है, एक छोटा सा अस्पताल, बच्चों के लिए पाठशाला, एक खेल का मैदान, सांस्कृतिक कला केन्द्र, मृत्यु स्थल। गाँव की पंचायत के क्या कहने। युवक-युवतियों का एक अलग संगठन है। जीतू, बिरसा, सलाया के नेतृत्व ने एक नयी दुनिया बना दी है।"[221]

संजीव द्वारा लिखित उपन्यास 'सावधान! नीचे आग है' (1986 ई.) कोयला खदानों में आदिवासी श्रमिकों के साथ होने वाले अन्याय को वाणी देता है। औद्योगिक विकास के कारण विस्थापन का दर्द झेलते हुए मजूदरों के रूप परिवर्तित होते हुए संथाल कोयलांचल में कोयला खनन करते हैं। कोयला खदानों में होने वाली दुर्घटनायें और विभिन्न आर्थिक राजनैतिक मुद्दों के मुखर होने पर संथाल बार-बार आंदोलित होते है, पर उनके उन जनवादी आंदोलनों को बड़ी चालाकी से दबा दिया जाता है। आदिवासी लोक संस्कृति और श्रम संस्कृति के आर्थिक-सामाजिक प्रभावों और टकरावों का समग्र चित्र इस उपन्यास में मौजूद है। सुरेशचंद्र श्रीवास्तव द्वारा लिखित 'वनतरी' (1986 ई.) उपन्यास आदिवासी जीवन में जंगल की महत्ता और उनके छिनने जाने का उल्लेख करता हैं। इसमें पहाड़िया आदिवासी जीवन का पिछड़ापन, अभावग्रस्त प्राकृतिक परिवेश, शोषण और व्यवस्थागत विसंगतियों का चित्रण शामिल है। डॉ. शिवप्रसाद का 'शैलूष' (1986 ई.) खानाबदोश नट जाति पर केन्द्रित उपन्यास है। सरकारी योजनाओं के तहत भूमिहीन नटों को बसाने का कार्य किया जाता हैं, लेकिन व्यवस्था के शोषणकारी तत्त्व उन्हें उनके हक से वंचित करने का प्रयास करते है। पर 'अंत भला

[220] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 107
[221] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 138

तो सब भला' वाली आदर्शवादी स्थिति में विजय नटों को प्राप्त होती है और वे ही जमीन के असली मालिक घोषित होते है।

'मौन घाटी' (1987 ई.) पीटर पॉल एक्का का तीसरा प्रमुख उपन्यास है। आदिवासी जीवन की अंदरूनी परतों को खोलता हुआ यह उपन्यास आजादी के उपरांत आदिवासी समाज में आने वाले परिवर्तनों को रेखांकित करता है। उपन्यास में गांधी और नेहरू के ग्राम-स्वराज की परिकल्पना है। बाहरी दिकूओं को खदेड़कर आदिवासी अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से विकास का सपना संजोते है। 'मौन घाटी' उपन्यास की शुरूआत प्राकृतिक परिवेश में फलती-फूलती आदिवासी संस्कृति और भरे-पूरे खुशहाल आदिवासी जीवन से होती है। आजादी के उपरांत आदिवासी क्षेत्रों में जहाँ एक ओर बाहरी 'दिकूओं' घुसपैठ तेज होती है, वहीं दूसरी ओर रोजी-रोटी और बेहतर जिंदगी की आस में आदिवासियों का पलायन नज़र आता है। उपन्यास में दिखाया है कि एक ओर आदिवासी समाज के युवक-युवतियां शिक्षा के माध्यम से जिंदगी में सुधार की आशा लिये शहरों की ओर कूच करते है जैसे किशोर और रजनी। दूसरी ओर गैर आदिवासी दिकूओं की आदिवासी क्षेत्र में घुसपैठ होती है। ये एक लुटिया, डोरी के साथ आदिवासी क्षेत्रों में प्रवेश करते है और कुबेर का सा खजाना साथ ले जाते है, इनके प्रतिनिधि पात्र है- मनसुख जैसे दारू के ठेकेदार, सुब्बाराव, फॉरेस्ट गार्ड, जलसिंह इत्यादि। ये लोग आदिवासी क्षेत्रों में रोजी-रोटी कमाने नहीं आते हैं, अपितु राज करने आते है। वहाँ के निश्छल आदिवासियों को फँसाना इन्हें भली-भांति आता है।

आजादी के उपरांत आदिवासी क्षेत्रों में सरकारी शासन प्रणाली का फैलाव हुआ। अस्पताल और स्कूल भी आदिवासी इलाकों में दिखने लगे। पर न तो अस्पताल में सेवाभावी डॉक्टर है और न ही स्कूलों में पढ़ाने वाले मास्टर। जो भी सेवाभावी लोग पहुँचते है, उन्हें वहाँ के अधिपति दिकू टिकने नहीं देते। आदिवासियों के लिए आने वाली सरकारी दवाईयाँ भी उन तक नहीं पहुँच पाती। "गाँव के उस छोटे से अस्पताल के नाम से आई दवाईयाँ, हरिया द्वारा पास के शहर में अपने भांजे की फार्मेसी में पहुंचा दी जाती थी।"[222] आदिवासी समाज में नशाखोरी भी एक बड़ी समस्या है, बाहरी दिकू समाज में भी है, पर आदिवासियों को ही इसलिए हीन समझा जाता है-"नशे में बेसुध कहने लगा- ये गँवार बेशऊर आदिवासियों को अक्ल कभी नहीं आयेगी। दारू-हडिया में वे डूबे रहेंगे। हमारा राज चलता रहेगा।[223] "उपन्यासकार भी अपनी टिप्पणी करता है- "यहाँ तो बच्चा जन्म लेते ही दूध के बजाय हडिया-हडिया चिल्लाता है।"[224] आदिवासी समाज की इस नशाखोरी से मनसुख जैसे दारू के ठेकेदार

[222] एक्का पीटर पॉल : मौन घाटी 2013, पृ. सं. 33

[223] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 71

[224] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 75

फायदा उठाते है। "मनसुख लाइसेंस का हवाला देकर उन्हें डराता रहता है। बाज़ार के दिनों कौड़ी के मोल वह देहातियों से महुआ खरीद लेता। दारू बनाकर जब वह बेचता, तो आदिवासी चौगुना दाम चुकाकर भी पीते जरूर थे। शादी-ब्याह, पर्व-त्यौहारों में हडिया के साथ दारू के दोने भी बंटते। लोग पीते थे, नाचते थे, गाते थे, नशे में बेसुध, नंगे फटेहाल पड़े रहते थे। एक लुटिया लेकर आये, मनसुख ने कुबेर का खजाना खड़ा कर लिया था।"[225] आदिवासियों की नशाखोरी का फायदा उठाने वाले मनसुख और सुब्बाराव जैसे बाहरी दिकू उन लोगों को निशाना बनाते, जो आदिवासी विकास की बात करते। दारू के लिए बिकने वाले आदिवासियों की प्रवृति को भी उपन्यासकार रेखांकित करता है- "धामन जरा तो सरम करो। चुल्लू भर पानी में डूब मरों। दारू के लिए ऐसा घिनौना काम करेगा। बोलो कितना बोतल मिला था! चार! धामन कराहते हुए बोला।"[226]

'फॉरेस्ट गार्ड' आदिवासी समाज और उनकी स्त्रियों के लिए अभिशाप की तरह थे। इन्होंने जंगलों से आदिवासियों को बेदख़ल कर गरीबी और भुखमरी के दलदल में पहुंचा दिया। तंगहाल आदिवासी जब अवैध तरीके से जंगल में प्रवेश करते तो-" फॉरेस्ट गार्ड, रेंजर साहब जब चाहे-जहाँ चाहे उनका इस्तेमाल करते थे। पूरा जंगल आदिवासियों के लिए बंद हो गया। चुपके से जो लोग कभी जंगल में घुस जाते, उन्हे फारेस्ट गार्ड़ के आदमी पकड़ लेते, टांगी कुल्हाड़ी छीन लिए जाते। ग्रामीण बालाओं के साथ कुछ दूसरा ही सुलूक होता। दतवन, कंदमूल की खोज में आयी वे कमसिन युवतियां फॉरेस्ट गार्ड़ के पास पहुंचा दी जाती थी।"[227] जो आदिवासी विरोध करता, उसको ठिकाने लगा दिया जाता-"एक दिन कौंदा जुलुम सहते तीर चलाने की धमकी फॉरेस्ट गार्ड को दे गया था। सप्ताह भर बाद पेड़ काटते तने से कुचला गया था।"[228] सब कुछ जानकर भी कुछ नहीं कर पाने की कसक आदिवासी समाज की विड़म्बना है। खदानों में काम करने वाले अनेक आदिवासी मानवजनित दुर्घटनाओं का शिकार होते है, जिसमें दोयम दर्जे की तकनीक के साथ सरकारी लापरवाही भी शामिल होती है। ऐसी स्थिति में भी आदिवासी मजदूर ठगा जाता है- "दो एक बार खान में बारूद लगाते वक्त दुर्घटना हो गयी थी। 15-20 जाने गयी थी। दिखावे का हो-हल्ला हुआ और फिर सब कुछ शांत हो गया। मुआवजे के नाम पर दो हजार रूपये मिले थे। जो गरीबों के घर आते-आते पांच सौ भी नहीं रह गये थे।"[229]

---

[225] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 33
[226] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 76
[227] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 43
[228] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 43
[229] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 17-18

गलत विकास नीतियों के कारण गैर आदिवासी लोगों की घुसपैठ आदिवासी क्षेत्रों में बढ़ने लगी, उन्होंने आदिवासियों को उनकी ही जमीन से बेदख़ल कर दिया- "सब कुछ कितना सस्ता मिलता है गाँव में, बस पास में पैसा होना चाहिए, पाने के ढ़ंग होने चाहिए। लोग गाँव की ओर जा कर दौलत बना रहे थे और जंगल काटकर खेती की जमीन बनाने वाले गाँव के गरीब, सीधे-साधे आदिवासी रूपया-जीविका की तलाश में असम, दिल्ली, बंबई, कलकत्ता जाने लगे थे ।"[230] ऐसी स्थिति में उपन्यासकार आदिवासी नायक किशोर और रजनी को कथानक में वापिस लाता है। वे अब ऐसे शहरी है, जो पढ़े-लिखे है और अपने आदिवासी समाज को दलदल से बाहर निकालने के लिए प्रतिबद्ध है। सामू काका गांधी के स्वराज और नेहरू की नीतियों से प्रभावित है, पर आदिवासी समाज तक उनका फैलाव नहीं हुआ-"किया नहीं हो रहा है हिंया। दिक्कू लोग बनेगा राजा-महाराजा, हम उनका गुलाम। सुअराज हो रिया न देश,अपन गाँव में सुअराज कभी नहीं आयेगा। महतमा गांधी, जोहारलाल का सपना रामराज,आदिवासी लोग कभी न देखेगा ।"[231] उपन्यासकार सामू काका के माध्यम से अपने विचार पाठक के समक्ष रखता है। किशोर जैसे पढ़े-लिखे लोगों को गाँव के विकास हेतु प्रेरित करना, उसे चुनावी राजनीति में खड़ा कर दिकूओं का मुकावला करवाना और अंतत आदिवासी क्षेत्र से दिकूओं को खदेड़कर 'मौन घाटी' को पूर्ववत् स्थिति में ले जाना, जहाँ कोई शोषण-विस्थापन नहीं है। विकास का सीधा मार्ग है । सुखांतता में विसर्जित यह उपन्यास आदिवासियों को भविष्य की शुभकामनायें प्रेषित करता जान पड़ता है।

निकोबारी आदिवासियों पर केन्द्रित हिमांशु जोशी का 'महासागर' उपन्यास 1987 में प्रकाशित हुआ। उपन्यास का नायक साकेत है जो आदिवासी लड़की नोनो से विवाह करता हैं, पर सामंजस्य के अभाव में टूटता वैवाहिक जीवन, पत्नी की मौत, नायक 'साकेत' को निकोबारी आदिवासियों के लिए कुछ कर गुजरने की प्रेरणा देता है। संजीव का उपन्यास धार (1990ई.) कोयला खदानों का जिक्र करने के साथ बांसगोड़ा गाँव के लोगों की संघर्षमयी जीवन गाथा कहता है। उपन्यास की नायिका 'मैना' की संघर्षमयी चेतना और स्वाभिमान को सामने रखकर, कोयला खदानों में होने वाले मजदूरों के शोषण और संघर्ष को रेखांकित करता हैं। पुलिस और ठेकेदारों के जुल्मों के बीच मजदूरों का संघर्ष जीवन की सार्थकता को अभिव्यक्त करता है। उपन्यास की कथानायिका और प्रमुख स्त्री पात्र मैना के चरित्र को उपन्यास में जिस तरह संजीव ने रखा है, उसकी व्याख्या करते हुए शिवदत्ता वावळकर लिखते हैं कि "मैना के समूचे अस्मितावादी पहलुओं का संजीव ने जनवादी एवं मानवीय दृष्टिकोण से अंकन किया है। यह चित्रण अकेली मैना का नहीं हैं, बल्कि जन आंदोलनों में संघर्षरत् भारतीय आदिवासी नारी की

[230] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 18

[231] एक्का पीटर पॉल : पूर्वोक्त, पृ. सं. 1

आकांक्षाओं, शोषण एवं उत्पीड़न की व्यथाओं और अस्मिताओं का दस्तावेज भी है ।"[232] कृष्णा अग्निहोत्री का 'नीलोफर' (1990 ई.) मध्यप्रदेश के अमरकंटक में निवासरत् आदिवासी गांवों की जिन्दगी, बुझे-बेखबर चेहरों, जो कभी हताशा तो कभी संघर्ष की राह लेते है।

इस तरह आजादी के बाद हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन चित्रण की जो प्रवृत्ति विकसित हुई, उसमें आदिवासी जीवन को एक बाहरी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया गया है। आदिवासी जीवन में हो रही उठापटक और अंदरूनी खींचतान पर इन रचनाकारों का उतना ध्यान नहीं गया है । आदिवासी समाज का राजनीतिक पक्ष जिसमें विस्थापन, पलायन, राजनातिक नेतृत्व का विकास जैसे-झारखंड में झारखंडी अस्मिता का उभार, नक्सलबाड़ी आंदोलन की आदिवासी जीवन में उपस्थिति आदि का कहीं कोई संकेत नहीं है । इस दौर के अधिकांश उपन्यासों में आदिवासियों की विचित्रताओं को चित्रित कर गैर आदिवासी पाठकों को चकित करने का कार्य किया है। आजादी के बाद पैदा हुई आंचलिकता की दूसरी धारा, जिसमें जनजातियों को केन्द्रीय विषयवस्तु बनाया। उसका मूल स्वर आदिवासी जीवन-संस्कृति को चित्रित करने तक सीमित रहा । 1990 के आसपास उभरे विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक आंदोलनों की सुगबुगाहट तक यहीं स्थिति बनी रही। जहाँ स्वाधीनता से पूर्व के साहित्य में आदिवासियों का उल्लेख नगण्य हैं, वहीं स्वाधीनता के बाद कई उपन्यासों में उनका सजीवता के साथ चित्रण हुआ है।

3.3 भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी आदिवासी उपन्यास

1991 ई. तक आते-आते भारतीय लोकतांत्रिक गणराज्य करवट बदलते हुए अपने घोषित लक्ष्य 'लोकतांत्रिक समाजवाद' से दूरी बनाने लगता है। यह परिवर्तन कुछ हद तक वैश्विक बदलावों के परिप्रेक्ष्य में था, तो बहुत कुछ भारतीय राजनैतिक नेतृत्व की कमजोरी का परिणाम। वैश्विक स्तर पर अमरीका के नेतृत्व में पूँजीवाद का शंखनाद हुआ। उसने दुनिया में पूँजीवादी विचारधारा स्थापित करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं को अपने कब्जे में करने का एक अभियान छेड़ दिया । भारत जैसे विकासशील देश ने भी अपनी आर्थिक बदहाली से त्रस्त होकर समर्पण कर दिया। भारत ने आर्थिक सुधारों के नाम पर वैश्विक पूँजी को भारतीय बाजारों में स्वतंत्र विचरण की छूट दे दी। यह भारत के आर्थिक उपनिवेशवाद बनाने की दिशा में बढ़ा हुआ कदम था।

भारतीय आदिवासियों और विशेषकर उन आदिवासी क्षेत्रों में जहाँ प्रचुर प्राकृतिक- खनिज संसाधन थे, उनकी स्थिति और ज्यादा बदतर हुई। भूमंडलीकरण से पूर्व भी आधुनिक भारत के मंदिर

[232] वावळकर शिवदत्त : हिंदी उपन्यास और जनजातीय जीवन, 2018, पृ. सं. 82

तैयार करने के नाम पर इनकी कुर्बानी दी गई। भारतीय आदिवासियों का बहुसंख्यक भाग आन्तरिक उपनिवेशवाद की स्थिति का सामना कर रहा था। आर्थिक भूमंडलीकरण ने आदिवासी क्षेत्रों की लूट को वैश्विक बना दिया। अब बहुराष्ट्रीय कंपनियां भी आदिवासी क्षेत्र में प्रवेश करने लगी, जिन्हें सत्ता का पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। हिन्दी उपन्यासों में इन बदली हुई परिस्थितियों को रेंखाकित करने का प्रयास किया। शिवदत्ता वावळकर ने भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में आदिवासी जीवन से संबंधित हिन्दी उपन्यासों के स्वरूप में आने वाले बदलाव को रेखांकित करते हुए 'हिंदी उपन्यास और जनजातीय जीवन' पुस्तक में लिखा है कि-"आज जनजातियों को केन्द्र में रखकर रचा जा रहा कथा साहित्य, पुरातन परंपराओं और सांस्कृतिक अवशेषों का संग्रहालय बनकर कतई संतुष्ट नहीं है। इससे पहले तीन दशकों का परिदृश्य एक कोलाज का ही निर्माण कर सका था। एक ऐसे कोलाज का, जिसमें तेजी से बदल रहे दृश्य पटल पर दिशाहीन कोहरा बिछा हुआ था। उनके माध्यम से जनजातियों के कई-कई रंगों या छवियों से कथित सभ्य समाज परिचित हो सकता है, किन्तु उनके मार्फत आदिवासी जीवन के परम्परागत मूल्यों और आस्थाओं को बीसवीं सदी के इतिहास की मुठभेड़ का इतिवृत सुलभ नहीं होता।"[233]

3.3.1 भूमंडलीकरण का पहला दशक (1991-2000ई.)

भूमंडलीकरण के प्रारंभिक दशक (1991-2000 ई.) के उपन्यासों में मनमोहन पाठक का 'गगन घटा गहरानी' (1991 ई.) वीरेन्द्र जैन का 'पार' (1994 ई.) संजीव का 'पाँव तले की दूब' (1995 ई.) श्रीप्रकाश मिश्र का 'जहाँ बाँस फूलते है' (1997 ई.) श्याम बिहारी 'श्यामल' का 'धपेल' (1998 ई.) विनोद कुमार का 'समर शेष है' (1999 ई.) भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़' (1999ई.) हबीब कैफी का 'गमना' (1999 ई.) पुन्नीसिंह का 'सहराना' (1999 ई.) मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी' (2000 ई.) संजीव का 'जंगल जहाँ शुरू होता है' (2000 ई.) मधु कांकरिया का 'खुले गगन के लाल सितारे' (2000 ई.) प्रमुख है।

मनमोहन पाठक का 'गगन घटा गहरानी' (1991ई.) झारखंड में स्थित पलामू क्षेत्र के आदिवासी समुदायों पर लिखा गया उपन्यास है। आदिवासी समाज के प्रति मूलधारा में फैले अनेक भ्रमों का निराकरण करने में यह रचना बहुत हद तक सफल हुई है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता शोषक और शोषित के बीच बनते-बिगड़ते संबंधों की यथार्थ प्रस्तुति है। इस उपन्यास के बारे में प्रो वीरभारत तलवार लिखतें है कि-"मनमोहन पाठक का उपन्यास गगन घटा गहरानी चर्चित भी हुआ और पुरस्कृत भी। यह एक बड़ा उपन्यास है। यह आदिवासी समाज के कुछ अंदर तक जाता है। इसमें कुछ

[233] विद्याभूषण : झारखंड़ और हिंदी उपन्यास, हंस, पूर्णांक 156, अंक 61, अगस्त 1999, पृ. सं. 60

कमजोरियाँ और भटकाव भी हैं, जिसके कारण महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद इसमें मौजूद संभावनायें पूरी नहीं हो पाती है, फिर भी इसके अलग-अलग कुछ हिस्से बहुत प्रभावशाली है। इसमें पलामू के एक जाने माने सांमत और उनके शोषण-उत्पीड़न की प्रसिद्ध घटनाओं को बहुत सजीवता के साथ चित्रित किया गया है। झारखंड़ का प्राकृतिक परिवेश भी इसमें सुंदर ढंग से आया है।"[234] उपन्यास के कथानक के अनुसार 'जागो' नामक पात्र को उसका मालिक सही ढ़ंग से कामकाज न करने के जुर्म में अपने पालतू चीते के पिंजरे में फेंक देता है। आदिवासी 'सोनाराम' के नेतृत्व में विद्रोह कर देते हैं, पर पुलिस प्रशासन के डर से जंगलों में भाग जाते है। सोनाराम आदिवासियों को शिक्षा का महत्त्व समझाता है, वह उन्हें शराब छोड़ने के लिए प्रेरित करता है और इस तरह गगन में छायी काली घटा को काटने का प्रयास करता है।

उपन्यास में झारखंड़ के पलामू, रोहतास क्षेत्र के उरांव, दलित और सदानों के परिप्रेक्ष्य में महाजनी सभ्यता और सांमती व्यवस्था के अत्याचारों को आदिवासी जीवन संघर्ष की व्यथा-गाथा के साथ संपूर्णता में दर्ज़ किया है। आलोचक वीरेन्द्र यादव लिखते हैं कि "उरांव जनजाति की इस संघर्षगाथा में आदिवासी जीवन का सौंदर्य, शौर्य, विशुद्धता, सरलता, कुरूपता, अभाव व बदलाव की चेतना एक साथ उपस्थित है।"[235]आदिवासी जीवन-संस्कृति के साथ उनकी विसंगतियों और विड़म्बनाओं को मिला देने से यह रचना, आदिवासी केन्द्रित अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक प्रभावी है। झारखंड के पलामू क्षेत्र में आज भी सामंती खंडहरों के अवशेष देखे जा सकते है, इन ताकतों के निशाने पर दलितों के साथ आदिवासी भी होते है। प्रस्तुत उपन्यास आदमियत के इस बियाबान से पाठकों को परिचित करवाता है। इस कृति में न तो उरांव समाज के सांस्कृतिक अवशेषों या विधि विधानों का महिमा मंडन किया है और न ही राजनीतिक मौसम का अभिलेख प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास अपने अंचल के सामाजिक जीवन का नैसर्गिक आख्यान प्रस्तुत करता है।

वीरेन्द्र जैन द्वारा लिखित उपन्यास 'पार' (1994 ई.) 'डूब' के आगे की कहानी कहता है। उपन्यास के केन्द्र में बुन्देलखंड स्थित बेतवा नदी पर बनने वाली बाँध परियोजना और राउत आदिवासियों के शोषण की कथा है। इस उपन्यास में आदिवासी लोक परंपराओं, आस्था और अन्याय के खिलाफ़ खड़ी आवाजों को एक साथ रखा गया है। 'माते' जैसे सजग आदिवासी अपने गाँव को शोषण के चक्र से निकालने में समर्थ नहीं होते, परंतु उनकी मंशा है कि शोषण की यह प्रक्रिया खत्म हो

[234] तलवार वीरभारत : झारखंड़ के आदिवासियों के बीच, 2008, पृ. सं. 671

[235] यादव वीरेन्द्र : उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, 2017 पृ. सं. 82

। इस तरह उक्त उपन्यास विकास परियोजनाओं से होने वाले विस्थापन की कहानी पूरी जमीनी हकीकत के साथ बयान करता है।

संजीव का 'पाँव तले की दूब' (1995ई) उपन्यास 1990 ई. में ही 'हंस' पत्रिका के अगस्त-सितम्बर अंक में प्रकाशित हो चुका था। यह उपन्यास हाशिये पर धकेल दिए गये आदिवासी जीवन का गद्यात्मक लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के साथ आदिवासी समाज के संघर्ष में गैर आदिवासियों की भागीदारी को उजागर करता है । उपन्यास का नायक 'सुदीप्त' ऐसा ही गैर आदिवासी पात्र है, जो आदिवासी संघर्षों के बीच खुद को उपस्थित पाता है। 'पाँव तले की दूब' उपन्यास जल-जंगल और जमीन के प्रश्नों को रेखांकित करने के साथ आदिवासी जीवन और संस्कृति को भी सामने रखता है। समकालीन जनमत के संपादक रामजीराय इस उपन्यास पर अपने विचार कुछ इस तरह व्यक्त करते है- "पाँव तले की दूब' उपन्यास के नायक सुदीप्त आदिवासियों के हक और अधिकारों के संघर्ष को गैर-आदिवासी गरीब, शोषित-वंचित लोगों की लड़ाई से जोड़ना चाहता है। उसे आशंका रहती है कि झारखंड बन जाने के बावजूद आम लोगों की समस्या ज्यों की त्यों रहेगी। वास्तव में वैसा ही हुआ। झारखंड में आज फिर से साम्राज्यवादी कंपनियों को बुलाया जा रहा है। एक ओर आदिवासियों को आक्रामक हिन्दुत्त्व का नशा पिलाया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर आरक्षण की सुविधाएं हासिल करने के नाम पर खुद को आदिवासी साबित करने की होड़ लगी हुई है, जबकि देश के अन्य इलाकों के आदिवासियों की तरह झारखंड के आदिवासी भी भयावह गरीबी, भूख, बेरोजगारी, कुपोषण, बीमारी और विस्थापन के शिकार है, जिसकी फिक्र हिंदुत्ववादियों और आदिवासीवाद के पक्षधरों को कतई नहीं है।" [236]

झारखंड़ के बाघमुंडी गाँव के आदिवासियों में प्रचलित डायन प्रथा, अंधविश्वास, अज्ञानता, विस्थापन, बेरोजगारी, औद्योगिक समस्याओं को सामने रखकर लिखा गया संजीव का यह उपन्यास आदिवासी जीवन को समग्रता मे प्रस्तुत करने का प्रयास है। महाजनी शोषण और आदिवासी जमीन के छिनते जाने को यह उपन्यास कलमबद्ध करता है । नक्सलबाड़ी आंदोलन के दौरान भूमिगत हुए कार्यकर्ता की कहानी के माध्यम से संथाल परगना के आदिवासियों की गतिविधियों तथा सामाजिक-आर्थिक संघर्षों को उजागर करता हुआ यह उपन्यास कथाकार संजीव के सृजनशील व्यक्तित्व और विशाल अनुभव जगत का परिचायक है।

श्री प्रकाश मिश्र का 'जहाँ बाँस फूलते है' (1997ई) उपन्यास उत्तर-पूर्व के आदिवासी लुशाईयों की कहानी कहता है। डॉ. बी. के. कलसावा लिखते हैं कि "इस उपन्यास से गुजरते हुए आप वहाँ की

[236] रामजीराय : समकालीन जनमत पत्रिका, आदिवासी मिथ और यथार्थ, सितम्बर 2003, अंक 2-3, संपादकीय आलेख

पहाड़ियों की चढ़ाई, कटानों का तीखापन, नदी का बहाव, आसमान की चमक, भूख से एंठते आदमी का रंग, बूटों की आवाज, शिकारी की चालाकी, हवा की छुअन, धूप की गर्मी अपनी नस-नस में महसूस करेंगे।"[237] यह उपन्यास एक ओर आजादी के बाद मिजो लोगों द्वारा स्वतंत्रता की भावना से किए गए उग्र संघर्ष को रेखांकित करता हैं, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी शासन काल की घटनाओं और ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित जन जागरण की प्रक्रिया को सामने रखता है। सुभाष कुमार गौतम लिखते हैं कि-"श्रीप्रकाश मिश्र का उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' का विषय 1968 में हुए लालडेंगा के विद्रोह पर केन्द्रित है। अनुभव और स्मृतियों के आधार पर लिखा गया यह उपन्यास बहुत ही दिलचस्प है।"[238]

श्याम बिहारी 'श्यामल' द्वारा लिखित 'धपेल' (1998 ई.) उपन्यास की विवेचना इसके उद्घोषकीय पृष्ठ पर इस प्रकार है "धपेल हिंदी का ऐसा पहला उपन्यास है, जिसमें देश के सर्वाधिक सूखा-अकाल पीड़ित, भूख गरीबी से त्रस्त-संतप्त तथा मृत्यु उपत्यका का पर्याय कहे जाने वाले पलामू क्षेत्र का लोमहर्षक जीवन संघर्ष सीधे-सीधे दर्ज़ हुआ है।"[239] यह उपन्यास व्यक्ति की धनलोलुपता और भूख दोनों को एक साथ व्यक्त करता है। यह उपन्यास उद्घाटित करता है कि जिन लोगों ने नेताजी सुभाष चंद्र बोस के साथ स्वराज्य की लड़ाई लड़ी। आज वे लोग स्वतंत्रता के बाद भुखमरी से जूझ रहे है।

विनोद कुमार का उपन्यास 'समर शेष है' (1999ई.) अपने कलेवर में झारखंड आंदोलन और शिबू सोरेन के चमत्कारिक व्यक्तित्व को सामने रखने के कारण काफ़ी चर्चित हुआ। इसके बारे में प्रो. वीरभारत तलवार लिखते हैं कि "मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि पूरे हिंदी साहित्य में आदिवासियों के बारे में लिखी गयी यह श्रेष्ठ कृति है। मशहूर आदिवासी नेता शिबू सोरेन के प्रारंम्भिक क्रांतिकारी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गये इस उपन्यास की एक बड़ी खूबी यह हैं कि यह झारखंड़ क्षेत्र में हुए विभिन्न जन आंदोलनों के इतिहास से भरा हुआ है।"[240] यह उपन्यास झारखंड़ आंदोलन के तीन दशकों की संघर्ष गाथा और घटनाओं को कालक्रमानुसार प्रस्तुत करता है। उपन्यास की कथावस्तु में शिबू सोरेन तथा कामरेड ए. के. राय, विनोद बिहारी महतो की उपस्थिति मूलनाम के साथ दर्ज़ है। 1970 ई. के आसपास शिबू सोरेन के नेतृत्व में हुए 'धनकटिया आंदोलन' के साथ औद्योगिकीकरण

---

[237] कलासवा बी के : हिंदी में आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. सं. 84

[238] गौतम सुभाष कुमार : जहाँ बाँस फूलते हैं : जनजातीय संघर्ष एवं विद्रोह, वांड्मय पत्रिका, आदिवासी विशेषांक-2, अक्टूबर-मार्च 2014, पृष्ठ-153

[239] श्यामल श्याम बिहारी : धपेल, 1998, पुस्तक के फ्लैप पर

[240] तलवार वीरभारत : झारखंड़ के आदिवासियों के बीच, 2008, पृ.सं. 671-672

और उसके चलते होने वाले विस्थापन से गुजरते हुए संथालों का यथार्थ चित्रण उपन्यास में दृष्टव्य होता है। अलग राज्य के रूप में स्थापित होने के बावजूद भी झारखंड़ संथालों के दुखों को खत्म नहीं कर पाता, लिहाज़ अस्तित्व और अस्मिता की खातिर संघर्ष के जारी रहने के संकेत उपन्यास देता है।

हबीब कैफी का उपन्यास 'गमना' (1999ई) राजस्थान के भील-गरासिया समाज पर लिखा गया उत्कृष्ट उपन्यास है। भ्रष्टाचार से पीड़ित आदिवासियों का शोषण करने वाले तत्वों में पुलिस-प्रशासन, कानून, पंचायत व्यवस्था आदि शामिल है। यह उपन्यास स्वतंत्रता से पहले और बाद में आदिवासी स्थिति का मूल्यांकन करता है। पुन्नीसिंह का 'सहराना' (1999ई.) उपन्यास राजस्थान और मध्यप्रदेश की सीमा पर निवास करने वाले सहरिया आदिम जाति के सांस्कृतिक-सामाजिक परिदृश्य का ताना-बाना बुनता है। सहराना का अर्थ है 'सहरियाओं की बस्ती'। शिक्षा का अभाव और राजनैतिक चेतना की शून्यता के बीच यह आदिम समुदाय उच्च वर्ग के शोषण की चक्की में पिसता चला जा रहा है। यह उपन्यास सहरिया आदिवासियों के यौन मामलों को बड़ी प्रगतिशीलता के साथ दर्ज़ करता है। मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी' (2000ई.) बुन्देलखंड के 'कबूतरा' आदिवासी जनजीवन को केन्द्र में रखता है । अठारह अध्यायों में विभक्त यह उपन्यास नारी शोषण और संघर्ष, जात-पाँत, ऊँच-नीच, अन्धविश्वासों और अनैतिक संबंधों को केन्द्र बनाता है। आदिवासी कबूतरा समाज और कथित सभ्य समाज 'कज्जा' के बीच का टकराव इस उपन्यास में वर्णित है। कबूतरा आदिवासी समाज के प्रतिरोध और प्रतिशोध को यह उपन्यास फ़िल्मी अंदाज़ में प्रस्तुत करता है। इसकी नायिका 'कदमबाई' सभ्य समाज की रखैल के रूप में प्रस्तुत है, जो पैसा कमाने और उस पैसे से अपने परिवार को आगे बढ़ाने का सपना देखती हैं।

संजीव का उपन्यास 'जंगल जहाँ शुरू होता है' (2000ई.) आदिवासी थारू जनजाति, डाकुओं एवं राजनीतिज्ञों की त्रिकोणीय लड़ाई को प्रस्तुत करता है। भारत और नेपाल की सीमा पर स्थित मिनी चंबल के नाम से बदनाम चंपारण जिले के आदिवासी समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास थारू जनजातियों के जीवन संघर्ष और डाकू बनते जाने की विवशता को दर्शाता है । यह उपन्यास व्यक्ति के भीतर पनपते जंगल की ओर भी इशारा करता है। थारू आदिवासियों के जीवन संघर्ष और सामाजिक-आर्थिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने वाला यह उपन्यास संजीव की खोजी प्रवृति का परिचायक है। बतौर लेखक-"मेरी हर रचना तब भी शोध थी, आज भी है। चाहे वह उपन्यास हो या कोई कहानी।"[241] इस उपन्यास को विश्लेषित करते हुए वीरेन्द्र यादव लिखते है- "सच तो यह है कि 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास में डाकू समस्या के बहाने हाशिये के उस जीवन को विश्लेषित किया

[241] संजीव : संजीव की कथा यात्रा, दूसरा पड़ाव, 2020 पृ. सं. 9

गया है, जिसे अपराध की भूमि व शरणस्थली के रूप में चिन्हित कर 'सभ्य' समाज के शत्रु छवि में ढाला जाता है।"[242] थारू रीति रिवाज आस्था-अनास्था, लोक जीवन, धार्मिक संस्कार और जीवन की चुनौतियों को उपन्यासकार गहराई से अभिव्यक्त करता है। मधु काँकरिया का 'खुले गगन के लाल सितारे' (2000ई.) उपन्यास झारखंड- छत्तीसगढ़ के आदिवासी इलाकों में पाँव पसारते हुए नक्सलवाद के कारणों की पड़ताल वहाँ के आर्थिक-सामाजिक जीवन की विसंगतियों में ढूंढ़ता है।

भूमंडलीकरण के पहले दशक के इन उपन्यासों में आदिवासियों के शोषण-उत्पीड़न, विस्थापन, जल,जंगल और जमीन के सवाल, उत्तर-पूर्व के उग्र आंदोलन और नक्सलवाद को जगह देने के साथ आदिवासी समाजो में हो रहे परिवर्तनों को चिहिन्त किया है। भूमंडलीकरण की प्रवृतियों के आलोक में मनमोहन पाठक, संजीव, विनोद कुमार के साथ मधु काकरिया के उपन्यास महत्त्वपूर्ण है।

3.3.2 भूमंडलीकरण का दूसरा दशक (2001 से 2010 ई.)

भूमंडलीकरण के दूसरे दशक (2001 से 2010 ई.) में भारत वैश्विक पूँजीवाद का केन्द्र बना। निजीकरण और मुक्त बाज़ार की नीतियों के चलते प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में आशातीत वृद्धि हुई। सकल घरेलू उत्पाद में भी भारत भारी वृद्धि दर्ज़ की। इन सबके पीछे सरकारी संपत्तियों का औने-पौने दामों में बेचा जाना और प्राकृतिक खनिज संसाधनों को अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार के हवाले करने की सरकारी नीति प्रमुख कारण थी। चूंकि प्राकृतिक संसाधनों की अधिकांश उपलब्धता आदिवासी क्षेत्रों में थी, इसलिए वहाँ बाज़ार के हमले तेज हो गये। आदिवासी विरोध और आंदोलनों ने हिन्दी लेखकों को उनकी समस्याओं पर लिखने के लिए प्रेरित किया।

इस दौर के उपन्यासों में तेजिन्दर का 'काला पादरी' (2002ई.), श्रवणकुमार गोस्वामी का 'हस्तक्षेप' (2002ई.), राकेश कुमार सिंह का 'पठार का कोहरा' (2003ई.), और 'जहाँ खिलते है रक्त पलाश' (2003ई.), मंगलसिंह मुंडा का 'छैला-सन्दु (2004ई.), वाल्टर भेंगरा 'तरूण' का 'लौटते हुए' (2005ई.), राकेश कुमार सिंह का 'जो इतिहास में नहीं है' (2005ई.), अमिता शर्मा का 'विस्थापित' (2005ई.), मधुकर सिंह का 'बाजत अनहद ढ़ोल' (2005ई.), श्रीप्रकाश मिश्र का 'रूप तिल्ली की कथा' (2006ई.), संजीव का 'आकाश चंपा' (2008 ई.), हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर' (2008 ई.), भगवानदास मोरवाल का 'रेत' (2008 ई.), रणेन्द्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009 ई.), राजीव रंजन का 'आमचो बस्तर' (2009 ई.) और शरद सिंह का 'पिछले पन्ने की औरतें' (2009ई.) प्रमुख है।

[242] यादव वीरेन्द्र : उपन्यास का जनतंत्र और हाशिए का समाज, आलोचना, सहस्त्राब्दी अंक 66, जून-सितम्बर 2001, पृ. सं. 83

तेजिन्दर का उपन्यास 'काला पादरी' (2002 ई) आदिवासियों की भूख और गरीबी के साथ धर्मांतरण की समस्या को सामने रखता हैं। इसका मूल कथ्य है कि 'कैसे प्रकृति पूजक सरना मतावलंबी ईसाई धर्म को अपनाने के लिए बाध्य है।' उपन्यास की आधिकारिक संरचना के केन्द्र में सरगुजा के अंबिकापुर क्षेत्र में रहने वाला आदिवासी समाज है । उपन्यासकार आदिवासियों के सांस्कृतिक अपहरण और ईसाई धर्म के प्रसार से पाठक को परिचित करवाता है। लेखक उदय प्रकाश पुस्तक के फ्लैप पर उपन्यास के बारे में राय व्यक्त करते है कि-"बीत चुकी बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में सरगुजा के जंगली इलाके के अनजान, आदिम अंधकार से घिरे महेशपुर जैसे असंख्य भारतीय गांवों में, इतिहास के सीमान्तों से बाहर एक अत्यंत महत्वपूर्ण परिघटना चुपचाप घटित हो रही थी। मिथकीय प्रतीकों और छवियों का यह युद्ध चुपचाप चल रहा था, जिसने भविष्य में वहाँ के आदिवासियों का समूचा जीवन बदल डाला।"[243]

श्रवणकुमार गोस्वामी का 'हस्तक्षेप' (2002 ई) उपन्यास आदिवासी समाज में बनते उस वर्ग को रेखांकित करता हैं, जो अपने ही लोगों का शोषण कर सत्ता की चाटुकारिता करते है। इसके विपरीत ऐसे गैर आदिवासी भी है, जो कि आदिवासी हितों के साथ खड़े है। राकेश कुमार सिंह का 'पठार का कोहरा' (2003ई) झारखंड़ी आदिवासियों की दशा को रेखांकित करने के साथ आदिवासियों में शिक्षा की अलख जगाकर उनके उत्थान की राह प्रेरित करने वाला प्रमुख उपन्यास है। वंदना झा इस उपन्यास के बारे में लिखती है कि-"इस पूरे उपन्यास में आदिवासी जीवन के उत्सवधर्मी रूप, उनके मेले, पाठ-पूजा आदि को केस स्टडी की भांति बताया गया है। यह लेखक की सफलता ही है कि आदिवासियों के अनुभव संसार से गुजरते हुए इतना सूक्ष्म विश्लेषण कर पाते है"[244] राकेश कुमार सिंह का एक अन्य उपन्यास 'जहाँ खिलते है रक्त पलाश' (2003ई.) झारखंड के पलामू स्थित आदिवासियों की समाज और संस्कृति से वाकिफ़ करवाता है। यथार्थवादी उपन्यास के नजरिये से आदिवासी जीवन के कई नये तथ्यों की ओर उपन्यास संकेत करता है । इसमें आदिवासी परिवेश को ग्रामीण और शहरी दोनों के बरक्स प्रस्तुत किया है।

इस दौर में आदिवासी समाज से संबंध रखने वाले मंगल सिंह मुंडा और वाल्टर भेंगरा 'तरूण' भी उपन्यास लिखने का प्रयास करते हैं। इनके उपन्यास न केवल अपने समाज का चित्रण करते है, अपितु उनमें आ रहे बदलावों को रेखांकित करते है। मंगलसिंह मुंडा का उपन्यास 'छैला-सन्दु' 'सन्दु' और 'बुन्दी' की प्रेमकथा के माध्यम से मुंडा समाज की परम्पराओं, रीतिरिवाजों और अंधविश्वासों का

[243] सिंह तेजिन्दर : काला पादरी, 2002, प्रकाशकीय पृष्ठ फ्लैप पर

[244]अहमद.एम फिरोज : वांड्मय पत्रिका, अक्टूवर-2013, पृ. 100

चित्रण करता है। वाल्टर भेंगरा 'तरूण' का उपन्यास 'लौटते हुए' (2005ई) काम की तलाश में शहरों की ओर पलायन करने वाली आदिवासी युवतियों के साथ होने वाले शारीरिक शोषण, मानसिक, प्रताड़ना और दुर्व्यवहार का सच्चा बयान दर्ज़ करता है।

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है'(2005 ई.)1857 ई.के पूर्व हुए आदिवासी विद्रोह संथाल हूल के नेता सिद्धो-कान्हू की जीवनी प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास बताता है कि कैसे अंग्रेजी राज में आदिवासियों पर पाबंदी लगाई जाती है। कैसे जंगल से अपनी जरूरतों को पूरा करने वाला आदिवासी समाज महाजनों, जमींदारों और अंग्रेजों के चंगुल में फँसता चला जाता है। उपन्यासकार हारिल मुर्मू और उरांव लड़की लाली की प्रेम कहानी भी कहता है, जिसका परिणति दुखांत होती हैं। इस उपन्यास के विषय मे प्रेम शशांक लिखतें है कि-"सन 1857 के विद्रोह को भारतीय स्वतंत्रता का आगाज़ माना जाता है, लेकिन इस कृति के माध्यम से कथाकार इतिहास की इस बड़ी त्रुटि का, तत्कालीन समय-समाज में उपलब्ध आंकड़ों और प्रभावों के आधार पर जबर्दस्त चुनौती देते हुए अपेक्षित रचनात्मक सुधार के लिए इतिहास सापेक्ष कथा विन्यास रचता है।"[245]सरकारी नीतियों के चलते विस्थापित होते आदिवासियों की कहानी अमिता शर्मा का उपन्यास 'विस्थापित' (2005 ई.) कहता है।

मधुकर सिंह के उपन्यास 'बाजत अनहद ढोल' (2005 ई.) की पृष्ठभूमि में अंग्रेजी हुकूमत के अत्याचार, महाजन-ठेकेदारों के गठजोड़ द्वारा आदिवासियों पर ढ़ाये गये जुल्मों के खिलाफ़ हुए संथाल विद्रोह का वर्णन है। सूदखोरी के जाल में फँसकर बंधुआ मजदूर बनते आदिवासी, दैहिक शोषण को मजबूर आदिवासी महिलायें और सिद्दू, कान्हू, चांद, भैरव द्वारा खड़े किए गए आदिवासी विद्रोह को अपने कलेवर में समाहित करता हुआ यह उपन्यास घोषित करता हैं, कि जब तक आदिवासियों के पारंपरिक पुश्तैनी अधिकारों की बहाली नहीं होती, तब तक आदिवासी विद्रोह की चिंगारी यूं ही सुलगती रहेगी। श्रीप्रकाश मिश्र द्वारा रचित 'रूप तिल्ली की कथा' (2006ई.) उपन्यास औपनिवेशिक दौर में उत्तर-पूर्व के खासी समुदाय को केन्द्र बनाता है। कैसे अंग्रेजों ने खासी समुदाय को अपने अधीन किया। खासी आदिवासियों के अंधविश्वास मुख्य तौर पर बलि प्रथा को इसमें रेखांकित किया गया है। श्रीप्रकाश मिश्र के उपन्यास 'रूप तिल्ली की कथा' पर प्रो. वीरभारत तलवार का कहना है कि-"उत्तर-पूर्व भारत की जनजातियों का लंबे समय तक अध्ययन करके, उनके मानसिक तथा अंदरूनी तनाव और उनकी सांस्कृतिक-आध्यात्मिक बनावट को समझकर श्रीप्रकाश मिश्र ने उपन्यास लिखे हैं। इनका 'जहाँ बांस फूलतें है' उपन्यास मिजों लोगों के हथियारबंद मुक्ति संघर्ष को उजागर करता हैं। 'रूप

[245] शशांक प्रेम : जो इतिहास में नहीं है, समीक्षा, अंक 1, अप्रेल-जून 2006, पृष्ट संख्या 34

तिल्ली की कथा' उपन्यास उन्नीसवीं सदी में खासी आदिवासियों के अंदर औपनिवेशिक बाहरी प्रभावों और दबावों से पैदा होने वाली नई हलचलों और तनावों का, खासकर अस्मिता की सुरक्षा चिंता को लेकर लिखा गया है।"[246]

जहाँ संजीव के उपन्यास 'आकाश चंपा' (2008ई) में आदिवासियों की शिक्षा संबंधी समस्याओं को उजागर करने के साथ धर्मांतरण की समस्या पर प्रकाश ड़ाला है, वहीं 'धूणी तपे तीर' (2008ई.) उपन्यास में हरीराम मीणा ने दक्षिणी राजस्थान में औपनिवेशिक शासनकाल के दौरान गोविंद गिरी के नेतृत्व में होने वाले आदिवासी आंदोलन को आधार बनाया गया है। कैसे साहित्य और इतिहास के पन्नों में आदिवासियों के उस बलिदान को भी रेखांकित नहीं किया जाता, जिसमें जलियाँवाला बाग से चार गुना अधिक शहादत हुई । यह उपन्यास आदिवासियों के इतिहास का पुनर्लेखन करता है। भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'रेत' (2008 ई.) कंजर जाति की औरतों के 'देह व्यापार' को सामने रखता है । उपन्यास कंजर समुदाय में स्त्री की स्थिति को उपन्यास की नायिका रूकमणि के माध्यम से अभिव्यक्ति देता है । रूमानियत से भरपूर राजनैतिक घटनाक्रम के साथ सामाजिक उद्धार का स्वप्न लेखक पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

रणेन्द्र द्वारा रचित 'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009 ई.) उपन्यास भूमंडलीकरण की प्रवृतियों को उजागर करने वाला प्रमुख उपन्यास है, जिसके केन्द्र में है-झारखंड़ की एक प्रमुख आदिम जनजाति-असुर। वर्तमान समय में विस्थापन, बेरोजगारी, शैक्षणिक समस्याओं का दंश झेलता यह समाज अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्षरत् है। भूमंडलीकरण और वैश्विक गाँव की अवधारणा ने भारतीय जनमानस को गहराई तक प्रभावित किया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्राचीन भारतीय उक्ति के बरक्स इसमें प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर आदिवासी इलाकों में वैश्विक तबाही का मंजर दिखाई देता है । आदिवासी जीवन पर पड़ने वाले भूमंडलीकरण के प्रभावों को झारखंड़ के असुर आदिवासियों के संदर्भ में देखते हुए रणेन्द्र ने इस उपन्यास का कथानक बुना है। शिवदत्त बावळकर इस उपन्यास के कथ्य पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि "शताब्दियों से उपेक्षित रहे असुर आदिवासी हमारे देश में पहले से ही आधुनिकता की प्रक्रिया में ठगे गए थे। अब वैश्वीकरण के दौर में तो उनका अस्तित्व ही खत्म हो रहा है।"[247]

[246] मीणा केदारप्रसाद : सभी सत्ताधारी आदिवासियों के आदिवासीपन से ड़रते है। प्रो. वीरभारत तलवार के साथ साक्षात्कार, कथाक्रम, अंक 50, अक्टूबर-नबंबर 2011, पृष्ट संख्या 12

[247] वावळकर शिवदत्त : हिंदी उपन्यास और जनजातीय जीवन, 2018, पृ. सं. 88

राजीव रंजन का उपन्यास 'आमचो बस्तर' (2009 ई.) छत्तीसगढ़ में स्थित बस्तर के परिवेश को समेटते हुए ऐतिहासिक रूप से आदिवासी शासकों की परंपरा और औपनिवेशिक दास्ताँ को अभिव्यक्त करता है। शरदसिंह के उपन्यास 'पिछले पन्ने की औरतें' (2009 ई.) में 'बेड़िया' समुदाय की महिलाओं द्वारा किए जा रहे 'देह व्यापार' को कथ्य बनाया है। कैसे उन्हे इस दलदल से बाहर निकाले, यहीं लेखिका का उद्देश्य है। इसका एक उपाय गैर बेड़िया समुदाय में उनकी शादी करवाना हो सकता है, पर वहाँ भी वही दुत्कार-उलाहना और अंत में वहीं पुराना धंधा। शरदसिंह का यह उपन्यास बाहरी तौर पर आदिवासी समाज को देखता है।

भूमंडलीकरण के दूसरे दशक के उक्त उपन्यास विषयवस्तु की दृष्टि से आदिवासी जीवन को व्यापक रूप में अभिव्यक्त करते है। धर्मांतरण की समस्या आदिवासी क्षेत्रों में नवीन नहीं है, पर भूमंडलीकरण के साथ जिस धार्मिक साम्प्रदायिकता का उभार भारतीय उपमहाद्वीप में हुआ, वह आदिवासी क्षेत्रों में हिन्दू बनाम अन्य के संघर्ष में परिणत होता चला गया। आदिवासियों के बीच से आदिवासी धर्म को संरक्षित करने की माँग जोर पकड़ने लगी। आदिवासी धर्मांतरण के सवाल पर 'काला पादरी' और 'आकाश चंपा' जैसे उपन्यास लिखे गये। इतिहास का पुर्नमूल्यांकन और पुनर्पाठ भूमंडलीकरण के दौर में विकसित अस्मिता विमर्श की प्रमुख पहचान है। हिन्दी में 'जो इतिहास में नहीं है', 'बाजत अनहद ढोल', 'रूपतिल्ली की कथा', 'धूणी तपे तीर', 'आमचो बस्तर' जैसे उपन्यास आदिवासियों के इतिहास से रूबरू करवाते है। भूमंडलीकरण के इस दौर में विस्थापन और पलायन के साथ आदिवासी जीविका के संकट को जहाँ 'विस्थापित' और 'ग्लोबल गाँव के देवता' जैसे उपन्यासों में प्रमुख विषय बनाया गया है, वहीं आदिवासी समाजों में पनपती वेश्यावृति को 'रेत' और 'पिछले पन्ने की औरतें' में उकेरने का प्रयास उपन्यासकारों ने किया है। इस दौर में आदिवासी समाज से आने वाले मंगल सिंह मुंडा, वाल्टर भेंगरा और हरिराम मीणा जैसे उपन्यासकारों का सामने आना आशान्वित करता है।

3.3.3 भूमंडलीकरण का तीसरा दशक (2011-2020 ई.)

भूमंडलीकरण के तीसरे दशक (2011-2020 ई.) के प्रमुख उपन्यासों में राकेश कुमार सिंह का 'हूल पहाड़िया' (2012 ई.) महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' (2012 ई.) रणेन्द्र का 'गायब होता देश' (2014 ई.) राकेश कुमार सिंह का 'महाअरण्य में गिद्ध' (2015 ई.) विनोद कुमार का 'रेड जोन' (2015ई.) और तरूण भटनागर का 'राजा, जंगल और काला चाँद' (2019 ई.) प्रमुख है।

राकेश कुमार सिंह का 'हूल पहाड़िया' (2012 ई.) उपन्यास आदिवासी विद्रोही तिलका माँझी की कथा कहता है। वही तिलका माझी, जिसने कंपनी सरकार को स्वामी मानने से इंकार कर दिया और

किसी प्रकार का कोई कर नहीं दिया । जिसने जीते जी व्यवस्था से हार नहीं मानी और अंग्रेजों का डटकर मुकाबला किया । साथ ही इस उपन्यास में पहाड़िया जनजाति के रीति-रिवाजों, खानपान, पर्व-त्यौहारों का चित्रण है । महुआ माजी का उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' (2012 ई.) झारखंड़ के सिंहभूमि स्थित मरंगगोड़ा (जादूगोड़ा) क्षेत्र की कहानी कहता है । इस उपन्यास में यूरेनियम खनन से होने वाली समस्यायें यथा-विकिरण के दुष्प्रभाव, प्रदूषण और विस्थापन को सामने रखा है । स्वास्थ्य संबंधी परेशानियों और पर्यावरण असंतुलन के साथ घटती भूमि, कृषि पर पड़ते घातक असर का अंकन भी उपन्यास में किया गया है । कथाकार रणेन्द्र इस उपन्यास के संदर्भ में लिखते हैं कि-"महुआ माजी की यह सशक्त वैचारिक रचना अपनी सघनता और बहुआयामी विस्तार के साथ विषय की आतंककारी भयावहता एवं वैश्विकता से सुपरिचित करवाती,उद्वेलित करती है । यही इसकी सफलता है और लेखिका की परिश्रमी लेखनी का सुफल भी ।"[248]

'गायब होता देश' (2014ई.) उपन्यास में रणेन्द्र ने आदिवासी जमीन के लूटे जाने का इतिहास बयां किया है । मुंडा आदिवासियों के ही नहीं, समस्त आदिवासी अस्मिता के गायब होने की बात यह उपन्यास स्वीकार करता है । वैश्वीकरण के परिदृश्य में यह धीरे-धीरे समस्त देश के अस्तित्व को खतरे में होने का संकेत करता है । 'महाअरण्य में गिद्ध' (2015ई.) राकेश कुमार सिंह द्वारा लिखित उपन्यास है, जिसमें झारखंड़ के पलामू क्षेत्र की अरण्य संस्कृति से संचालित आदिवासी जीवन की विसंगति और त्रासदी की कहानी बयां की है । विनोद कुमार का उपन्यास रेड जोन (2015 ई.) झारखंड़ गठन के बाद टूटते आदिवासी सपने, आदिवासी राजनीति के जमीनी लड़ाका रहे 'गुरुजी' यानि शिबू सोरेन और उसकी पार्टी 'झारखंड मुक्ति मोर्चा' का आदिवासी सवालों से दूर होते जाना और झारखंड़ में लाल अंचल का उभार और उसके अन्तर्विरोध 'रेड जोन' उपन्यास की विषयवस्तु है । विनोद कुमार का उपन्यास 'समर शेष है' में आदिवासियों की लड़ाई लड़ने वाले 'शिबू' महाभारत में खड़े अर्जुन की तरह समर में नज़र आते हैं । वे आदिवासियों की लड़ाई लड़ने वाले जमीनी नेता है लेकिन 'रेड जोन' उपन्यास ने उनको आदिवासियों का अपनी राजनीति के लिए उपयोग करने वाला सिद्ध किया हैं । आदिवासी उनके ऐतिहासिक लड़ाका छवि के कारण, विस्थापन के समय उनको याद करते है, पर वे मैदान छोड़ चुके होते हैं । मुक्तिमोर्चा के खोते जमीनी आधार और लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भरोसा रखने वाली वाम राजनीति को यह उपन्यास रेखांकित करता है । यह एक राजनीतिक उपन्यास है जिसमें लेखक भी अपने राजनीतिक चरित्र के साथ उपस्थित है ।

[248] कालिया रवीन्द्र (सं.) : नया ज्ञानोदय पत्रिका, जून 2012, पृ. 101

कथाकार तरूण भटनागर का 'राजा, जंगल और काला चाँद' (2019 ई.) उपन्यास 41 अध्यायों में बस्तर के आदिवासी क्षेत्र का इतिहास और वर्तमान को उजागर करता है । बस्तर के समाज की मनस्थिति को पूरी बनक के साथ उपन्यास में दर्ज़ किया गया है। यह बस्तर के आदिवासियों के संघर्ष पर लिखा गया ऐसा उपन्यास है, जो अपने कथारस के मार्फत बस्तर की दुनिया को 'एक्सप्लोर' करता है, उनके सवालों से टकराता है और साथ ही आदिवासी जीवन की 'आयरनी' को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है। विकास की आधुनिक समाजशास्त्रीय अवधारणा को चुनौती देता हुआ यह उपन्यास दर्शाता है कि एक आदिम समाज अपने विकास के क्रम में जरूरी नहीं की आधुनिक दुनिया के मापदंडों का ही चुनाव करे। आदिवासियों द्वारा चुने हुए मानदंडों की अवहेलना क्यों की जाती है। यह उपन्यास इस सवाल को बख़ूबी बखान करता है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि आदिवासी समाज को केन्द्र में रखकर जितने भी उपन्यास हिन्दी में लिखे गये, वे आदिवासी समाज की परंपराओं, मूल्य और मान्यताओं, उनके जीवन संघर्ष को अलग-अलग कोणों से रेखांकित करते है। अगर हम आदिवासी समाज के इतिहास और संस्कृति को जानना और समझना चाहते है, तो हिन्दी के इन उपन्यासों का अध्ययन बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। एक तथ्य यह भी है कि आदिवासी विषयक इन उपन्यासों के लेखक ज्यादातर गैर आदिवासी है, इसलिए उनके आदिवासी संदर्भों को सही ढंग से उठाये जाने के सवाल पर आदिवासी विमर्शकार शंका व्यक्त करते है। उनका मानना है कि आदिवासी समाज की अंदरूनी समझ से बाहरी लोगों का परिचय न होने के कारण आदिवासी जीवन की सही प्रस्तुति इनमें नहीं होती है और न ही आदिवासी समाज का अपना दृष्टिकोण उभरकर आता है।

एक सच्चाई यह भी है कि आदिवासी सिद्धान्तकार भले ही आदिवासी विषयों पर लेखन करने वाले गैर आदिवासी लेखकों की संवेदना पर सवाल उठाये, पर हिन्दी उपन्यास साहित्य में आदिवासी लेखकों की नगण्य स्थिति उस सवाल को सवाल ही रहने देती है। ऐसा कोई उपन्यास हिन्दी में नहीं दिखाई देता, जिसके संबंध में कहा जा सके कि यह आदिवासी दर्शन और आदिवासी विमर्श को ध्यान में रखकर लिखा गया उपन्यास है। हिन्दी उपन्यास के पूरे इतिहास में हमें मुश्किल से 4-5 उपन्यास ही नज़र आते है, जो कि आदिवासियों द्वारा लिखित है और इनमें भी आदिवासी दर्शन को उजागर करने वाली अलग बात दिखाई नहीं देती। आदिवासी विमर्श जिसकी भरपूर चर्चा हिन्दी पत्रिकाओं, मास मीडिया ब्लॉग लेखन में है, हिंदी उपन्यासों में अनुपस्थिति उसे एक महज नारे के रूप में ही चिन्हित करती है। कहानी और कविता के क्षेत्र में आदिवासी समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले रचनाकार

आपको मिल जायेंगे, पर उपन्यास विधा का सूनापन आदिवासी विमर्श की कमजोर स्थिति को रेखांकित करता है।

3.4 भूमंडलीकरण की प्रवृतियां और आदिवासी केन्द्रित प्रमुख हिन्दी उपन्यास

('पाँव तले की दूब', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश', 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' और 'रेड जोन' के विशेष संदर्भ में)

भारत में सैंकड़ों की संख्या में आदिवासी समुदाय निवास करते है। ये समुदाय आर्थिक विकास क्रम की अलग-अलग अवस्थाओं से गुजर रहे है। इन समुदायों की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना न केवल गैर आदिवासियों बल्कि पारस्परिक रूप से भी काफ़ी भिन्नता लिए हुए है। नस्ल, भाषा और सांस्कृतिक आधार पर इन समुदायों को कई समूहों में विभाजित किया जा सकता है । भौगोलिक आधार पर भी संपूर्ण भारत में आदिवासियों की उपस्थिति देखी जा सकती है। भूमंडलीकरण ने इन सभी आदिवासी समुदायों को न्यूनाधिक रूप से प्रभावित किया है । मध्य भारत (झारखंड और छत्तीसगढ) के आदिवासी समुदाय आज भूमंडलीकरण की नीतियों और वैश्विक पूँजीवादी ताकतों का सीधा हमला झेल रहे है। प्राकृतिक खनिज संसाधनों से परिपूर्ण इस क्षेत्र में आदिवासियों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनकी सहयोगी ताकतों के आतंक की तुलना किसी अन्य क्षेत्र से नहीं की जा सकती। विकास के नाम पर चलने वाली विभिन्न परियोजनाओं ने यहाँ के आदिवासी जीवन को संकट में डाल दिया है।

हिन्दी में मध्य भारत (झारखंड और छत्तीसगढ़) के आदिवासी जीवन और समस्याओं की उपस्थिति अन्य क्षेत्रों की तुलना अधिक है। इसके दो प्रमुख कारण है- पहला इस क्षेत्र की हिन्दी पट्टी के रूप में पहचान और दूसरा भूमंडलीकरण से संचालित वैश्विक पूँजीवादी ताकतों के हमलों का केन्द्र होना। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि ज्यादातर आदिवासियों की अपनी भाषिक संरचना होती है, फिर भी सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी ने अपनी उपस्थिति आदिवासियों के बीच दर्ज़ की है। आज हिन्दी में आदिवासी विषयों पर लेखन करने वालों में गैर आदिवासियों के साथ आदिवासी रचनाकारों की संख्या अच्छी-खासी है । भूमंडलीकरण दूसरा प्रमुख कारण है जिसने हिन्दी में मध्य भारत के आदिवासियों को ज्यादा जगह दी। भूमंडलीकरण की नीतियों के चलते यहाँ के आदिवासी समुदायों को भारी उथल-पुथल का सामना करना पड़ा। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का ऐसा खतरा आज तक उपस्थित नहीं हुआ। हिन्दी के वे लेखक जो रचनाकार के दायित्व से परिचित है, जो

मानते है कि साहित्य को अनिवार्य रूप से शोषित जन का पक्ष लेना चाहिए। वे आदिवासी विषयों पर गंभीर और सारगर्भित लेखन कर रहे है। इस बीच आदिवासी समाज के लेखक भी उभरकर आने लगे, जो अपने समाज और उसके जीवन दर्शन को हिन्दी पाठकों की विशाल दुनिया तक पहुंचाने की चाहत अपने मन में संजोये हुए है। भूमंडलीकरण के दौर के हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं पर्यावरण से संबंधित समस्त पहलुओं पर व्यापक रूप से लिखा गया है।

इस उप अध्याय में मैं आदिवासी समाज पर पड़ने वाले भूमंडलीकरण के प्रभावों का अध्ययन 5 चुनिंदा उपन्यासों- 'पाँव तले की दूब', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश', 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' और 'रेड जोन' को केन्द्र में रखकर करूंगा। विवेच्य उपन्यासों में जिन आदिवासी समुदायों का जिक्र है वे प्राकृतिक संपदा से संपन्न झारखंड और छत्तीसगढ़ राज्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन उपन्यासों में भूमंडलीकरण की अधिकांश प्रवृतियों का चित्रण मिलता है। ये उपन्यास आदिवासी समुदायों पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को भलि-भांति दर्ज़ करते है। हालाँकि इन पांचों ही उपन्यासों के लेखक गैर आदिवासी है, फिर भी जिस लेखकीय संवेदनशीलता और रचनात्मकता के साथ आदिवासी समाज और उनकी समस्याओं को इन उपन्यासों में उकेरा गया है, वह किसी 'स्वानुभति' का मोहताज नहीं है। ऐसा नहीं है कि इस दौर में 'आदिवासी लेखकों' ने उपन्यास नहीं लिखे, मंगलसिंह मुंडा का छैला-सन्दु (2004 ई.), वाल्टर भेंगरा 'तरूण' का 'लौटते हुए' (2005 ई.) और हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर' (2008 ई.) और 'डांग'(2021ई.) अपनी औपन्यासिक संरचना की दृष्टि से श्रेष्ठ उपन्यास है, किन्तु इनके विषय भूमंडलीकरण के सवालों से सीधे नहीं टकराते, इसलिए मैंने इन्हें आदिवासी उपन्यासों के विकासक्रम में ही शामिल किया है।

भूमंडलीकरण की प्रवृतियों का प्रभाव आदिवासी जनजीवन के हर क्षेत्र में पड़ा है। सामाजिक क्षेत्र में सामूहिक सह-अस्तित्व की भावना लगातार क्षीण होती जा रही है। सामाजिक मान्यताओं और परंपराओं में बदलाव आने लगा है। आत्मनिर्भर स्वाभिमानी स्त्री की छवि भूमंडलीकरण के दौर में कमजोर हुई है। जैसे-जैसे हिन्दूकरण की प्रवृति आदिवासी क्षेत्रों में बढ़ रही है, वैसे-वैसे आदिवासियों के भीतर पितृसत्ता जोर पकड़ रही है। इस दौर में आदिवासियों के भीतर शिक्षा का प्रचार-प्रसार भी हुआ, जिसने उनकी राजनीतिक चेतना का विस्तार किया। बाहरी लोगों की घुसपैठ और उसके दुष्प्रभाव से वे अनजान नहीं है। परंपरागत न्याय और दंड विधान की जगह न्यायपालिका ने ले ली है। उजड़ते गाँव और पारिवारिक बिखराव ने आदिवासी भाषा, संस्कृति और परंपरा पर गहरा आघात किया है।

राजनीतिक क्षेत्र में जनतांत्रिक मूल्यों की आदिवासी परंपरा में परिवर्तन आने लगा। स्वायत्ता और स्वाधीनता की भावना खत्म होने लगी। बाहरी राजनीतिक ताकतों द्वारा शोषण और विरोध, विस्थापन और पुनर्वास, नक्सलवाद आदि ऐसे सवाल है, जिनसे आदिवासी समाज को टकराना पड़ रहा है। इसी तरह आर्थिक क्षेत्र में आत्मनिर्भर आदिवासी समाज का बाज़ारवादी व्यबस्था में बदलना, विकास का भूमंडलीय स्वरुप, आर्थिक शोषण आदि प्रमुख सवाल बनकर उभरे है। धार्मिक क्षेत्र में आदिवासी धर्म और धर्मान्तरण का सवाल, आस्था और अंधविश्वास, परंपरागत रीतिरिवाजों की उपादेयता आदि पर चर्चा की जाने लगी। आदिवासी संस्कृति और पर्यावरण के आपसी संबंधों की पड़ताल, वन्य जीवन पर पड़ता दुष्प्रभाव और प्राकृतिक संसाधनों का असीमित दोहन आदि ऐसे विषय है जिनका सामना प्रत्यक्ष रूप से आदिवासी समाज और अप्रत्यक्ष रूप से पूरी मानवता कर रही है। भूमंडलीकरण की प्रवृतियों के आलोक में उक्त बिंदुओं को समझना आवश्यक है।

3.4.1 विवेच्य हिन्दी आदिवासी उपन्यासो की अंर्तकथा

संजीव : पाँव तले की दूब

1995 में प्रकाशित संजीव का पाँचवां उपन्यास 'पाँव तले की दूब' सामाजिक अंतर्विरोधों और पूँजीवादी शोषण को उजागर करने के साथ आदिवासी समाज का तन्मयतापूर्ण चित्रण प्रस्तुत करता है। खनिज संपदा से परिपूर्ण झारखंड़ में विकास की नई इबारत लिखी जा रही है, उद्योग खुल रहे है, नई दुनिया बस रही है, पर आदिवासी जहाँ के तहाँ है। उनके जल, जंगल और जमीन पर हमले बढ़ने के साथ उनकी सांस्कृतिक अस्मिता खोती जा रही है। कथानायक के रूप में उपस्थित संजीव आदिवासी अंतर्विरोधों और वर्ग संघर्ष को उजागर करते हैं। वे उस इतिहास को भी खंगालते चलते है, जहाँ आदिवासी औपनिवेशिक ताकतों से किसी प्रकार का समझौता न करते हुए बराबर संघर्षरत् है। आजादी के बाद उनका संघर्ष महाजनों, सेठ-साहूकारों, व्यवस्था और विकास के ठेकेदारों, भ्रष्ट सरकारी अफसरों और नौकरशाही से होता है। भूमंडलीकरण के दौर में यह सिलसिला अनवरत् जारी है।

'पाँव तले की दूब' उपन्यास का शीर्षक अपने आप में पूरी कथा के सार को प्रस्तुत कर देता है। यह दिकूओं और व्यवस्था के पैरों तले कुचली गई आदिवासी अस्मिता और संस्कृति का प्रतीक है। हम जिस सहजता से बिना किसी संकोच और अपराधबोध के उस 'दूब' को रौंद कर निकल जाते है, जो हमारे पैरों को गर्मी में शीतलता और ठंड में गर्माहट देती है। आदिवासियों की स्थिति कुचली हुई दूब के समान है। उक्त उपन्यास झारखंडी आदिवासियों के अस्तित्व और अस्मिता के सवाल को सामने रखता है। उपन्यास का नायक 'सुदीप्त' है, जो मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से संबंध रखता है, वह झारखंड के ऐतिहासिक धनकटनी आंदोलन में हिस्सा लेता है। झारखंडी अस्मिता के लिए अलग से झारखंड़ राज्य

की माँग का वह समर्थन करता है, लेकिन आंदोलन की विफलता और पथ भ्रष्टता के कारण उसका मोहभंग हो जाता है, वह अवसाद और अकेलेपन का शिकार होकर वापिस लौट जाता है। पर नियति एक बार फिर से उसे एनटीपीसी में इंजीनियर की हैसियत से वापिस अपने पुराने कार्यक्षेत्र में भेज देती हैं, जहाँ उसे अहसास होता है कि अब स्थितियाँ और अधिक जटिल हो गई है। जैसे-जैसे आंदोलन कमजोर पड़ता जा रही है, आदिवासियों का शोषण करने वाली ताकतें मजबूत हो रही है। वह प्रतिरोध तो करता है, लेकिन उम्मीद के मुताबिक सफलता नहीं मिलने पर अज्ञातवास में चला जाता है और आत्महत्या कर लेता है। उपन्यास की कथा में दो नायक है- एक सुदीप्त, जिसकी ये कथा है और दूसरा उसका मित्र समीर,जो सुदीप्त की तलाश में पंच पहाड़ आता है, जहाँ उसे अंधेरी गुफा में सुदीप्त के आत्मकथ्य और कंकाल मिलते है।

'पाँव तले की दूब' उपन्यास सुदीप्त के पलायन की कथामात्र ही प्रस्तुत नहीं करता अपितु झारखंड के आदिवासियों की अस्मिता, उनकी पहचान और राष्ट्रीयता के सवालों को सामने रखता है। सुदीप्त खुद इस सच्चाई को स्वीकार करता है-"झारखंड एक शोषित राष्ट्रीयता का सवाल है।"[249] इस राष्ट्रीयता के अपने मूल्य और मान्यतायें हैं, परंपरा और इतिहास है, धार्मिक व्यवस्था और जीवन दर्शन है। यह सब वर्चस्ववादी सत्ता को मंजूर नहीं है, इसलिए वे शोषित होने को मजबूर है। इस शोषण के खिलाफ़ शुरू हुई लड़ाई में आदिवासी अकेले है। यह लड़ाई "आदमी और आदमखोर व्यवस्था के बीच हो जाती है। वह व्यवस्था, जो सत्ता अपने हित में बुनती जा रही है।"[250] झारखंड की इस दमित राष्ट्रीयता का सवाल जीने के अधिकार और संस्कृति के संरक्षण से जुड़ा हुआ है। मुख्यधारा की सभ्यता और संस्कृति के हमले के करण आदिवासी सभ्यता और संस्कृति विकृत होती हुई धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है।

रणेन्द्र : ग्लोबल गाँव के देवता

भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009 ई.) असुर समुदाय के अनवरत् संघर्ष की दास्तान बयां करता है। असुरों की अपराजेय जिजीविषा और वैश्विक लुटेरी शक्तियों की दुरभिसंधियों का हृदयस्पर्शी चित्रण करने वाला सौ पृष्ठों का लघु उपन्यास है 'ग्लोबल गाँव के देवता।' 'आग और धातु की खोज करने वाली कारीगर असुर जाति को सभ्यता, संस्कृति, मिथक और मनुष्यता सबने मारा है। देवराज इन्द्र से लेकर ग्लोबल गाँव की वैश्विक पूँजीवादी ताकतों ने इनका शोषण ही किया है। यह एक ऐसा उपन्यास है जो झारखंड के आदिवासी असुर

[249] संजीव : पांव तले की दूब, 2005, पृ. 88
[250] संजीव : पूर्वोक्त पृ. 106

समुदाय के सदियों पुराने इतिहास, दंतकथाओं, मिथकों और लोकप्रचलित धारणाओं का न केवल खंडन करता है, अपितु समूचे आदिवासी समाज के बारे में फिर से सोचने-विचारने के लिए बाध्य करता है।

असुरों को तथाकथित देव संस्कृति ने प्रताड़ित किया। आज के भूमंडलीकरण के दौर में उन्हें लगातार अपने जल, जंगल, जमीन से खदेड़ने का काम जोर-शोर से चल रहा है, इसके पीछे वैश्विक गाँव के देवताओं यानि बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनके मातहत काम करने वाले सत्ता प्रतिष्ठानों की भूमिका मुख्य है। असुरों पर केन्द्रित होते हुए भी उपन्यास देश-विदेश के उन आदिवासी समुदायों के अतीत और वर्तमान की त्रासदियों का चित्रण करता है जिन्हें 'आँसुओं की पगडंडी' पर चलने के लिए बाध्य किया गया। भारत में शक्तिशाली साम्राज्यों के उदय के पीछे आदिवासी नरसंहार की कहानियाँ जुड़ी हुई है। जयशंकर प्रसाद ने अपने लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट' में लिखा कि "महावीर इन्द्र की विजय ने प्राचीन आर्यावर्त के त्रिसप्तक नद प्रदेश से असुर उपासकों को हटा दिया। इन्द्र ने असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त में साम्राज्य स्थापित किया। संसार में इन्द्र पहले सम्राट थे।"[251] रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' दो बातों पर मुख्य फोकस करता है, पहला आदिवासी जीवन यथार्थ की समग्र प्रस्तुति और दूसरा प्रचलित मिथकों के सन्दर्भ में उनके इतिहास का पुनर्लेखन। उक्त उपन्यास में इतिहास, मिथक और वर्तमान को एक-दूसरे में पिरोने का लेखकीय आग्रह इतना है कि कभी-कभी तो कहानी का क्रम भी भंग होने लगता है और लेखक को खुद कथावाचक के रूप में उपस्थित होना पड़ता है। उपन्यास राष्ट्र-राज्य, वित्तीय पूँजीवाद और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भूमिका को भलिभांति रेखांकित करता है। उपन्यास का अंत बड़े भयावह तरीके से असुरों की हार और ग्लोबल देवताओं की विजय की घोषणा करता है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास की समीक्षा के क्रम में सुंदरम शांडिल्य लिखते हैं कि "रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' झारखंड के आदिवासी असुर समुदाय के अनवरत् जीवन संघर्ष का दस्तावेज है। ...यहाँ सैलानी वृति से उपजी आदिवासी जीवन को सुरक्षित व संरक्षित करने की चिंताएं नहीं, आदिवासियों के ठोस जीवन यथार्थ के बीच से उपजे मानवीय सरोकार है।"[252] वस्तुत: 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में आख्यान और विमर्श को परस्पर गूंथ-रचकर असुर समाज, संस्कृति एवं उनके अस्तित्व और अस्मिता के प्रश्नों को, ऐतिहासिक तथ्यों, मिथकीय वृतांतों और समकालीन

[251] प्रसाद जयशंकर : 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट' निबंध से

[252] सुंदरम् शांडिल्य : आदिवासियों की वेदना और चेतना का नया पाठ (आलेख), वाङ्.मय (त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका), डॉ. एम. फ़ीरोज़ अहमद, आदिवासी विशेषांक-1, जुलाई-2013, पृ. 182

जीवन की घटनाओं के बीच से जिस विवेक एवं कौशल से उठाया है, वह असुरों के जीवन यथार्थ को संपूर्णता में प्रस्तुत करता है।

रणेन्द्र : गायब होता देश

हिन्दी आदिवासी साहित्य के रंगहीन-रिक्त से आकाश में 'बैंजनी रंग' की आभा बिखेरता हुआ 'गायब होता देश' (2014 ई.) रणेन्द्र का दूसरा प्रमुख उपन्यास है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' का अगला पड़ाव। इक्यावन छोटे-छोटे अध्यायों में विभाजित यह उपन्यास विस्थापित होते, टूटते-बिखरते और लगातार गायब होते जा रहे आदिवासी समाज और उसकी समस्याओं की कहानी कहता है। युवा समीक्षक चंदन श्रीवास्तव का मानना है कि-"कथाभूमि और राजनीतिक आग्रह का एका दोनों उपन्यासों में इतना गहरा है कि 'गायब होता देश' को 'ग्लोबल गाँव के देवता' के विस्तार रूप में पढ़ा जा सकता है।"[253] हिन्दी के दारिद्रय समय में 'भूखे का भोजन' और 'अंधे की लाठी' सा यह उपन्यास भूमंडलीकृत राष्ट्र-राज्य के सानिध्य में फलते-फूलते पूँजीवादी बाज़ार के चरित्र को उजागर ही नहीं करता, अपितु आधुनिक राष्ट्र-राज्य की अंतिम पंक्ति में खड़े आदिम आदिवासियों के संकट, संघर्ष, नियति और भविष्य को रेखांकित करता है। इसके लिए रणेन्द्र जो सूत्र प्रयोग में लाते है, उसके अन्तर्गत वे मानते है कि आदिवासी समाजों के संकट का मूल कारण उनकी वह जमीन है, जिस पर वे पीढ़ी दर पीढ़ी रहते आ रहे है। मुनाफाखोर बाहरी 'दिकू' लोग उस पर कब्जा करने के लिए लालायित है। राष्ट्र और राज्य की सरकारें आदिवासी जमीन के बिना विकास का सपना देख पाने में असमर्थ है। विदेशी निवेश को आकर्षित कर विकास का स्वप्न पूरा करने के लिए आदिवासी जमीन का छीना जाना निहायत ही जरूरी राष्ट्रीय धर्म है। खनिज भंडारों से परिपूर्ण, जैविक-वन्य संपदा से भरपूर क्षेत्र में निवास करने वाले मुंडा आदिवासियों के जीवन संघर्ष को उकेरने वाला महत्वपूर्ण उपन्यास है-'गायब होता देश'। कवि-प्राध्यापक अनुज लुगुन उक्त उपन्यास के कथानक पर चर्चा करते हुए लिखते हैं-"पूँजीवादी विकास की दौड़ में शामिल लोग किस तरह घास की तरह एक मानव समुदाय को चरते जा रहे हैं, 'गायब होता देश' इसी की मार्मिक कहानी है।"[254]

उपन्यास की विषय वस्तु को लेकर संजीव लिखते हैं कि-'उपन्यास एंथ्रोपोलोजी के विशाल जलसाघर का कोई रंगीन आख्यान नहीं है, बल्कि मुंडा आदिवासी समाज के संकट, शोषण, लूट, पीड़ा और प्रवंचना का इतिवृत है- किस तरह सोना लेकन दिसुम विकास के नाम पर रियल एस्टेट द्वारा

[253] श्रीवास्तव चंदन : ग्लोबल गांब और गायब होता देश आलेख , तिरछी स्पेलिंग ब्लॉग से

[254] लुगुन अनुज : परख गायब होता देश ns'k https://samalochan.blogspot.com/

ग्लोबल भूमंडलीकृत पतन का शिकार है।"[255] कथाकार संजीव इस उपन्यास को 'जादुई यथार्थवाद' की अभिव्यक्ति मानते है-"जादुई यथार्थवाद को खोजने के लिए लैटिन अमेरिका और स्पेनिश भाषा में भटकने की जरूरत नहीं है। अपना देश और अपने लोग ही पर्याप्त हैं।"[256]

उपन्यास की शुरूआत होती है किशन विद्रोही की कथित हत्या से। कथित इसलिए कि-"न तो कोई चैनल, न कोई अख़बार पूरी गारंटी के साथ यह कहने को तैयार था कि हत्या हुई है। लाश मिली नहीं थी। खून में सना तीर और बिस्तर में जज़्ब खून के गहरे धब्बे यह बताने की कोशिश कर रहे थे, कि हत्या ही हुई होगी।"[257] किशन विद्रोही प्रगतिशील विचारधारा का प्रतिनिधि है। आदिवासियों के प्रति गहरी सहानुभूति रखने वाला ऐसा विद्रोही, कि "जब पूरी जमात चौपाया बनी या पेट के बल रेंगती बाज़ार के नाले में बही जा रही थी, ऐसे मादक समय में भी सर अपनी मुकम्मल रीढ़ के साथ सीधे खड़े थे।"[258] इस हत्या की गुत्थी सुलझाने के क्रम में खोजी पत्रिकारिता के एक अभियान की शुरूआत होती है, प्रशिक्षु पत्रकार राजेश किशन विद्रोही की डायरी, पुराने अख़बार, नोट्स और आदिवासी इलाकों की गहन छानबीन के द्वारा आदिवासी जीवन की मुक्कमल समझी जा सकने वाली झांकी प्रस्तुत करते हैं, जिसमें लेखक 'रणेन्द्र' की चहल-कदमी अनवरत् सुनाई देती है।

रणेन्द्र मानते हैं कि आदिवासी जीवन को बचाने में 'आदिवासी दर्शन' की मुख्य भूमिका होगी। वे यह भी मानकर चलते हैं कि आदिवासी समस्याओं की मूल जड़ गैर आदिवासी समाज और उनकी संस्कृति है। इसलिए आदिवासी दर्शन और इतिहास के लिए वे जादुई लोक 'लेमुरिया' की कहानी रचते है, जिसमें आदिवासी संस्कृति का बड़े भोलेपन के साथ चित्रण किया है- "हमारे पूर्वजों ने हजारों साल पहले यहाँ के जगलों को काट कर खेत बनाए। वस्तियाँ बसाई। क्या यही उनकी गलती थी ? उन्होंने इस धरती मां, पेड़ पौधों की इज्जत की। नदी-झरना को प्यार किया, टुंगरी-पहाड़ को पूजा। क्या यह गलती थी ? उनसे उतना ही लिया जितनी उनकी जरूरत थी।" 'सादा जीवन उच्च विचार' वाला यह दर्शन कहीं-कहीं अतिरेक की सीमा को छूने लगता है।

जब रणेन्द्र मेगालिथों में केन्द्रित धरती के उर्जा केन्द्रों का चित्रण करते हैं तो पाठक का 'सहज सरल ज्ञान' अपनी संकुचित सीमाओं के आधार पर इसे कोरी गप्प मानने की गलती करने लगता हैं। रणेन्द्र इस जादुई लोक के माध्यम से पाठक को विमोहित करने का प्रयास करते हैं। मानव द्वारा खड़ी की गई पहली आदिम संरचना के उदाहरण के रूप में मेगालिथों को केवल मृतकों की मिट्टी ढकने ही

[255] रणेन्द्र : गायब होता देश, 2014, प्राक्कथन से
[256] रणेन्द्र : गायब होता देश, 2014, प्राक्कथन से
[257] रणेन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. सं. 4
[258] रणेन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. सं. 8

नहीं, अपितु समय गणना करने के साथ खगोलीय, ज्योतिषीय, गणितीय, पराभौतिकी के नियमों पर आधारित सिविल इंजीनियरिंग के अद्भुत नमूने के बतौर रणेन्द्र प्रस्तुत करते है। विज्ञान कथाओं के अनुरूप मेगालिथों को धरती के नाभि क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत किया जाना, दो हजार साल से एक ही जगह दफन होते आये मुंडाओं के शवों से विकरित ऊर्जा और सदियों से संचित ज्ञान को क्रिस्टलाइज्ड़ कर प्रयोग किया जाना आदि रणेन्द्र की रोमानियत दृष्टि को उल्लेखित करते हैं।

युवा समीक्षक चंदन श्रीवास्तव को इस उपन्यास में बनावटीपन की झलक नज़र आती है- "आदिवासी जन-जीवन के संघर्ष में ऐतिहासिक निरंतरता दिखाने के लिए जिस जादुई लोक लेमुरिया की रचना करता है, उस लेमुरिया के वासी अपने आचरण में या तो वैदिक ऋषियों की छायाप्रति लगते हैं या फिर देश की आजादी के वक्त मध्यवर्ग की आचार संहिता का एक वाक्य 'सादा जीवन उच्च विचार' के अनुयायी। मध्यवर्गीय राष्ट्र राज्य की सारी चाहनायें यहाँ मौजूद हैं, सादा जीवन उच्च विचार है। संपदा का संरक्षण और संवर्धन है और इन सबसे बढ़कर हैं लेमुरिया का उपयोगितावादी ज्ञान विज्ञान।"[259] 'गायब होता देश' पूरा उपन्यास मेगालिथों-ससनदिरियों के अविश्वसनीय मिथकीय आख्यानों, चमत्कारिक घटनाओं, ग्लोबल चालवाजी में निष्णांत जेम्स मिल और अशोक पोद्दार जैसे मायावी 'करेक्टरों' की घटिया चालें और 'गोदी मीडिया' का पत्रकारिता के आदर्शों को कुचलने वाला चाटुकारितापूर्ण चरित्र इस उपन्यास में कुछ नया जोड़ने का कार्य करते है।

रणेन्द्र के उपन्यासों की विधागत कमजोरियों का उल्लेख करते हुए चंदन श्रीवास्तव लिखते हैं कि- "रणेन्द्र संबंधी तमाम चर्चाओं में जो बातें सिरे से गायब दिखती है वे हैं, उपन्यास की बुनावट, आख्यान का निर्वाह और कहानीपन। उपन्यासकार जितनी मेहनत अपने लिपिक व्यक्तित्व से करवाता है, उसका दसवाँ हिस्सा भी कथा गढ़ने में मदद करने वाली कल्पना के तंतुओं से नहीं करवा पाता है। उपन्यास आदिवासी जनजीवन के बारे में कुछ भी ऐसा नहीं बता पाता, जो खनन, भूमि अधिग्रहण या फिर मानवाधिकारों के मुद्दे पर सक्रिय स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रकाशनों अथवा आंदोलनधर्मी अखबारों / पत्रिकाओं में ना मिलता हो। 'ग्लोबल गाँव के देवता' या फिर 'गायब होता देश' नाम के उपन्यास में जो वे अंटा पाये है वह आदिवासी समाज की समस्याओं की जटिलता नहीं, बल्कि उसकी एक सरलीकृत झांकी भर है, ऐसी झांकी जो कहीं अर्जी, कहीं प्रवचन तो कहीं सपाट फैसले पर आकर रूक जाती है।"[260]

महुआ माजी : मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ

[259] श्रीवास्तव चंदन : ग्लोबल गांब और गायब होता देश आलेख , तिरछी स्पेलिंग ब्लॉग से

[260] श्रीवास्तव चंदन : ग्लोबल गांब और गायब होता देश आलेख , तिरछी स्पेलिंग ब्लॉग से

'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' महुआ माजी द्वारा लिखित 33 खंडों में विभाजित विस्तृत रचना है। 'पत्थरों का डॉक्टर' से लेकर 'उस बूंद में ब्रह्मण्ड है' तक फैले वृहद कलेवर में यह उपन्यास विकिरण, विस्थापन और प्रदूषण की कहानी कहता है। 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास का शीर्षक अपने आप में एक कहानी है। हिन्दू मिथकों में प्रचलित समुद्र मंथन की कहानी के अनुसार देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्री रत्नों को निकालने की योजना बनाई। इसमें हलाहल विष यानि कालकूट भी शामिल था जिसे किसी ने स्वीकार नहीं किया, आखिर भगवान शंकर ने उस विष का आचमन कर उसे गले में धारण कर लिया। इससे भगवान शिव का कंठ नीला पड़ गया, जिसके कारण उन्हें 'नीलकंठ' की उपाधि मिली। दूसरी बात यह कि भगवान शिव 'आदिदेव' है और आदिवासी भी भारत भूमि के आदि निवासी है। इसलिए भगवान शिव का संबंध भी आदिवासियों से जोड़ा जाता है। उपन्यास में वर्णित मरंग गोड़ा झारखंड का जादूगोड़ा है, यहाँ की जमीन यूरेनियम उगलती है, जिससे न केवल आधुनिक बिजली संयंत्र चलते है, अपितु परमाणु बम भी बनाये जाते है। देश के विकास में इसकी उपयोगिता और मरंगगोडा के निवासियों की दुर्दशा इस उपन्यास के शीर्षक को बहुत सारपूर्ण बनाती है।

'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास इस बात को रेखांकित करता है कि 'विकास' जहाँ 'सभ्य' लोगों के लिए वरदान है, उनकी उन्नति का प्रतीक है, वहीं वह आदिवासियों के लिए किसी अभिशाप से कम नहीं है। मरंग गोड़ा देश के विकास की खातिर यूरेनियम और लौह अयस्क खदानों से निकलने वाले प्रदूषण और विकिरण को अपने में समाहित कर खुद नीलकंठ बन गया है। लेकिन जिनके लिए वह ये सब झेल रहा है उनके मन में न तो किसी तरह का कोई अपराधबोध है और न ही किसी तरह की कृतज्ञता का भाव। यही सबसे बड़ी विडंबना है। इसके पहले अध्याय 'पत्थरों का डॉक्टर' की शुरूआत इस उपन्यास के केन्द्रीय पात्र 'सगेन' के ततंग (दादा) की इच्छा से होती है, जो अपनी आर्थिक तंगी के बावजूद सगेन को पढ़ना चाहता है। जहाँ वह न केवल पत्थरों का डॉक्टर बनता है अपितु हो आदिवासी समुदाय की संस्कृति, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और पर्यावरणीय समस्याओं से रू-ब-रू होता है। उपन्यास सरकारी वन नीति की आलोचना करता है, जिसके तहत आर्थिक मुनाफे को ध्यान में रखकर आदिवासी आजीविका के सवालों को ठुकरा दिया गया। आदिवासी समाज की आंतरिक समस्याओं यथा-डायनमारी, महिला उत्तराधिकार, वधू मूल्य की परंपरा आदि पर प्रहार करता है।

उपन्यास लेखिका महुआ माजी प्राचीन मिथकों के सहारे 'हो' आदिवासियों को असुरों द्वारा पीड़ित अस्मिता बताती है-"हां, तो उन दिनों वे (असुर) उन इलाकों के हरे-भरे जंगल के पेड़-पौधों को काटकर लोहे की भट्ठी में झोंका करते। धीरे-धीरे बड़ी संख्या में जंगल के पेड़-पौधे नष्ट होने लगे। धुंए से होने वाले प्रदूषण के कारण जीव जंतुओं का नाश होने लगा। सभी प्राणी परेशान होने लगे।

सिंगबोंगा से प्रार्थना करने लगे कि वे उनकी रक्षा करें।"[261] इस प्रकार लेखिका ने 'हो' आदिवासियों की उपस्थिति में अन्य सभी आदिवासियों को आक्रान्ता साबित कर दिया। इतना ही नहीं उन्होंने हड़प्पा और मोहनजोदड़ों की सभ्यता और 'हो' आदिवासियों के बीच एक लिंक भी खोज निकाला, यह लेखिका का अतिरिक्त प्रेम है। उपन्यासकार विकिरण और प्रदूषण की समस्याओं का चित्रण करते हुए जापानी परमाणु वैज्ञानिक प्रो. वोयदे के माध्यम से उसकी भयावहता रेखांकित करती है। वह दुनिया की उन तमाम घटनाओं का ब्यौरा देती है, जो परमाणु रेडियोधर्मी पदार्थों के रिसाव से हुई।

'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' उपन्यास के अंत में 'सगेन' की एक चिट्ठी उपन्यास की मुख्य चिंता को व्यक्त करने के साथ उसका हल भी प्रस्तुत करती है-"तुम विकसित लोगों के पास आज बेशक विकास के उन्नत मॉडल है, मगर हमें पूरा यकीं है कि विकास का आदिवासी मॉडल ही इस धरती को, समस्त प्राणियों को बचा सकता है, वरना इस धरती पर हिमयुग आने में देर नहीं लगेगी। आओ दोस्तो! आज इस संकट की घड़ी में हम सब मिलकर विकिरण के खिलाफ़ आवाज उठाने का, अपनी धरती बचाने का संकल्प ले... ।"[262] विकास का आदिवासी मॉडल क्या है इसका उपन्यास कोई संकेत नहीं देता। उपन्यास परमाणु रेडियो एक्टिव समस्या का जो निदान प्रस्तुत करता है, वह इस उपन्यास की बीज वाक्य है-"यूरेनियम को इस धरती के भीतर ही पड़े रहने दो। उसे मत छेड़ो, वरना सांप की तरह हम सबको डस लेगा।"[263]

विनोद कुमार : रेड जोन

विनोद कुमार का उपन्यास 'रेड जोन' उनके पहले उपन्यास 'समर शेष है' की अगली कड़ी है। झारखंड आंदोलन के लीडर 'शिबू सोरेन' की ईमानदार और लड़ाकू छवि के निस्तेज होते जाने के साथ नक्सलवाद (माओवाद) के उदय और प्रजातंत्र के चौथे स्तंभ यानि मीडिया के ग्लैमर की हकीकत बयां करता है। लोकतंत्र के भीड़तंत्र में बदलने और क्रूर होते जाने के बीच तानाशाही सत्ता का मुकावला करती असंगठित जनता की बेचारगी एवं जन संघर्षों की परंपरा से हटकर सशस्त्र क्रान्ति का परचम लहराते माओवादियों का यथार्थ चित्रण इस उपन्यास का मुख्य कथानक है। यह आज के दौर का विरोधाभास है कि सत्ता की क्रूरता को नजरंदाज कर गांधी मुस्कराते हुए उनकी दीवारों पर टंगे हुए है, जबकि अहिंसा के पैरोकार अपनी दीवारों पर भगतसिह, चंद्रशेखर आजाद और सुभाष चंद्र बोस को लगाये हुए है।

---

[261] माजी महुआ : मारंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. सं. 129

[262] माजी महुआ : पूर्वोक्त, पृ. सं. 402

[263] माजी महुआ : पूर्वोक्त, पृ. सं. 402

उपन्यास की कहानी में मुख्य नायिका 'दुर्गा' अपने भाई के साथ लौह कारखाने से सटे एक अधिग्रहित गाँव में रहती है। दुर्गा का भाई रोजी-रोटी के लिए कोयला बीनकर अवैध रूप से बेचता है। उसकी अनुपस्थिति में एक दिन गुरूजी की पार्टी 'मुक्ति मोर्चा' का कार्यकर्ता और व्यापारी 'तेजसिंह' 'दुर्गा' के घर में बुरी नीयत से घुस जाता है। दुर्गा अपने सिरहाने पर रखे हशिया से उसकी गर्दन काटकर थाने में उपस्थित हो जाती है, जहाँ थानेदार भी तेजसिंह की तरह उसे शिकार बनाना चाहता है। दुर्गा उसी की रिवाल्वर छीनकर अपने आपको बचाती है और पहाड़ी जंगल में कूद जाती है। यह वही जंगल है जिसमें वह लकड़ी काटने के दौरान माओवादी कमांडर किनी चटर्जी के साथ भेंट कर चुकी थी। अहिंसा की पैरवी करने के साथ नक्सली हिंसा और प्रतिहिंसा को नकारने वाला यह उपन्यास बहुत से प्रश्नों को रेखांकित करता है। पुलिस प्रशासन की लापरवाही, हिंसा और क्रूरता, नक्सलियों की जनताना सरकार का लोकतंत्र, पुलिस समर्थित प्रतिहिंसा और उसकी राजनीति, नक्सलवाद से मोहभंग की स्थिति, नक्सलवादी विचारधाराओं का अंतर, बंधुआ मजदूरी और शोषण आदि इस उपन्यास के कथ्य है।

उपन्यास की विस्तृत समीक्षा करते हुए नारायण सिंह ने अपने आलेख 'रेड जोन' के बहाने सुन मेरे बंधु रे' में लिखा है कि -"वस्तुत: 'रेड जोन' झारखंड में औद्योगिकीकरण के बाद हुए विस्थापन, पुनर्वास संबंधी गलत नीतियों के दुष्परिणाम, उद्योगों में स्थानीय लोगों की उपेक्षा, सत्ता-पुलिस व राजनीति के अपवित्र गठबंधन, झारखंड और झारखंडी समाज के हित के लिए लड़ने वालों के वर्तमान विचलन की गहन और निष्पक्ष समीक्षा करता है। 'रेड जोन' तथाकथित नक्सलपंथ की कमियों और विरोधाभास को उजागर करते हुए और उसके विकल्प में अहिंसात्मक आंदोलन और उसमें सम्पूर्ण जनता की भागीदारी की अनिवार्यता को रेखांकित करता है। यह मीडिया की व्यावसायिकता और पतनशीलता की पोल खोलता हुआ भविष्य में इसके और भी पतित होने की भविष्यवाणी करता सा लगता है।"[264]

विनोद कुमार का उपन्यास 'रेड जोन' माओवादी और आदिवासी दर्शन के फ़र्क को बड़ी बारीकी से उजागर करता है। उपन्यास की नायिका 'दुर्गा' माओवादियों के साथ लम्बा समय गुजारती है, वह अपनी साथी 'फूलमणी' के प्रेमी की हत्या से आहत और विचलित है। यह हत्या माओवादी विचारधारा के खिलाफ़ पाए जाने पर खुद उनके साथियों ने की थी। दुर्गा अपनी लीडर किनी चटर्जी से जब इस पर सवाल खड़ा करती है तो वह 'दुर्गा' से कहती है कि 'तुम केवल क्रांति की वाहक हो,

[264] सिंह नारायण : 'रेड जोन' के बहाने सुन मेरे बंधु रे' आलेख
http://narainsinghhindiauthor.blogspot.com/2017/11/blog-post.html

आदेश पालन करना तुम्हारा काम है', इस पर दुर्गा भड़क जाती है। वह बताती है कि 'हमारे आदिवासी समाज में ऐसा नहीं होता। हम तो सभी फैसले मिल जुलकर 'अखड़ा' में लेते है। लड़ें-मरें हम और निर्णय कोई और ले। हमारें यहाँ ऐसा नहीं होता।' दुर्गा जब माओवादियों से अलग होने का मन बना लेती है तो उसे सेंट्रल कमेटी के आदेश का हवाला दिया जाता है। यहाँ दुर्गा की वैचारिक कशमकश के माध्यम से आदिवासी दर्शन को रेखांकित किया है- "...और यह सेंट्रल कमेटी क्या बला है ? किसकी बात करते है किनी। किसकी दुहाई देते हैं ? ये अदृश्य चेहरे उसके जीवन के नियामक कब से बन गए ? उसने उन्हें यह अधिकार कब दिया कि वे उनके जीवन की हर छोटी-बड़ी बात में हस्तक्षेप करें ? उसे याद आया कि विस्थापितों के रोजगार और पुनर्वास की मांग को लेकर उसके भाई ने लम्बा आन्दोलन चलाया था, लेकिन सारे फैंसले बस्ती के आँगन में बैठकर , सभी मिलजुल कर लेते थे...लेकिन यहाँ तो बस आदेश आता है और ये निकल पड़ते हैं मरने-मारने के लिए ...नहीं, नहीं, वह नहीं रहेगी यहाँ...।[265]

उपन्यास कई जगह यह साबित करता है कि वामपंथी विचारधारा या माओवादीयों ने आदिवासी जीवन दर्शन को सही तरह से नहीं समझा है। फूलमणि के प्रेमी बलराम की हत्या इसलिए होती है, कि वह अपनी गर्भवती प्रेमिका को डर के कारण छोड़कर भाग जाता है। दुर्गा माओवादियों के इस व्यव्हार को समझने में असमर्थ है – किनी चटर्जी फूलमणि की तुलना झूठे कुल्हड़ से करती है, माओवादी यह समझने में समर्थ नहीं है कि 'फूलमणि ने प्रेम किया है ,कोई प्यास लगने पर ग्लास से पानी नहीं पिया है ।' किनी चटर्जी का नक्सल साथी बंगालियों की परंपरा के अनुसार 'दुर्गा' को महिषासुर-मर्दनी के नाम से संबोधित करता हुआ बार-बार माँ कहता है। एक जगह 'गुरूजी' के साथ उपन्यास नायक मानव आदिवासी परंपरा के अनुसार पैर धुलवाने से इंकार कर देता है, वह इस परंपरा को गलत मानता है। झारखण्ड के मुख्यमंत्री रहे रघुवर दास के स्वागत में आदिवासी स्त्री द्वारा पैर पखारने की परंपरा का सीपीएम नेता वृंदा करात आलोचना करती है,यह एक तरह से वामपंथी विचारधारा या गैर आदिवासियों की आदिवासी परम्पराओं के प्रति नासमझी ही है।

विनोद कुमार का उपन्यास 'रेड जोन' सिर्फ़ नक्सली हिंसा प्रभावित रेड जोन की बात नहीं करता है, अपितु झारखण्ड राज्य के बनने के क्रम में वहां की सामजिक हलचलों का दस्तावेज है। लेखक के अनुसार-"सच का पूरा देखना तो कठिन है ही , लिखना और भी ज्यादा कठिन। कुछ यथार्थ और कल्पनाओं को जोड़कर यह रचना बनी है। मौजूदा राजनीति, राजनेताओं, पत्रकारों के ब्योरे में यथार्थ का अंश ज्यादा है। झारखण्ड को लाल रंग देती भूमिगत गतिविधियों और प्रवर्तियों में कल्पना का अंश

[265] विनोद कुमार : रेड जोन, 2020. पृ. सं. 338

ज्यादा ।"[266] उपन्यास का मूल सवाल है –'...अब देखिए न, इस लौह कारखाना के चलते औद्योगिक शहर के रूप में झारखण्ड में सम्रद्धि का एक द्वीप जरुर बन गया है , लेकिन यहाँ के आदिवासियों और मूलवासियों को क्या मिला ?' पुस्तक के फ्लेप पर हिंदी के कई जाने पहचाने लोगों के नाम है, जो इस उपन्यास के बारे में अपनी राय व्यक्त करते है। माले विधायक विनोद सिंह के अनुसार इस उपन्यास की खासियत यह है कि-'झारखण्ड में जन्म ले रही तीन विभिन्न राजनितिक धाराओं व उनके नायकों की बख़ूबी पड़ताल इस उपन्यास में की है।' केदार प्रसाद मीना इसे समर शेष है उपन्यास का अगला पड़ाव मानते हैं वहीं शिशिर टुडू और रोज केरकट्टा इस उपन्यास को माओवादी और आदिवासी दर्शन की परख करने वाला उपन्यास मानते है। कवि पत्रकार धर्मेन्द्र सुशांत इस उपन्यास पर टिप्पणी करते हुए लिखते है कि "रेड जोन झारखण्ड के आदिवासियों की संघर्षगाथा की मार्मिक गवाही है। यह उस शासन सत्ता के खिलाफ़ एक अभियोग है जो विकास के बहाने करोड़ों –करोड़ जनों को उनकी जमीन से उजाड़ देता है। यह उस राजनीती के खिलाफ़ एक सवाल भी है जो जनसामान्य के बूते खड़ी होती है ,मगर उसी का गला दबाने लगती है।"[267] प्रोफ़ेसर वीरभारत तलवार लिखते हैं कि 'आदिवासियों के सवालों में रूचि रखने वाले हर जागरूक व्यक्ति को यह उपन्यास पढ़ना चाहिए।[268]

3.4.2 विवेच्य उपन्यासों में आदिवासियों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

भारत की कुल आबादी में 8.6 प्रतिशत भाग आदिवासियों का है। इस समुदाय का अधिकांश भाग आज भी मुख्यधारा से अलग घने जंगलों और पहाड़ी क्षेत्रों में जीवन गुजार रहा है। आदिवासी समाज मुख्यधारा से भिन्न समाज है, जिसकी अपनी परंपरा और रीति-रिवाज़ है। आज भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने परंपरागत आदिवासी जीवन शैली में हस्तक्षेप कर उसे और दुरूह बना दिया है। वेरियर ऐल्विन आदिवासियों की नृजातीय सांस्कृतिक विशेषताओं को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्हें अपने हाल पर छोड़ देने का सुझाब देते हैं -"यदि आदिवासियों को बचाना है तो इनके रहनवास और पारिस्थितिकी को उन्हीं के अनुसार छोड़ दिया जाये, उन पर बाहरी हस्तक्षेप कम किया जाए।" पर नेहरूजी इस तर्क से सहमत नहीं थे। वे आदिवासियों को उनकी श्रेष्ठ परंपराओं के साथ मुख्यधारा के विकास से वंचित नहीं करना चाहते थे। वर्तमान भूमंडलीकरण ने 'विकास' की वह 'आँधी' चलाई कि आदिवासी अपने समूल के साथ उजड़ते जा रहे है । आदिवासियों पर भूमंडलीकरण के प्रभावों का सम्यक् मूल्यांकन उनके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय परिस्थितियों के आलोक में किया जा सकता है।

---

[266] विनोद कुमार : रेड जोन, 2020. दो शब्द

[267] विनोद कुमार : रेड जोन, 2020. पुस्तक के फ्लेप से

[268] विनोद कुमार : रेड जोन, 2020. पुस्तक के फ्लेप से

3.4.2.1 भूमंडलीकरण और आदिवासी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था

वर्तमान भूमंडलीकरण के दौर में मुख्यधारा की सामाजिक संरचना, जो कि वर्णव्यवस्था और जाति प्रथा की 'हेरारकी' पर टिकी हुई है, वह आदिवासियों के बीच अपनी जड़ें जमा रही है। भारत को बहुलतावादी और बहुधर्मी देश से 'हिंदू राष्ट्र' में बदलने को बेताब ताकतें आदिवासियों को हिन्दू बनाने के कार्य में जोर शोर से लगी है। प्रो. वीरभारत तलवार इसे आदिवासी संस्कृति के विकास में बाधक मानते है, वे इसके खतरे को भलिभांति समझते है- "आज झारखंडी संस्कृति के विकास की राह में सामाजिक दृष्टि से सबसे बड़ी बाधा ब्राह्मणवाद है। यह न केवल विकास की राह में सबसे बड़ी बाधा है, बल्कि झारखंड की विभिन्न जातियों की जातीय पहचान को तोड़ने और विकृत करने तथा यहाँ की जातीय संस्कृति के महान जनतांत्रिक मूल्यों को नष्ट करने की मुख्य जिम्मेदारी भी इसी ब्राह्मणवाद पर है। झारखंडी संस्कृति और ब्राह्मणवादी संस्कृति बुनियादी तौर पर एक-दूसरे की विरोधी है। झारखंडी संस्कृति बुनियादी तौर पर समाज के सभी सदस्यों की समानता पर, जनतांत्रिक मूल्यों पर आधारित संस्कृति रही है, जबकि ब्राह्मणवादी संस्कृति बुनियादी तौर पर मनुष्यों की सामाजिक समानता की विरोधी, जनतंत्र विरोधी संस्कृति रही है। झारखंडी संस्कृति शोषितों की संस्कृति है, जबकि ब्राह्मणवादी संस्कृति शोषकों की संस्कृति है।"[269]

आदिवासी समुदायों के स्वभाव और चरित्र पर इस ब्राह्मणवादी संस्कृति का प्रभाव दिखने लगा है। 'गायब होता देश' उपन्यास में रणेन्द्र यह दिखाने का प्रयास करते है कि आदिवासी अलग-अलग पहचान में बंटे हुए है, इसलिए उनका संघर्ष भी टुकड़ों में बंटा हुआ है-"अब सौंसार आदिवासी हैं तो का, वीरेन तो मुंडा है, हम संताल हैं, उरांव हैं, खड़िया हैं, खेरवार हैं, लोहरा हैं, हम काहे उसको लीडर मानें। हम सौंसार हैं, तो मिशन लोग के साथ नयं बैठेंगे। आदिवासिये हैं तो का हुआ, धरम-करम भी कोई चीज है कि नयं ?"[270]आदिवासी संस्कृति के स्वभाव के विपरीत आदिवासियों में दलाली और बिकाऊ प्रवृति का पनपना इसी से प्रेरित है।उपन्यास की पात्र शीला केरकट्टा इस प्रवृति का प्रतिनिधित्व करती है। उसके अंदर आदिवासी अस्मिता को घृणित समझकर छोड़ने और मुख्यधारा की प्रवृति को स्वीकारने का मोह इतना तीव्र है कि वह अपनी भाव भंगिमा में उसे पूर्णतया उतार लेती है।

आज आदिवासी समुदायों में जातितंत्र विकसित होकर उनके जनतंत्र को खत्म कर रहा है। ऊंच-नीच की भावना घर कर रही है, महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में गिरावट देखी जा सकती है। आदिवासियों का यह संघर्ष अन्य छोटी समझी जाने वाली जातियों का भी साझा संघर्ष है,

[269] तलवार वीरभारत : झारखंड के आदिवासियों के बीच : एक एक्टिविस्ट के नोट्स, 2008, पृ. 210
[270] रणेन्द्र : गायब हाता देश, 2014, पृ. सं.

पर हालात दोनों जगह एक सी है-"सदान लोगों का तो और भी दिक्कत, हम ऊंच जात हैं तो ऊ छोट जात है। हम साहू हैं, महतो हैं, चंद्रवंशी क्षत्रिय हैं, तो कुम्हार पंडित हैं, हम रैदास और पासवान के साथ बैठेंगे? ऊ मेहतर लोग कैसे आ गया बैठकी में ? ई आदिवासी छौड़ा-कोल धांगड़, ई का खाके नेतागिरी करेगा ।"[271] यहाँ रणेन्द्र एक ही धरातल पर स्थित आदिवासी के साथ गैर-आदिवासी समाज को ही जोड़कर नहीं देखते, अपितु उनके अंतर्विरोधों को भी उजागर करते है।

रणेन्द्र अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में मिथकों, लोक-श्रुतियों, लोक कथाओं-गाथाओं-गीतों के माध्यम से असुरों का मुकम्मल इतिहास गढ़ने की सार्थक कोशिश करते है । वे भारतीय असुरों को अमेरिकन रेड इंडियंस के साथ जोड़कर देखते है और दोनों की प्रकृति एवं इतिहास में मूलभूत समानताऐं खोजने का प्रयास करते है । इस तुलना में भारतीय आदिवासियों की दशा को ज्यादा दयनीय मानते है । वे लिखते हैं-"यह उनकी उदारता है कि इंका, माया, एज्टैक एवं अन्य रेड इंडियन्स से संबंधित ढेर-ढेर साहित्य, ढेर सारे अजायबघर वहाँ मौजूद हैं । छाती ठोंक-ठोंककर अपने को अत्यंत सहिष्णु और उदार कहने वाली हिंदुस्तानी संस्कृति ने असुरों के लिए इतनी भी जगह नहीं छोड़ी थी । वे उनके लिए बस मिथकों में शेष थे । कोई साहित्य नहीं, कोई इतिहास नहीं, कोई अजायबघर नहीं। विनाश की कहानियों के कोई संकेत मात्र भी नहीं ।"[272]

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में असुरों के बारे में मूलधारा की समझ को मास्टर के इस कथन से उजागर किया है-"सुना तो यह था कि यह इलाका असुरों का है, किंतु असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लंबे-चौड़े, काले-कलूटे, भयानक दांत-वांत निकले हुए, माथे पर सींग-वींग निकले हुए लोग होंगे, लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पलट हो गया था। बचपन की सारी कहानियां उलटी घूम रही थी ।" हालांकि ऐसे किसी मानव या दानव की खोज विज्ञान ने भी दर्ज़ नहीं की जिसके माथे पर सींग हो, पर यही हिन्दू मुख्यधारा की आम समझ है जिससे लेखक पाठक को अवगत कराता है। साहित्यालोचक मैनेजर पाण्डेय मिथकों और प्राचीन साहित्य में पेश की गई असुरों की कुरूप छवि और दानवीकरण के पीछे अंतर्निहित राजनीति को उजागर करते हुए लिखते हैं- 'वैदिक साहित्य से शुरू होकर रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराणों में निर्मित असुरों की यह छवि एक ओर उनके समुदाय और जीवन के दानवीकरण और दूसरी ओर उनके जीवन के यथार्थ के मिथकीकरण का परिणाम है। प्रभुत्वशाली सत्ताएं जिनका विनाश करना चाहती हैं, उनका पहले दानवीकरण करती हैं, फिर उन पर

[271] रणेन्द्र : गायब हाता देश, 2014, पृ. सं. 215

[272] रणेन्द्र : ग्लोबल गांव के देवता, 2009, पृ. सं.

हमला करती है और बाद में उनकी जमीन तथा जीवन पर कब्जा करती हैं। भारत में यह प्रक्रिया वैदिक काल से लेकर आज तक चल रही है।"[273]

रणेन्द्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के भूमंडलीकरण के दौर में खत्म हो जाने को रेखांकित किया है। उपन्यासकार लिखते हैं-"जो लड़ाई वैदिक युग में शुरू हुई थी, हजार-हजार इन्द्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुकाम पा लिया है। असुर-बिरिजिया, बिरहोर-कोरवा आदि आदिवासी मुख्यधारा में शामिल होने वाले है।"[274]

संजीव का उपन्यास 'पाँव तले की दूब' भूमंडलीकरण के प्रारंभिक दौर का उपन्यास है। उक्त उपन्यास झारखंड राज्य बनने से पहले की समस्याओं का चित्रण करता है, जो आज भी जस की तस है। उपन्यास के नायक सुदीप्त को जिस बात की चिंता है वह है-"यह अस्मिता जिसे तुम प्यार करते थे, वह प्रतिगामी शक्तियों की रखैल न बन जाए- यही तुम्हारे आघात का केन्द्रीय बिंदु है न ?"[275] झारखंडी अस्मिता की दलाली के साथ कोर्पोरेट्स की लूट का नंगा नाच आज के झारखंड की हकीकत है। आदिवासियों के जल जंगल और जमीन सत्ता के ठेकेदारों द्वारा बहुराष्ट्रीय कंपनियों को कौड़ियों के भाव लुटाये जा रहे है। ऐसे में आदिवासियों के पास दो ही विकल्प है-या तो वे खत्म हो जाएं या फिर दिकूओं की वर्चस्ववादी शोषक सभ्यता और संस्कृति को आत्मसात् करते हुए उसके निचले पायदानों पर अपने आप को 'एडजस्ट' कर लें। संजीव अपने उपन्यास में अन्याय और शोषण के खिलाफ़ आदिवासियों को अनवरत् संघर्ष करने की सीख देते हैं, तभी दुखों के पहाड़ को हटाया जा सकता है- "आप हटा सकते हैं-लगातार कोशिश से। खोदते-खोदते एक पीढ़ी बरबाद हो सकती है, दूसरी भी, हो सकता है तीसरी भी... लेकिन पहाड़ हट कर रहेगा, अगर खोदना जारी रहा तो....।"[276]

सामाजिक परंपरा और रीति-रिवाजों में बदलाव

संजीव का 'पाँव तले की दूब' उपन्यास आदिवासी समाज की आंतरिक समस्याओं की बारीकी से पड़ताल करता है। आदिवासी समाज की कुरीतियों, जैसे-डायन प्रथा, झाड़फूंक और शराबखोरी पर संजीव ने सख़्त टिप्पणियां की है। आदिवासी समुदायों की इन कुरीतियों को मिटाने के लिए ईमानदारी पूर्वक काम करना होगा, न कि इनके नाम पर ब्राह्मणवादी रूढ़ियों और अंधविश्वासों को आदिवासियों

[273] पाण्डेय मैनेजर : यथार्थ से मिथक बनते एक समुदाय की व्यथा कथा, नया ज्ञानोदय, अंक-85, मार्च 2010, पृ. 13
[274] रणेन्द्र : ग्लोबल गांव के देवता, 2009, पृ. सं. 14
[275] संजीव : पांव तले की दूब, 2005, पृ. सं. 148
[276] संजीव : पूर्वोक्त, पृ. सं. 81

पर लाद दिया जाये। उपन्यासकार सिर्फ़ आदिवासियों के अंधविश्वास और रूढ़ियों का ही जिक्र नहीं करता, वह गैर आदिवासियों में भी इस प्रवृति को रेखांकित करते हैं-"ये साले साइन्स और तक्नोलॉजी की उच्च शिक्षा प्राप्त आधुनिक होने का दंभ पाले हुए लोग हैं और करवा रहे है मुंडन-छेदन! यू नो, ये कितने गलत संस्कार है जातिवाद, पुरोहिती, कर्मकांड, अंधविश्वास, दहेज-सब सालों में समाया हुआ है और मॉडर्न बंबईया कल्चर का कॉकटेल भी।"[277] संजीव ने इसके माध्यम से यह जताने का प्रयास किया है कि अंधविश्वास सिर्फ़ आदिवासियों में ही नहीं है, लेकिन आलोचना सिर्फ़ आदिवासियों की होती है।

आदिवासियों को अंधविश्वास और झाड़ फूंक के दलदल में धकेलने के लिए व्यवस्था भी उतनी जिम्मेदार है। 'पाँव तले की दूब' उपन्यास का नायक मौका पड़ने पर आदिवासियों को जागृत करते हैं उपन्यास का पात्र 'किस्सू' जब सब समस्याओं को मंत्र से हल करने का दावा करता है तो संजीव उसे समझाते हुए कहते हैं-सोचो,अगर इस तंत्र-मंत्र में इतनी ताकत होती तो तुम्हारे गुरू अब तक जेल में क्यों सड़ रहे होते।"[278] उपन्यासकार दिखाता है कि अगर कोई आदिवासी अस्पतालों का रूख करें भी तो एक तो अस्पताल की दूरी उन्हें तोड़ देती है, दूसरे इस बात की भी कोई गारंटी नहीं कि डॉक्टर वहाँ उपलब्ध होगा और अगर डॉक्टर मिल भी गया तो वह कोई न कोई बहाना करके उन्हें भगा देते है। सुदीप्त माझी हड़ाम से अपनी बेटी को इलाज के लिए अस्पताल ले जाने की बात कहता है तो वह पूरे तंत्र की ही पोल खोल देता है-"हुआँ कौन सुनता ? ले गए थे। डांट के भगा दिया डागडर। तब से झड़ाई-फँकाई होता है।"[279]

आदिवासी आर्थिक रूप से इस देश के सबसे पिछड़े समुदायों में शामिल है। इनके पिछड़ेपन का मुख्य कारण इनमें व्याप्त अंधविश्वास, धार्मिक रूढ़ियां, परंपराए अशिक्षा और शराबी प्रवृति आदि है। संजीव आदिवासियों की इन कमजोर परतों को उघाड़कर रख देते हैं। उपन्यास नायक सुदीप्त अपने मित्र समीर को आदिवासियों की इस हालत के जिम्मेदार कुछ कारणों से अवगत कराता है-"आदिवासी लोगों की दो कमजोर नसें हैं-अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता। अरण्यमुखी संस्कृति उन्हें सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती और उत्सवधर्मिता इन्हें कंगाल बनाती रहती है। हडिया और दारू ये पियेंगे ही और हर उत्सव को मस्त होकर मनाएँगे।"[280]

आदिवासी महिलाओं का शोषण और प्रतिरोध

[277] संजीव : पूर्वोक्त, पृ. सं. 41-42
[278] संजीव : पूर्वोक्त 2013, पृ. सं. 33
[279] संजीव : पूर्वोक्त, 2013, पृ. सं. 66
[280] संजीव : पूर्वोक्त, 2013, पृ. 14

भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासियों की परंपरागत आर्थिक संरचना ध्वस्त होने से आदिवासी महिलाओं को काम की तलाश में बाहर निकलना पड़ता है, जहाँ उनके श्रम का ही नहीं देह शोषण का भी शिकार होना पड़ता है। सरकारी-गैर सरकारी खनन कंपनियों का मैनेजमेंट और उनमें काम करने वाले अधिकारी-कर्मचारियों का वर्ग कैसे आदिवासी स्त्रियों का दैहिक शोषण करता है, उसका चित्रण रणेन्द्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में है। रणेन्द्र लिखते हैं-"पाट के दो दर्ज़न से ज्यादा खदानों के मेठ-मुंशी सब बाहर वाले थे। किसी ने परिवार नहीं रखा था। सबको डेरा में काम करने के लिए असुर लड़कियां ही चाहिए थी। क्यों चाहिए यह बताने की जरूरत थोड़े है!"[281] कहीं-कहीं लेखकीय संवेदना की जगह चटकारे की प्रवृति भी इस उपन्यास में देखने को मिलती है-"असुरों को जिन से लड़ना है,उस कंपनी के प्रबंधक है-किशन कन्हैया पांडे। पांडे पचास के पार होने पर भी कुंवारे हैं।...ग्रामीण युवतियाँ इफरात में हैं। जहाँ कहीं अक्षत यौवना मिलती, वे बड़े मनोयोग से तंत्र साधना में डूब जाते। कभी-कभी तो सारी रात घनघोर साधना चलती रहती। कहते हैं कि इन्हीं साधनाओं को साधकर उन्होंने सम्मोहन विद्या प्राप्त की थी। एक बार जो उनसे मिलता, वह उन्हीं का होकर रह जाता।"[282]

रणेन्द्र अपने उपन्यास में आदिवासी स्त्रियों की बहादुरी और नेतृत्वकारी भूमिका के प्रति सम्मान भी व्यक्त करते हैं। आदिवासियों की लड़ाई धरती को बचाने की है और धरती को बचाने के लिए धरती की बेटियां किसी भी बलिदान से पीछे नहीं हटती-"धरती भी स्त्री, प्रकृति भी स्त्री, सरना माई भी स्त्री और उसके लिए लड़ाई लड़ती सत्यभामा, इरोम शर्मिला, सी. के. जानू, सुरेखा दलबी और यहाँ पाट में बुधनी दी और सहिया ललिता भी स्त्री। शायद स्त्री ही स्त्री की व्यथा को समझती है।"[283] भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी स्त्री अपने समुदाय के पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़ रही है।

उपन्यास 'रेड जोन' दुर्गा और फूलमणि के माध्यम से आदिवासी महिलाओं के शोषण और प्रतिरोध को सामने रखता है। दुर्गा अपने प्रति बुरी नज़र रखने वाले तेजसिंह की हत्या करने के साथ थानेदार पर हमला करने के वाद माओवादी ग्रुप में शामिल हो जाती है, पर वहां भी आदिवासियों को समझने वाला कोई नहीं होता। आदिवासी जीवन दर्शन की यहाँ कोई समझ नहीं है, फूलमणि के प्रेमी बलराम की उसके माओवादी साथी इसलिए हत्या कर देते है क्योंकि वह फूलमणि के गर्भवती होने पर भाग गया। आदिवासी दर्शन के अनुसार तो अखरा पर पंच पंचायत होनी थी , उसे उसके किये का दंड देना था, पर यहां फूलमणि के माफ़ किये जाने के बावजूद उसकी हत्या कर दी जाती है। दुर्गा इसका विरोध ही नहीं करती, वह पार्टी की कोर कमेटी के आदेशों को मानने से साफ इंकार कर देती है।

---

[281] रणेन्द्र : ग्लोबल गांव के देवता, 2009, पृ. सं. 26

[282] रणेन्द्र : पूर्वोक्त 2009, पृ. सं. 103

[283] रणेन्द्र : पूर्वोक्त पृ. सं. 14

अरुंधती रॉय ब्रोकन रिपब्लिक नामक रचना में २००५ की एक घटना का जिक्र करती है जिसमें कोरमा गाँव में नगा बटालियन सलवा जुडूम के साथ मिलकर गाँव को जला देती है, उसके बाद तीन लड़कियों का सामूहिक बलात्कार कर मार डालती है। उपन्यास में उसका संकेत भी दिया है- "उन्होंने उनके साथ घास पर बलात्कार किया था, लेकिन जब वह पूरा हुआ तो वहां घास नहीं बची थी ...पुलिस अब भी आती है, जब उन्हें औरतों या मुर्गियों की जरुरत होती है।"[284] भारतीय पुलिस सिस्टम की क्रूरता और सत्ता के षड्यंत्रों को विभूति नारायण रॉय के लेखन के साथ पूर्व आई पी एस अधिकारी बाई .पी सिंह के उपन्यास carnage by angels से समझा जा सकता है।

3.4.2.2 भूमंडलीकरण और आदिवासी राजनीति के सरोकार

लोकतंत्र की विश्वसनायता पर सवाल

भूमंडलीकरण ने दुनियाभर की राजनीति को कलंकित करने का कार्य किया। भारतीय लोकतंत्र पर लोगों को विश्वास था कि राजनीति ही उनके जीवन में सवेरा लायेगी। राजनीति से ही कोई सार्थक परिवर्तन और सुधार संभव है। इस अवधारणा को भूमंडलीकरण ने मटियामेट कर दिया। अब माना जाने लगा कि राजनीति से कुछ भी संभव नहीं है। फलस्वरूप तर्कहीन आस्था और फाँसीवादी व्यक्तिवाद का दुनियाभर की राजनीति में उभार हुआ है। विकल्प की राजनीति को भी पूँजीवाद ने अपने तई भ्रष्ट बनाकर उसके चरित्र को बुर्जुआ बना दिया है। लालू प्रसाद, मायावती, मुलायम सिंह, शिबू सोरेन भारतीय राजनीति में इसी तरह के उदाहरण है।

राजनीति और लोकतंत्र के पतित होने से दुनिया का संचालन सीधे पूँजीवादी संस्थाओं, बहुराष्ट्रीय कंपनियों और कॉर्पोरेट घरानों के हाथ में आ गया है। पूरी दुनिया से राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप मिट रहा है। तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्र-राज्य शक्तिहीन होता जा रहा है। आदिवासी संदर्भ में भारतीय राष्ट्र-राज्य की काली करतूतों और ग्लोबलाइजेशन के दौर में बेमानी हो चुकी उन संस्थाओं के नकाब को हटाने की कोशिश हिंदी उपन्यास करते है जो आदिवासी क्षेत्रों में अपने को लोकतंत्र के प्रतिनिधि के बतौर प्रस्तुत करती है। इन संस्थाओं में पुलिस विभाग, वन विभाग ही नहीं, अपितु लोकतंत्र का कथित चौथा स्तंभ मीडिया भी शामिल है। आदिवासियों ने हमेंशा इस देश और इसके लोकतंत्र को प्यार किया पर उनसे हमेंशा सौतेला व्यवहार होता रहा। 'गायब होता देश' उपन्यास में व्यवस्था से आहत सोमेश्वर मुंडा का विलाप करता है- "क्या है हम ? सच बात है कि उनकी नज़र में हम हैं ही नहीं। फिर हमारी साँस लेती जिन्दगी क्या है ?... क्या हम आपके सौतेले बेटे है भारत

[284] कुमार विनोद : रेड जोन 2020 पृ. सं. 94

माता ?"[285] रातों-रात उजड़ते आदिवासी टोले और गाँव लोकतंत्र में आदिवासी विश्वास को हिला कर रख देते है।

आरक्षण और आदिवासी शोषण

भारतीय संविधान में देश के अन्य वंचित वर्गों के साथ आदिवासियों को भी सरकारी नौकरियों में आरक्षण का प्रावधान किया हुआ है, किन्तु फिर भी आदिवासियों के लिए निर्धारित सीटों पर गैर आदिवासियों की नियुक्ति आम बात है। आदिवासियों की योग्यता पर सवाल खड़ा कर उन्हें नौकरियों से दूर करने की साज़िश का पर्दाफाश संजीव अपने उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में करते हैं। कथा नायक 'सुदीप्त' ईमानदारी के साथ काम करते हुए जनजातीय कोटे में चपरासी पद पर संताल आदिवासी कालीचरण किस्कू को नियुक्ति देता है तो पूरा कारखाना अंदरूनी तौर पर विरोध में लामबंद हो जाता है। कारखाने में काम करने वाले सारे कर्मचारी गैर-आदिवासी है। उनमें वे भी है, जो आदिवासी कोटे की सीटों पर अवैध तरीके से नियुक्त है। वे चाहते है कि यह परंपरा निर्बाध रूप से चलती रहे। आदिवासियों के खिलाफ़ आपसी मतभेदों को भुलाकर वे एकजुट होते है, उनकी यह एकजुटता आदिवासी शोषण के लिए है। कारखाने का पुराना चपरासी पंडित अपने भतीजे को नियुक्त न करने पर जो उलाहना देता है, उसमें आरक्षित सीटों पर बगैर किसी अपराधबोध के अपना हक जताने की दिकू परंपरा नज़र आती है-"अरे ले देकर एक चपरासी की नौकरी ही तो मांगी थी हमने अपने भतीजे के लिए, कोई लाट गवन्नरी तो मांगी नहीं।"[286] नायक सुदीप्त जब आरक्षित सीट होने का हवाला देता है तो विश्वामित्र पंडित का जवाब आरक्षण की हकीकत बयां कर देता है-"बहुत देखा कानून साहेब! .....सब बार पक गया देखते-देखते। कण्डीडेट नहीं मिला कहकर कितनी बहालियाँ हुईं बताएँ..? ई कहिए कि तकदीर खराब थी कि यहीं रह गए, वरना दिखाते कैसे नहीं होता है।"[287]

'गायब होता देश' उपन्यास में रणेन्द्र आदिवासियों के भीतर उभरते बुर्जुआ वर्ग की ओर भी संकेत करते है। यह ऐसा वर्ग है जो सिर्फ़ नाम के लिए आदिवासी है-"दूसरे ही दिन सोलह फ्लैट के लिए बत्तीस ग्राहक। सबके सब आदिवासी साहब सूबा लोग...ऐसन लंबी-लंबी गाड़ी सब में इतना ट्रायबल अफसर एके साथ पहली बार देख रही थे। सौ किलो-सबा सौ किलो के भी साहब।...खाली नामे भर के आदिवासी है ई लोग। कल रिजर्वेशन खत्म कर दीजिए तो अपना के आदिवासी कहने में भी शरमाएगा ई लोग।"[288] रणेन्द्र की वर्गीय दृष्टि शायद आदिवासी आरक्षण को आर्थिक संपन्नता से

---

[285] रणेन्द्र: गायब हाता देश, 2014, पृ. सं. 63

[286] संजीव : पांव तले की दूब, 2005, पृ. 26

[287] संजीव : पूर्वोक्त, 2005, पृ. 26

[288] रणेन्द्र : गायब हाता देश, 2014, पृ. सं.

जोड़कर देखती है, जबकि संविधान में उन्हें ये हक प्रतिनिधित्व हेतु मिला है कोई गरीबी भगाने के लिए नहीं।

नक्सलवाद

यूपी के डीजीपी और नक्सलियों के खिलाफ़ पुलिस व बीएसएफ की कमान संभाल चुके आईपीएस अधिकारी प्रकाश सिंह ने अपनी पुस्तक 'द नक्सलाइट मूवमेंट इन इंडिया' (1995) में नक्सलवाद के उभार पर लिखा कि-"सामाजिक अन्याय, आर्थिक असमानता और इससे आक्रांत-पीड़ित लोगों की शिकायतों का निराकरण करने में असफलता नक्सलवाद के जन्म का मूलभूत कारण है।"[289] भूमंडलीकरण के दौर में नक्सलवाद शब्द का सबसे ज्यादा दुरूपयोग हुआ है। उक्त पुस्तक में ही प्रकाश सिंह लिखते है कि "नक्सलवाद ऐसा शब्द है, जिसका अत्यधिक दुरूपयोग हुआ है। किसी क्षेत्र में किन्ही स्वार्थी तत्त्वों के सहायक के रूप में कम करने वाले अधिकारी, इस शब्द को सामाजिक और आर्थिक न्याय की मांग करने वाले किसी भी आदमी पर चस्पां कर देते हैं ताकि उन पर की गयी दमनात्मक कार्यवाहियों का औचित्य सिद्ध किया जा सके।"[290] हिंदी के आदिवासी विषयक कई उपन्यासों में इस तथ्य को रेखांकित किया है।

भूमंडलीकरण के दौर में अस्तित्व में आये माओवाद के बैनर तले एक तृतीय फ्रंट के रूप में पीपुल्स लिबरेशन फ्रंट ऑफ़ इंडिया बना, जबरन बसूली और भ्रष्टाचार में लिप्त इस संगठन को भारतीय पुलिस व्यवस्था के सहयोग से खड़ा किया ताकि अरुंधती रॉय ने जिस माओवाद विचारधारा की जनताना सरकार के 1980 से 2000 के बीच किये गए सकारात्मक कामों का जिक्र किया, उसे बदनाम किया जा सकें और सलवा जुडूम जैसी अमानवीय संस्थाओं का औचित्य सिद्ध किया जा सके। विनोद कुमार का उपन्यास 'रेड जोन' में पूर्व आई पी एफ नेता और माले विधायक महेंद्र सिंह के माध्यम से नक्सलियों की ही दो शाखा माले और माओवादियों के अंतर को स्पष्ट किया है- " मैं न हिंसा के खिलाफ़ हूँ और न माओवादियों के खिलाफ़। मैं उनकी कार्यप्रणाली के खिलाफ़ हूँ। झारखण्ड में हिंसा कोई नई परिघटना नहीं है। सत्ता के खिलाफ़ जन प्रतिहिंसा भी यहाँ समय के विभिन्न हिस्सों में होती रही है। खुद झारखण्ड आन्दोलन भी कई अर्थों में हिंसा-प्रतिहिंसा से मुक्त नहीं रहा है , किन्तु इन

---

[289] "Naxalism arose from certain basic factors- social injustice, economic inequality and the failure of the system to redress the grievances of large sections of people who suffered –and continue to suffer- as a result therefrom. http://narainsingh-hindiauthor.blogspot.com/2017/11/blog-post.html

[290] "Naxalism is much a abused tem. The authorities playing second fiddle to vested interests in an area use this terminology to brand anyone crying for social or economic justice and justify repressive measures against him." http://narainsingh-hindiauthor.blogspot.com/2017/11/blog-post.html

हिंसक-प्रतिहिंसक संघर्षों में व्यापक भागीदारी ने अपने दवाब के बल पर राजनितिक शक्तियों और संस्थागत ढांचों पर अपना गहरा असर डाला है। सिद्दो-कान्हू का हूल और बिरसा का उलगुलान इसके उदाहरण है , लेकिन 90 के दशक में उभरी माओवादी हिंसा इसका अपवाद है। परिणाम के लिहाज से कहीं अधिक होने के बावजूद इसने यथास्थितिवाद को मजबूती दी है। माओवादी हिंसा अब तक झारखण्ड की गौरवशाली प्रतिरोध की संस्कृति के साथ अपने रिश्ते तलाश नहीं कर पाई है। धीरे-धीरे उसने आतंक का स्वरुप इख़्तियार कर लिया है ...।"[291]

देश के आदिवासी इलाकों में भूमंडलीय विकास का कोई भी अध्याय बगैर नक्सलवाद की चर्चा किये पूरा नहीं होता। आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़े खतरे के रूप में चिहिन्त नक्सलवाद को भुनाने में किसी ने कोई कसर नहीं छोड़ी। सरकारी तंत्र और पूँजीवाद से पोषित कंपनियों ने इसके डर का इस्तेमाल करते हुए आदिवासियों को कुचलने का काम किया। 'गायब होता देश' उपन्यास में दिखाया है कि जब आदिवासी अपनी जमीन और जंगल बचाने के लिए विरोध करता है तो सरकार उन्हें नक्सली घोषित करती है ताकि उनके विरोध को कोई जन स्वीकार्यता न मिले और सरकार को दमन करने में कोई कठिनाई न हो। उपन्यास दिखाता है कि बंग्लादेश युद्ध में वीरता का परिचय देने वाला, राष्ट्रपति के हाथों परमवीर चक्र पाने वाला परमेश्वर पाहन सेवानिवृति के बाद अपने गाँव में विस्थापन विरोधी आंदोलन शुरू करता है तो शासन व्यवस्था उसे न सिर्फ़ नक्सली घोषित करती है, अपितु उसकी हत्या भी करवा देती है। पूरे गाँव को नक्सली घोषित होते ही सरकार हर विरोधी को ठिकाने लगा देती है और अपनी बांध बनाने की योजना में सफलता पाती है। वहीं आदिवासियों के खेत, जंगल और वनस्पतियां सभी डूब में आ जाती है।

3.4.2.3 भूमंडलीकरण और आदिवासी आर्थिक व्यवस्था

विकास और विस्थापन

झारखंड में विकास बनाम विस्थापन की अमानवीय और वीभत्स तस्वीर को उकेरने का कार्य संजीव अपने उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में करते है। उपन्यास का नायक सुदीप्त झारखंड आंदोलन के एक्टिविस्ट के रूप में बाघमुंडी पहुचता है, तो वह यह जानकर हैरान है कि-"आदिवासियों को जिनकी जमीन पर ये कारखाने लग रहे हैं, उन्हें टोटली डिप्राइव किया जा रहा है- इस संपत्ति में उनकी भागीदारी तो खत्म की ही जा रही है, उन्हें जमीन से भी बेदख़ल किया जा रहा है, मुआवजा भी अफसरों के पेट में

[291] कुमार विनोद : रेड जोन 2020 पृ. सं. 345

।"[292] और जब वह दूसरी बार एनटीपीसी में नौकरी करने वाले इंजिनियर के रूप में उसी जगह पहुंचता है, तो वह जो बदलाव देखता है, वह विस्थापन की विभीषिका को उजागर करता है- "वर्षों पहले यहाँ 'डोकरी' और 'मकरा' ना के दो गाँव हुआ करते थे। किसी ने फूंक मारकर उड़ा दिया उन्हें। कहां गए वे विस्थापित लोग? उड़ी हुई गर्द की तरह जहाँ-तहाँ थिरा रहे होंगे ।"[293] विस्थापन का यह दर्द भूमंडलीकरण के दौर में और बड़ा है । विकास का यह अमानवीय मॉडल आदिवासियों से उनके प्राकृतिक संसाधनों को छीनने के साथ उन्हें उनके बुनियादी हकों से भी वंचित कर देता है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में रणेन्द्र मानते है कि विस्थापन आदिवासी समुदायों की वैदिक युग से अनवरत् घटित होने वाली त्रासदी है। जिसे समझने की कोशिश करते हुए लालचन दा टूट से जाते है-'जिसका उत्तर न उनके पूर्वज तलाश पाये थे और न वे ढूँढ़ पा रहे हैं कि कब तक पीछे हटा जाए और कहाँ तक पीछे हटा जाए? इस पाट के बाद अब कहाँ।'[294] उपन्यास में 'ग्लोबल गाँव के देवताओं के जंगल-पहाड़ों में पहुंचने और आदिवासियों के जीने-मरने व संघर्ष की कहानी को बहुत ही खूबसूरत अंदाज में प्रस्तुत किया है। 'गायब होता देश' उपन्यास बार-बार इस तथ्य को रेखांकित करता है कि आदिवासियों की मूल लड़ाई ज़मीन बचाने की है, अगर जमीन ही नहीं बची तो आदिवासी कैसे बचेगा? कथानायक नीरज दा के शब्दों में-"कल उन्हें बांध के लिए जमीन चाहिए थी । फिर सेज के लिए ज़मीन छीनी। अब रियल एस्टेट के लिए।"[295] ज़मीन बचाने के अंतहीन संघर्ष की परम्परा के इतिहास का उल्लेख करते हुए सोमेश्वर दा कहते हैं-"अंग्रेजों से भी दम भर लड़ते रहे और आज भी लड़ रहे हैं। कल भी सवाल ज़मीन का था, आज भी सवाल ज़मीन का ही है। कैसे कहे की आज़ादी मिली है।"[296] सोमेश्वर सर' का यह कथन आज के भूमंडलीकृत भारत की आदिवासी संदर्भ में दर्दनाक तस्वीर प्रस्तुत है।

आत्मनिर्भर आदिवासी व्यवस्था और बाज़ार का प्रवेश

आदिवासी समाज की अर्थव्यवस्था पारंपरिक रूप से वस्तुओं के आपसी आदान-प्रदान पर निर्भर थी, किन्तु जैसे-जैसे बाहरी लोगों और बाज़ार का प्रवेश आदिवासी क्षेत्रों में हुआ वैसे-वैसे नगदी का प्रचलन आदिवासियों के बीच शुरू होने लगा। बाज़ार ने इनकी जरूरतों को और अधिक बढ़ाया। देशी-घरेलू महुआ या ताड़ी की जगह शराब ने ले ली। पैसे का महत्व समझने में ये नाकाम रहे। देशी

[292] संजीव : पांव तले की दूब, 2005, पृ. 20
[293] संजीव : पूर्वोक्त, पृ. सं. 28
[294] रणेन्द्र : ग्लोबल गांव के देवता, 2009,
[295] रणेन्द्र : गायब हाता देश, 2014, पृ. सं. 242
[296] रणेन्द्र : पूर्वोक्त, 2014, पृ. सं. 91

महाजनों ने इनके इलाके में सूदखोरी के माध्यम से अपना जाल फैलाना शुरू किया, जिससे बचना नामुमकिन था। महाजनी सूदखोरी की प्रथा ने आदिवासियों को न केवल गरीब बनाया, अपितु उन्हें अपने घर-बार और खेत-खलिहान से भी हाथ धोना पड़ा। संजीव ने अपने उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में महाजनी शोषण को रेखांकित करते हुए एक गीत प्रस्तुत करते है। उपन्यास नायक सुदीप्त अपने पत्रकार मित्र समीर को इस आदिवासी गीत का भावानुवाद इस प्रकार सुनाते है-

"हमने पत्थर हटा-हटा के खेत बनाये।
खेत बना-बनाकर बीज रोपे धान के
धान काट-काटकर खलिहान ले आये
और खलिहान से उठा ले गया महाजन
साइन पर पहाड़ है कब से अड़ा हुआ
ऐसे कब तक चलेगा, हे चाँदो देवता...?"[297]

आदिवासी समाज परंपरागत रूप से अपनी आजीविका के लिए कृषि के साथ जंगली उत्पादों पर निर्भर रहा है। वर्तमान समय में उन्हें जंगलों से खदेड़ने का सरकारी और गैर सरकारी, दोनों तरह के अभियान चलाये जा रहे है। कभी वन्य जीव संरक्षण के नाम पर तो कभी वनों की अवैध कटाई रोकने के नाम पर, कभी खदानों के नाम पर तो कभी कारखानों के नाम पर। सरकारों की नीतियाँ दोगली हो चुकी हैं, वे जंगल में आदिवासियों के प्रवेश को खतरा मान रहे है, पर बड़ी बहुराष्ट्रीय खनन कंपनियों के अवैध खनन को रोक पाने में असमर्थ है। वन संपदा की चोरी करने वाले फल-फूल रहे है। इससे आदिवासियों का आक्रोश और अधिक बड़ जा रहा है। उपन्यास का पात्र 'किस्सू' रोष में आकर सुदीप्त से कहता है- "साहब, सरकार तो बहुत मेहरबान है न हम पर?... ये ई मेहरबानी है न कि जिस छोटा बुरू के जंगल शालवान से हमारा बाप-दादा काठ काट के लाता रहा, अब हमारा लड़का-जनाना दतुअन भी नहीं तोड़ने सकता?"[298] सुदीप्त जब जंगल बचाने का तर्क देते हैं तो 'किस्सू' पलटकर जबाव देता है- "हुँह, बचाने के लिए...और ठेकेदार, अपीसर टरक का टरक जंगल काट के ले जाता सो...? हियाँ प्रीतम सिंह का गोला में का है जा के देखिए।"[299]

संजीव अपने उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में फिलिप के माध्यम से भी कहलवाते हैं-"मुझे मत रोकिये सर! फिलिप उत्तेजना में बुरी तरह हांफ रहा था,' ये जंगल हमारे होते तो हमारी सुनी जाती। ये

[297] संजीव : पांव तले की दूब, 2013, पृ. 53
[298] संजीव : पांव तले की दूब, पूर्वोक्त, 2013, पृ. 32
[299] संजीव : पांव तले की दूब, पूर्वोक्त, 2013, पृ. 32

जंगल हमारे होते तो सुक्खू सिंह न कटवा पाते, न ही सरदार इसे बाहर भेज पाते। हमारे होते तो रोकने पर पुलिस हमीं को न पीटती। यह पूरा झारखंड अभयारण्य है सर! अभयारण्य इन सालों का और हम इनकी खुराक!"[300] फिलिप अपने संसाधनों की लूट से हताश है, वह कुछ न कर पाने की स्थिति में अपना अंतिम बार करता है-जंगल को आग लगाकर खुद को उसी आग के हवाले कर देना। ऐसी दुनिया जिसमें अपना हक न मिले तो उस दुनिया के होने का मतलब ही क्या? उस जंगल के आग लगा देना जो उसका अपना है, और उस लगाव की इंतिहाँ ये है कि वह भी खुद उसी आग में जलकर अपने प्राण दे देता है।

आदिवासियों द्वारा अपने संसाधनों की लूट के खिलाफ़, सूदखोर महाजनों और भ्रष्ट अफसरों के खिलाफ़ 19 अप्रेल 1985 को संताल परगना में हुए विरोध प्रदर्शनों में सरकारी साज़िश के तहत हुई गोलाबारी में 15 आदिवासियों की मौत हुई जिसमें एक पूर्व सांसद फादर एंथोनी मुर्मू भी थे। इस गोलीकांड को 'बांझी कांड'[301] के नाम से जाना जाता है। इसके बाद भी न कोई जांच हुई और न स्थितियों में कोई सुधार हुआ। भारत सरकार के अनुसूचित जाति और जनजाति आयुक्त ने अपनी रपट में सरकार की आदिवासी उन्नयन की नीति पर सवालिया निशान लगाते हुए लिखा कि-"आजादी के बाद भारत में आदिवासियों के पिछड़ेपन का प्रमुख कारण, सरकार की घोषित नीतियों और वर्चस्व रखने वाली जनसंख्या के हितों में निहित टकराव है।"[302]आदिवासी समाज की खत्म होती आत्मनिर्भरता के पीछे बाज़ारवादी ताकतों की जंगल हड़पो नीति जिम्मेदार है।

हिन्दी आदिवासी साहित्यालोचक डॉ. रमेशचंद मीणा 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास की समीक्षा के क्रम में आदिवासियों की हार को पूँजीवाद की विजय और आमजन की पराजय में देखते है-"वे असुर जो वैदिक युग में देवताओं लड़ते रहे हैं। आज उनका सामना ग्लोबल गाँव के देवताओं से हो रहा है। ग्लोबल गाँव के देवताओं से हो रहे संघर्ष में उनकी हार सुनिश्चित है। इनकी हार इन तक सीमित रहने वाली नहीं है, अगर आदिवासी जंगल में हारेगा तो निश्चित ही यह चेतावनी है कि अब बाज़ार की शक्तियाँ सिर्फ़ उपभोक्ताओं को तवज्जो देगी, आमजन के लिए उनके यहाँ कोई योजना नहीं है।"[303]

भूमंडलीय विकास का विरोध

[300] संजीव : पूर्वोक्त, पृ. सं. 119

[301] उर्मिलेश : झारखंड: जादुई जमीन का अंधेरा,1999, पृ. सं. 29

[302] उर्मिलेश : पूर्वोक्त, पृ. सं. 40

[303] मीणा रमेशचंद : आदिवासी दस्तक, पृ. 99

संजीव का उपन्यास 'पाँव तले की दूब' विकास के उस प्रतिमान को खारिज़ करता चलता है, जो आदिवासियों को उजाड़कर बहुराष्ट्रीय कपनियों और देशी पूँजीपतियों को मालामाल बना रहा है। उपन्यास का पात्र फिलिप व्यवस्था के इस तंत्र को समझता है, इसलिए वह विरोध जताते हुए कहता है- "यह धरती, हमारी धरती सोना उगलती है और उस सोने की धरती की हम कंगाल संतान है। प्रदेश की दो तिहाई आय हमसे होती है और हमारी हालत- न तन पर साबुत कपड़ा, न पेट में भरपेट भात, दवा-दारू, पढ़ाई लिखाई की बात ही छोड़ दीजिए। बहुत पैसा दिया है सरकार ने-सरकार घोषणाएँ करती नहीं थकती, लेकिन हम कंगाल के कंगाल! मालोमाल कोई और हो रहा है।"[304]

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास दिखाता है कि किस तरह खनिज कंपनियां असुरों की जमीन हथियाकर खुलेआम अवैध खनन को अंजाम देती है। कंपनियों द्वारा बॉक्साइट निकाले जाने के बाद खाली गड्ढ़ों को भी नहीं भरा जाता है, जिससे आदिवासियों को मलेरिया-डायरिया का प्रकोप सहन करना पड़ता है। कंपनियों द्वारा किया जाने वाला खनन लीज की भूमि पर कम, वन विभाग, गैर मजरूआ और असुर रैयत की जमीन पर अधिक होता है। विकास के नाम पर आदिवासियों के हिस्से में आता है- कंबल, मच्छरदानी, बकरी-छगरी, इंदिरा आवास। रणेन्द्र भूमंडलीकरण के दौर में सत्ता द्वारा प्रस्तुत विकास के दो मॉडलों की छवि प्रस्तुत करते हैं। पहला आदिवासियों के लिए और दूसरा गैर आदिवासियों के लिए। रणेन्द्र गैर आदिवासियों के लिए उपलब्ध विकास मॉडल की खूबसूरती इस तरह बयां करते हैं-"फूलों-पार्कों से लदी हरी-भरी खूबसूरत कॉलोनी। एक से एक स्कूल, चमचमाते बाज़ार, क्लब घर, योगा केन्द्र, लाइब्रेरी, खेल के मैदान और न जाने क्या-क्या! ...लगा इंद्रलोक धरती पर उतर आया हो।"[305] भूख और गरीबी असुर समाज को भीतर से इतना खोखला कर देती है कि सामाजिक व्यवस्था भरभरा जाती है। अखड़ा में बैंगा-पाहन-पुजार और बड़े-बूढ़ों की सीख बेटों को रोजगार की तलाश में शहर जाने और बेटियों को नौकरशाहों, खदान के मेठ-मुंशी और क्लर्क के डेरों में काम के बहाने रखनी बनने से नहीं रोक पाती। रणेन्द्र का उपन्यास विकास के इस रूप को भलिभांति रेखांकित ही नहीं करता, उसका विरोध भी करता है।

'गायब होता देश' उपन्यास विकास की उस अमानवीय भूख को उजागर करता है जिसने आदिवासियों को विनाश के मुहाने पर पहुंचा दिया। पशु या जानवर स्वभावतः भूख होने पर चरने की क्रिया करते है, पर लेखक रणेन्द्र जिस भूख का उल्लेख करते है वह सामान्य नहीं है-"इंसान थोड़ा ज़्यादा समझदार हो गया। उसने सिंगबोंगा की व्यवस्था में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। उसने लोहे

[304] संजीव : पांव तले की दूब, 2013, पृ. 93

[305] रणेन्द्र : ग्लोबल गांव के देवता, 2009, पृ. सं. 16

के घोड़े दौड़ाने के लिए शाल वन की लाशें गिरानी शुरू कर दी। उसने बंदरगाह बनाने, रेल की पटरियां बिछाने, फर्नीचर बनाने, मकान बनाने के लिए अंधाधुंध कटाई शुरू की। मरांग बुरू-बोंगा की छाती की हर अमूल्य निधि, धातु-अयस्क उसे आज ही, अभी ही चाहिए था। नहीं तो उसे पिछड़ जाने का भय था। वे दौड़ में अपनी परछाइयों से प्रतिद्वंद्विता कर रहे थे। उनकी राक्षसी भूख पल-पल बढ़ती जा रही थी।"[306]

भूमंडलीय पूँजीवादी व्यवस्था का स्वरूप

पूँजीवाद अपने विकास के विभिन्न चरणों में अलग-अलग रूपों में फलित हुआ। शुरू में वह उपनिवेशवादी था फिर साम्राज्यवादी हुआ और आज भूमंडलीय हो गया। इस पूरे विकासक्रम में ऐतिहासिक रूप से पूँजीवाद की दो बुनियादी विशेषताओं का संकेत कार्ल मार्क्स ने किया है वे हैं- जन्मजात बर्बरता और अथाह पाखंड़। इसलिए भूमंडलीकरण के दौर में हमें शान्ति के नाम पर भयावह युद्ध, स्वतंत्रता के नाम पर दमन और विकास के नाम पर अभूतपूर्व विनाश का सामना करना पड़ रहा है। पूँजीवाद के प्रारंभिक दौर में उसकी पहचान स्पष्ट थी, पर भूमंडलीकरण में उसने अपने को छिपाकर अपने एजेंटों को सामने किया। जिनकी चाल-ढ़ाल एक-दूसरे से जुदा तो है, पर सब एक ही नाभिनाल से आबद्ध है।

रणेन्द्र ने अपने उपन्यास 'ग्लोवल गाँव के देवता' में इन 'एजेंटों' चरित्र को सामने रखने का प्रयास किया है। इसमें पारंपरिक प्रभुवर्ग के प्रतिनिधि के बतौर शिंडाल्को कंपनी के मैनेजर और भारतीय 'राज्य' की फौज के सबसे विश्वसनीय लीडर श्री किशन कन्हैया पाण्डेय। 'यथा नाम तथा गुण'। रणनीतियों और चालबाजियों के विशेषज्ञ। लेन-देन, डर-धमकी, प्रलोभन और ब्लैकमेलिंग इनके प्रमुख हथियार है। इनके सबसे बड़े सहयोगी है भारतीय राज्य के 'देवता' जिला कलेक्टर सिन्हा साहब। कोयला आश्रम के शिवदास बाबा आदिवासियों के शोषक प्रभुवर्ग के दूसरे प्रतिनिधि है। आदिवासी हितैषी होने का स्वांग रचाने वाले पर अंदर से ग्लोबल प्रभुओं के एजेंट। आधुनिक ब्राह्मणवाद के पुनरूत्थानवादी और हिन्दुत्ववादी सरोकारों के टिपिकल प्रतिनिधि। एक ओर कंठी अभियान के माध्यम से आदिवासियों का हिन्दूकरण कर भगत बनाते है, वहीं दूसरी ओर आदिवासी जमीन का सौदा कर दलाली करते है। विकल्प की राजनीति के बुर्जुआ चरित्र के प्रतिनिधि है स्थानीय एम.पी और एम.एल.ए।

[306] रणेन्द्र : गायब हाता देश, 2014, पृ. सं. 3

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में रणेन्द्र नव औपनिवेशिक पूँजीवादी भूमंडलीकरण को आदिवासी संदर्भ में प्रस्तुत करने का पहला प्रयास करते है। विगत् कुछ दशकों से हिन्दी साहित्य में स्थान बनाने वाले हाशिये के लेखन में आदिवासी लेखन ही नव औपनिवेशिक संकट को सीधे संबोधित करता है। इस नव-औपनिवेशिकता का सीधा संबंध भूमंडलीय पूँजीवाद से है। इस उपन्यास की विशेषता है कि यह नव औपनिवेशिकता के सवाल को दूसरे आनुषंगिक सवालों से अलगाकर नहीं अपितु पूँजीवाद और औपनिवेशिकरण की परंपरा / प्रक्रिया के अंग के रूप में देखता है। रणेन्द्र के अनुसार 'भूमंडलीकरण' धोखा देने वाला नाम है, क्योंकि इससे पता नहीं चलता कि यह उसी पुरखे का नया चेहरा मात्र है जिसका नाम पूँजीवाद है और जिसका एक भयानक चेहरा उपनिवेशवाद था।' भारतीय आदिवासियों के संदर्भ में नव-उपनिवेशवाद का प्रश्न ब्राह्मणवाद और पितृसत्ता से जुड़ा हुआ है जिसे रणेन्द्र ने उपन्यास के माध्यम से बख़ूबी प्रस्तुत किया है। भूमंडलीकरण के वैश्विक ग्राम में देशी-विदेशी लुटेरों के फ़र्क को कमतर कर दिया है। पूँजीवादी देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए भारत सरीखे तीसरी दुनिया के देशों की प्राकृतिक संपदा लूट का सामान है जिसे उन्हें हर कीमत पर हासिल करना है। इस प्रक्रिया में देशी कंपनियां 'जूनियर पार्टनर' की भूमिका अदा कर रही है। यह संयोग ही है कि ज्यादातर प्राकृतिक संसाधन आदिवासी क्षेत्रों में स्थित है। इसलिए आदिवासियों के दमन और शोषण की गति अपने चरम पर है। असुर समुदाय भी इससे अप्रभावित नहीं है।

पर्यावरण विनाश के दुष्परिणाम

आदिवासी भारत के जिन स्थानों पर निवासरत् है, वे देश के सबसे हरे-भरे और वन्य जीव विविधता के मामले में सबसे समृद्ध इलाके है। भूमंडलीकरण के इस दौर में इनका क्षमता से ज्यादा दोहन किया जा रही है। जिससे पर्यावरण प्रदूषण की खतरनाक स्थिति पैदा हो गई। इन क्षेत्रों में निवासरत् आदिवासी भी तरह-तरह की बीमारियों से ग्रसित होकर मौत के कगार पर पहुंच गये है। अस्पताल तक सीमित पहुंच ने उन्हें और अधिक अंधविश्वासी बना दिया है। आज कुछ लोग इस चीज को समझ रहे है कि आदिवासियों के स्वास्थ्य पर पड़ने वाला नकारात्मक प्रभाव किसी दैवीय प्रकोप की वजह से नहीं, अपितु प्रदूषण जनित है। भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासियों के विरोध को सरकार या तो दलालों के माध्यम से खरीद लेती है या फिर नजरंदाज कर देती है।

'पाँव तले की दूब' में आदिवासी नियति को रेखांकित करते हुए संजीव लिखते हैं-"अंधेरे के उस सागर में दिन के समय झिलमिलाते मेझिया जैसे इक्के-दुक्के गाँव हिलकोरे लिया करते, जिनके नसीब में रोशनी का एक कतरा भी न आया था। उसके नसीब में था सिर्फ़ जहरीला धुआँ, जो प्लांट की चिमनियों से छहराया करता और था जहरीला पानी, जो मनसा नाला में प्लांट का सारा उत्सर्जन

समोकर करैत सांप सा बिलबिलाते हुए बहा करता।"[307] 'गायब होता देश' उपन्यास आदिवासी दुख-दर्द को प्रकृति के साथ जोड़कर देखता है। प्राकृतिक पर्यावास में पनपने वाली आदिवासी संस्कृति के लिए उसका क्या महत्व है, इसे रेखांकित करते हुए रणेन्द्र लिखते हैं-" सरना-वनस्पति जगत गायब हुआ। मरांग बुरू बोंगा, पहाड़ देवता गायब हुए, गीत गाने वाली, धीमें बहने वाली, सोने की चमक बिखेरने वाली, हीरों से भरी सारी नदियाँ, जिनमें इकिर बोंगा-जल देवता का वास था, गायब हो गई। मुंडाओं के बेटे-बेटियाँ भी गायब होना शुरू हो गए। सोना लेकन दिसुम गायब होते देश में तब्दील हो गया।"[308]

[307] संजीव : पांव तले की दूब, 2013, पृ. सं.24

[308] रणेन्द्र : गायब हाता देश, 2014, पृ. सं. 3

अध्याय: 4

भूमंडलीकरण: हिन्दी कहानी और आदिवासी समाज

4.1 भूमंडलीकरण की प्रवृतियाँ और हिन्दी कहानी

4.2 हिन्दी कहानियों में चित्रित आदिवासी समाज

4.3 आदिवासी समुदायों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव और हिन्दी कहानी

अध्याय: 4

भूमंडलीकरण : हिन्दी कहानी और आदिवासी समाज

4.1 भूमंडलीकरण की प्रवृतियाँ और हिन्दी कहानी

'भूमंडलीकरण' आर्थिक विकास प्रक्रिया का सबसे आधुनिक चरण है। इसने वैश्विक स्तर पर एक ऐसी उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया, जिसने मानवीय संबंधों के ताने-बाने को बिखेर कर रख दिया। असीमित भोगवाद को बढ़ावा देने वाली यह संस्कृति भूमंडलीय बाज़ारवाद पर केन्द्रित है, जिसका मानवीय मूल्यों और संवेदनाओं से कोई लेना देना नहीं है। 'संवेदना' जो कि किसी साहित्य का आधार होती है, बाज़ार ने सबसे पहले उसे ही निशाना बनाया। सभी मानवीय सरोकार अर्थ आधारित हो गये। साहित्य को उत्पाद समझने की दृष्टि ने साहित्य के उद्देश्य को बदलकर रख दिया। साहित्य अब बाज़ार का हिस्सा हो गया और बाज़ार की माँग के अनुसार हिंदी रचनाकारों ने अपने को ढ़ालना शुरू कर दिया। भूमंडलीकरण ने जहाँ एक ओर असीमित समृद्धि की राह खोली, वहीं दूसरी ओर भारी विषमता का वातावरण निर्मित किया। एक ओर जहाँ मीडिया और सूचना क्रांति के बल पर उपभोक्ता विश्व पहले से ज्यादा लघु हो गया, वहीं दूसरी ओर एक नये आर्थिक यथार्थ का सामना करना पड़ा। विश्व स्तर पर आर्थिक मंदी आई, कंपनियाँ दिवालिया होने लगी और बड़े पैमाने पर बेरोजगारी बढ़ी। गाँव और खेत खलिहानों को भी इस दौर में परिवर्तन के भीषण संकट से गुजरना पड़ा।

भूमंडलीकरण की छाप समाज, साहित्य और राजनीति सभी पर पड़ी। जिसका मुकाबला चरम राष्ट्रवाद, धार्मिक संकीर्णता, साम्प्रदायिक उन्माद और पितृसत्तावाद के फासीवादी हथियारों से किया जाने लगा। बाज़ारवादी पूँजीवाद के इस उभार ने हिंदी साहित्य की सभी विधाओं को प्रभावित किया। 1990 के बाद की घटनाओं ने हिन्दी कहानी के पूरे ढाँचे और उसके स्वाद को बदल दिया। 1990 से 2020 तक की अपनी विकास यात्रा में हिन्दी कहानी कई पड़ावों से गुजरते हुए समाज और मनुष्यता के बदलते स्वरूप को रेखांकित करती है। हिन्दी कहानी पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को निम्न बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है -

4.1.1 बाज़ारवाद / उपभोक्तावाद: बाज़ार के बीच-बाज़ार के खिलाफ़

बाज़ारवाद इक्कीसवीं सदी का कटु सत्य है। इसने सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में जिन परिवर्तनों को जन्म दिया, वे आर्थिक परिवर्तनों से ज्यादा प्रभावी और दूरगामी है। भूमंडलीकरण के लोक लुभावन चेहरे के पीछे बाज़ारवाद का स्याह चेहरा छिपा हुआ है, जिसका एकमात्र लक्ष्य 'अधिक

उत्पादन' से अधिक लाभ हासिल करना है। बाज़ार हमारी सभ्यता और संस्कृति को जिस तरह विकृत कर रहा है, वहाँ नैतिकता के सभी बंधन अस्वीकार्य है। भोग और आनंद ही सर्वोपरि है। बाज़ारवादी मूल्यों पर स्त्री देह का व्यापार आम बात है। पंखुरी सिन्हा की कहानी 'समानान्तर रेखाओं का आकर्षण' इस तथ्य को रेखांकित करती हुई सौन्दर्य प्रतियोगिताओं का मूल उद्देश्य बतलाती है- "जो भी हो, ऐसी प्रतियोगिताओं में सचमुच हड्डियां शरीक नहीं की जाती। हड्डियों का वजन, आकार-प्रकार, डील-डौल कुछ भी बदला नहीं जा सकता, ऐसी प्रतियोगिताएँ हड्डियों के ऊँपर मांस, वसा और चमड़े के नियंत्रण से जीती या हारी जाती है।"[309] मन और आत्मा की सुंदरता की अपेक्षा देह का यह मांसल सौन्दर्य बदलते समय का उद्घोश है। अमित कुमार सिंह के शब्दों में- "आत्मा की अमरता की बात करने वाली संस्कृति आज शरीर के सौन्दर्य व दैहिक सुख के मायाजाल में भयंकर रूप से फंसी हुई है।"[310] बाज़ार प्रचारित अर्थ केन्द्रित रिश्तों ने हमारे मन में तनाव और अवसाद ही भरा है।

बाज़ारवाद ने इंसान के अंदर भौतिक सुख-सुविधाओं की अदम्य लालसा पैदा की। मनुष्य एक ओर जहाँ अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा नहीं कर पाता, वहीं दूसरी ओर घर-परिवार की बढ़ती आकांक्षायें उसके जीवन में तनाव का कारण बनती है। अमरीकदीप सिंह की कहानी 'एक कोई और' पारिवारिक आकांक्षाओं के पूरा न होने पर पति-पत्नी के बीच आती दरार को रेखांकित करती है, जहाँ नायिका अपने पति से कहती है- "तुम निकम्मे हो, निखट्टू हो। आज तक कौन सा सुख दिया है तुमने मुझे? मुझे डायमंड ज्वैलरी चाहिए, बनारसी और साउथ सिल्क की साड़ियां चाहिए, पशमीने की शॉल चाहिए, लाबोला की सैंडिलें चाहिए, लैक्मे की पूरी मेकअप रेंज चाहिए, होटलिंग चाहिए, शापिंग चाहिए, पिकनिक चाहिए, आउटिंग चाहिए।"[311]वस्तुतः कथा नायिका की उक्त जरूरतें बाज़ार ने ही पैदा की है, जिसको पूरा करने में असमर्थ पति 'निखट्टू' बन गया है।

अंजू दुआ जैमिनी की 'कंक्रीट की फसल का हकदार' कहानी का नायक राजीव काम से घर इसलिए नहीं लौटना चाहता, क्योंकि- 'आज फिर सुननी पड़ेगी, उसकी चपर-चपर। पता नहीं क्या हो गया है उसे, अच्छी भली दाल-रोटी खा रहे थे। पर अब सबको सब-कुछ चाहिए। मोबाईल, कम्प्यूटर, कार, अच्छे पकवान, ब्रांडेड कपड़े और बड़ा सा घर। बड़ा सा घर! कितने दिन से मेरे पीछे पड़ी है, एक फ्लैट ले लो। गोया फ्लैट न हो गया, चने-मुरमुरे का कोन हो गया। इतना भी नहीं जानती कि घर बनाना आज इतना भी आसान नहीं। अव्वल तो उसके पास इतना पैसा है नहीं कि एकमुश्त दे पाऊं और दूसरे

[309] सिन्हा पंखुरी : किस्सा ए कोहिनूर, 2009, पृ. सं. 7

[310] सिंह अमित कुमार : भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प, 2010 पृ.सं. 90

[311] सिंह अमरीकदीप : एक कोई और, 2009 पृ. सं. 166

कर्ज लो तो सारी जिंदगी उतारते रहो ।"[312] इस कहानी पर प्रतिक्रिया देते हुए राजकुमार राकेश का कहना है कि "अंजु दुआ जैमिनी की कहानी 'कंक्रीट की फसल का हकदार' इन्हीं अर्थों में हमारा ध्यान आकृष्ट करती है कि वहाँ मध्यवर्गीय आकांक्षाओं का भरा-पूरा फैलाव है, चकाचौंध और आकर्षण है, जिसने उसे ऋणों के बोझ से गुलाम बना दिया ।"[313] वस्तुतः बाज़ार ने विज्ञापन के माध्यम से यह बताया कि आप बेहतर जीवन कर्ज की आसान शर्तों पर जी सकते हैं। परन्तु यथार्थ इसके एकदम उलट है।

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी बाज़ारवादी मूल्यों के सभी पहलुओं को ईमानदारी से पेश करती है। आदर्शवादी व्यक्ति की घुटन, सामाजिक संरचना की विकृति, बाज़ार की चकाचौंध सब कुछ इन कहानियों में दर्ज़ है। पाश्चात्य उपभोक्ता संस्कृति द्वारा बाज़ार के माध्यम सम्पूर्ण देश को कब्जे में करने का यथार्थ उदय प्रकाश अपनी कहानियों में करते हैं। 'पाल गोमरा का स्कूटर' कहानी में बाज़ार की महिला का वर्णन इस प्रकार है- "बाज़ार सब चीजों का विकल्प बन चुका था। शहर, गाँव, कस्बे बड़ी तेजी से बाज़ार में बदल रहे थे, हर घर दुकान में तब्दील हो रहा था। बाप अपने बेटे को इसलिए घर से निकाल रहा था कि वह बाज़ार में कहीं फिट नहीं बैठ रहा था। पत्नियां अपने पतियों को छोड़-छोड़कर भाग रही थी, क्योंकि बाज़ार में उनके पतियों की कोई खास माँग नहीं थी। 'औरत बिकाऊ और मर्द कमाऊ' का ऐसा महान चकाचक युग आ गया था।"[314] इस दौर में पैसे के लिए कुछ भी कर गुजरने का माद्दा भूमंडलीकरण जनित ही है।

अमरदीप सिंह की कहानी 'एक कोई और' में किस्सागाई शैली में घर से भागते नायक का अंतर्द्वंद दृष्टव्य है- "ड्राइंगरुम गला फाड़-फाड़कर चीख रहा था-मुझे फोम के गद्दों वाला नया कीमती सोफा चाहिए, रंगीन टेलीविजन चाहिए, ईरानी कालीन चाहिए, झूमर चाहिए, मॉडर्न पेंटिंग चाहिए, कलात्मक एंटीक वस्तुएं चाहिए। शानदार नये पर्दे चाहिए।... बेडरूम का गुस्सा सातवें आसमान पर था- बरसात में पुराना कूलर काम नहीं करता। मुझे ए.सी. चाहिए। सोते वक्त रुई के गद्दे के तागे चुभते हैं मुझे। मुझे डनलप पिलो चाहिए, डनलप तकिये चाहिए। रेशमी चादरें चाहिए, शनील की रजाइयां चाहिए।... 'रसोई की मुट्ठियां अलग तनी हुई थी- मुझे कुकिंग रेंज चाहिए, रोटी मेकर चाहिए, और वह सब कुछ चाहिए, जो मेरे लिए एशियन स्काईशॉप बेचती हैं।'... 'बाथरुम भी जिद पर था- मुझे इटैलियन बाथ टब चाहिए, गीजर चाहिए, शॉवर चाहिए, विदेशी तेल-साबुन और शैंपू चाहिए, शानदार परफ्यूम चाहिए...' 'अपनी मांगों को लेकर घर का कोई भी हिस्सा पीछे नहीं था। सब गला फाड़कर चीख रहे थे- हमें टेलीफोन चाहिए, पेजर चाहिए, कम्प्यूटर चाहिए, कार चाहिए, ड्राइवर चाहिए, माली चाहिए,

[312] जैमिनी अंजु दुआ : कंक्रीट की फसल, हरिगंधा: अप्रैल 2008, पृ.- 36

[313] राकेश राजकुमार : समय और कहानी, हरिगंधा, अप्रैल, 2008, पृ.- 30

[314] उदय प्रकाश : पाल गोमरा का स्कूटर, 2010, पृ.सं. 37

नौकर चाहिए। हमें वह हर फाइव स्टार सुविधा चाहिए जो पूँजीपति, नेता और फिल्मी हीरो-हिरोइन भोग रहे हैं।"[315] उक्त वस्तुओं की माँग भूमंडलीय उपभोक्ता की माँग है। ये ऐसी माँग है जो उपभोक्ता के जीवन को न केवल सरल बनाती है, अपितु समाज में प्रतिष्ठा का हेतु बनती है। ये उसकी समृद्धि और सम्पन्नता की सूचक है।

बाज़ारवाद ने शहरीकरण को तेजी से आगे बढ़ाया। जिससे पारिवारिक विघटन और संबंधों में बिखराव की स्थिति पैदा होने लगी । शहर के लुभावन रूप के बावजूद मानव मन और अधिक तनावग्रस्त-दुविधापूर्ण हो गया । एक समय बाद शहरी चकाचौंध फीकी पड़ने लगी । महानगरीय अकेलापन पर उदय प्रकाश की 'विनायक का अकेलापन' कहानी बताती है कि यह अकेलापन उत्तर-आधुनिक संस्कृति की उपज है, जिसमें आदमी के पास अपनों से भी मिलने तक का भी वक्त नहीं है। अकेलेपन को दूर करने के लिए विनायक दत्तात्रेय एक तरीका निकालते हैं- "वे एक कोने में जाकर खड़े हो जाते थे और पुकारकर पूछते- 'विनायक कैसे हो? फिर दूसरे कोने पर खड़े होकर मुस्कराते हुए कहते- मैं ठीक हूँ विनायक। अपनी सुनाओ, कभी आ जाया करो यार।"[316] शहरों में तकनीक के विकास के साथ मँहगाई और रोजगार के घटते अवसरों ने श्रम आधारित वर्ग को शहर से वापिस धकेलना प्रारंभ कर दिया। इस वर्ग के पास दो ही रास्ते हैं, या तो वापिस गाँव जाए या फिर शहरी प्रतिस्पर्धा की अंधी दौड़ में खुद को साबित करे। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और तकनीक के अभाव में शहर से तालमेल बिठा पाने में असमर्थ इस वर्ग के लिए वापसी की राह आसान नहीं है। परंपरागत हुनर की असफलता और बेरोजगारी की पीड़ा लिए यह वर्ग तबाही के कगार पर है। जयनंदन की कहानी 'घर फूँक तमाशा' इसी तथ्य को रेखांकित करती है।

बाज़ार के सब्जबागों को प्रस्तुत करती संजय खाती की कहानी 'बाहर कुछ नहीं था' उपभोक्तावाद के खोखलेपन को प्रस्तुत करती है। दिव्या माथुर की 'पुरु और प्राची' कहानी बाज़ारवादी चमक में लुटते-पिटते उपभोक्ताओं का चित्र उपस्थित करती है। 'तिरिक्ष', 'अंत में प्रार्थना', 'पॉल गोमरा का स्कूटर', 'पीली छतरी वाली लड़की', 'दत्तात्रेय का दुख' और 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' जैसी कहानियों के माध्यम से उदय प्रकाश उपभोक्तावाद के दुष्परिणामों और उपभोक्तावादी संस्कृति के साइड इफेक्ट को उजागर करते है।

उदय प्रकाश ने 'दत्तात्रेय के दुख' कहानी में उपभोक्तावाद की इस प्रवृत्ति को कथानक में पिरोया है-"दिवाली की रात थी। बच्चों ने कुत्ते की पूंछ में पटाखे की लड़ी बांध दी और बत्ती को तीली दिखा

---

[315] सिंह अमरीकदीप : एक कोई और, 2009 पृ. सं.165-166

[316] उदय प्रकाश : विनायक का अकेलापन, दत्तात्रेय के दुख, 2006, पृ. सं. 43

दी थी । पटाखे धड़ाधड़ फूट रहे थे और कुत्ता बदहवास सा, होशों-हवास खोकर चीखता, भौंकता, रोता, गिरता-पड़ता भाग रहा था । कुत्ता जब विनायक दत्तात्रेय के पास से गुजरा तो उन्होंने कुत्ते के सामने हड्डी के टुकड़े फेंक दिए। एक तरफ लालच में कुत्ता हड्डी चबा रहा था, दूसरी तरफ पूंछ में बंधे पटाखों के लगातार फूटने की वजह से चीख-पुकार भी मचा रहा था। एक तरफ कुत्ते के मुंह से लार बह रही थी, दूसरी तरफ उसके गले से चीख निकल रही थी । एक अद्भुत ट्रेजिक-कॉमिक दृश्य था । विनायक दत्तात्रेय हँसे। लोगों ने पूछा- आप क्यों हँस रहे हैं? तो उन्होंने जबाव दिया- देखो इस कुत्ते को । यह बिल्कुल तीसरी दुनिया का उपभोक्तावादी मनुष्य लग रहा है। उत्तर आधुनिक उपभोक्तावाद का दृष्टान्त ।"[317] उपभोक्तावादी संस्कृति को रेखांकित करने वाली यह कहानी मध्यवर्ग की हकीकत को बयान करती है। उदय प्रकाश की कहानियों का विश्लेषण करते हुए डॉ. निरंजन देव शर्मा लिखते हैं कि- "उदय प्रकाश की कहानियाँ अपने समय को इतिहास के आईने में देखती हैं। मानव सभ्यता की कोमल भावनाओं, इंसानियत और मूल्यों को बचाये रखने की तीव्र उत्कंठा उदय प्रकाश की कहानियों में नज़र आती है। लेकिन उपभोक्तावाद के चरम पर पहुँच चुके उन्मादी समय में क्या वह मूल्य बचे रह पाएंगे? यह सवाल भी बार-बार उठाती है।"[318]

इस प्रकार इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी बाज़ारवाद के सभी पहलुओं का ईमानदार और निर्भीक चित्रण करती है। इन कहानियों में एक ओर बाज़ार का छद्म-निर्मम चेहरा है, तो दूसरी ओर मानवीय संबंधों, जीवन आदर्श और नैतिकता का बाज़ार में होता हनन भी चित्रित है। बाज़ार ने व्यक्ति को उपभोक्ता मानकर उसके मानवीय अस्तित्व को नकार दिया है। उसने आम आदमी के जीवन में अनावश्यक जरूरतों की आकांक्षा पैदा कर उसके जीवन को असंतुष्ट बना दिया।

4.1.2 साम्प्रदायिकता का उभार

भूमंडलीकरण के इस दौर में जब दुनिया विज्ञान और तकनीक के बल पर आगे बढ़ रही है, उसी दौर में साहित्य और कला पर साम्प्रदायिकता की चादर उड़ाई जा रही है। 'कहीं गुलाम अली जैसे बड़े गज़लकारों को 'जगजीत सिंह स्मृति' में गाने नहीं दिया जाता, तो कहीं किसी लेखक को अपने विचारों के लिए गोली मार दी जाती है । सत्ता चाहती है कि विश्वविद्यालय शिक्षण संस्थान न रहकर उनके विचारों के प्रचार-प्रसार के अड्डे हो जाये। 'हिन्दुत्त्व' की रक्षा के नाम पर हिन्दू कटटरपंथ को प्रोत्साहित किया जा रहा है। मनुष्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण गाय हो गई। इन संदर्भों में सुभाष चंद कुशवाह की कहानी

---

[317] उदय प्रकाश : उत्तर आधुनिक उपभोक्तावाद, दत्तात्रेय का दुख, पृ.सं. 52

[318] शर्मा. डॉ. निरंजन देव: हमारा समय और उदय प्रकाश, सृजनात्मकता के आयाम (पत्रिका) डॉ. ज्योतिष जोशी, उदय प्रकाश पर एकाग्र संस्करण, 2017 पृ.- 114

'हूजी आंतकी' बहुत महत्त्वपूर्ण है । साम्प्रदायिक उन्मादी भीड़ ने समाज में डर का जो माहौल तैयार किया है, उसे यह कहानी में सांकेतिक रूप में व्यक्त करती है।

सांप्रदायिकता का उभार भूमंडलीकरण की एक और हकीकत है । आज भी मूल्यविहीन राजनीति विभिन्न वर्गों में विद्वेष फैलाकर अपना उल्लू सीधा कर रही है। यह राजनीति का एक सोचा समझा षड़यंत्र है, जिसके तहत कभी 'हिंदू खतरे में है' तो कभी 'मुसलमान' । सांप्रदायिकता के लिए राजनीतिक संरक्षण को अभिव्यक्त करने वाली कहानियों में असगर वजाहत की 'मैं हिन्दू हूँ', कमल कुमार की 'पूर्ण विराम', प्रियंवद की 'लाल गोदाम का भूत' महत्त्वपूर्ण है । सांप्रदायिकता के साथ आतंकवाद भी आज के विश्व की सर्वाधिक ज्वलंत समस्या है। युवा कथाकार अनिल कुमार शर्मा की 'जेहाद' आतंकवाद के मनोविज्ञान को रेखांकित करती है । वही चंद्रकांता की कहानी 'शायद संवाद' कश्मीरी हिन्दू-मुसलमानों की आतंकवाद में ग्रस्त तस्वीर देश करती है।

4.1.3 मानवीय मूल्यों और लेखकीय पहचान का संकट

उत्तर आधुनिकता ने हमारी मानवीय संवेदनाओं और मूल्यों को नष्ट कर दिया । भूमंडलीकरण के तीन और 21वीं सदी के दो दशक पार करने के बाद भारत जिस रूप में दुनिया के सामने प्रस्तुत हो रहा है, वहाँ उसकी सभ्यता और संस्कृति लकवाग्रस्त होती नज़र आ रही है। मानवीय मूल्य गायब है। अगर कुछ है, तो वह है-स्वार्थ, हिंसा, बेईमानी और लूट खसोट की संस्कृति । पूँजीवादी उपभोक्ता संस्कृति जिस आदमी को गढ़ रही है, उसकी बानगी का नमूना इस तरह है-"यही वह आदमी है- खाऊ, तुंदियल, कामुक, लुच्चा, जालसाज और रईस, जिसकी सेवा की खातिर इस व्यवस्था और सरकार का निर्माण किया गया है। इसी आदमी के सुख और भोग के लिए इतना बड़ा बाज़ार और इतनी पुलिस-फौज है।"[319] यह भूमंडलीय पूँजीवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति की ही देन है, जिसमें किसी एक वर्ग की खुशी और सेवा के लिए पूरी आवाम तत्पर है। एक मध्यवर्ग ही इस व्यवस्था को मजबूती प्रदान कर रहा है-"यही वह आदमी है जिसके लिए संसार भर की औरतों के कपड़े उतारे जा रहे हैं।"

लेखकीय पहचान का संकट बाज़ारवादी दौर का सबसे बड़ा संकट है । समय के सच को पकड़ना और रचना में उस समय के यथार्थ को प्रस्तुत करना आज का दौर का प्रमुख लेखकीय दायित्व है। लेखक का अपने प्रति, समाज के प्रति, मनुष्यता के प्रति प्रतिबद्ध होना आवश्यक है। बाज़ार का हिन्दी कहानीकारों पर पड़ने वाला एक असर यह भी था, कि कहानीकार सोचने लगे कि उनकी कहानी भी अच्छी तरह 'फिनिश्ड' होनी चाहिए, अन्यथा पाठक उबड़-खाबड़ तरीके से या कमजोर ढंग से

[319] उदयप्रकाश : पीली छतरी वाली लड़की, 2014, पृ.सं. 11

लिखी गई कहानी से अपना पाठकीय रिश्ता नहीं बना पायेगा। वर्तमान कहानी में कथावस्तु और चरित्र पुनः स्थापित हुए हैं और कहानीकार की भूमिका 'स्टोरीटेलर' की हो गई है।

4.1.4 मानवीय श्रम का अवमूल्यन और बढ़ती बेरोजगारी

भूमंडलीकरण ने आम आदमी को स्वप्न दिखाया कि बाज़ार सभी प्रकार की बेरोजगारी और गरीबी का खात्मा कर देगा। इसके लिए सभी सरकारों ने वैश्विक कंपनियों के लिए भारतीय बाजारों को खोल दिया। भारी मात्रा में पूँजी-निवेश ने रोजगार के अवसरों का जो वादा किया, वह झूठा निकला। परंपरागत लघु और कुटीर उद्योग बंद होते गये। शिल्प और लोककलाओं का हुनर खत्म हो गया। देशी उत्पाद और देशी उद्योग मिटने लगे। बड़े देशी पूँजीपतियों वर्ग को इसका फायदा मिला, पर आम जनमानस पर बहुत नकारात्मक प्रभाव पड़ा। मानवीय श्रम पर आधारित भारतीय अर्थव्यवस्था अब कंप्यूटर आधारित मशीनों से चलनी लगी। जिससे कम लागत में ज्यादा उत्पादन तो संभव हुआ, पर मानवीय श्रम की अनावष्यकता ने छटनी और बेरोजगारी को तेजी से बढ़ावा दिया। एस.आर. हरनोट की कहानी 'मिट्टी के लोग', कैलाश वनवासी की बाज़ार में रामधन' कविता की 'पत्थर माटी और दूब' जयनंदन की 'आईएसओ 9000', 'घर फूंक तमाशा' आदि इस तथ्य को प्रमुखता से रेखांकित करती है।

एस.आर.हरनोट की कहानी 'मिट्टी के लोग' मशीनों के आगमन से गांवों में हो रहे परिवर्तन को उजागर करती है। ठाकुर का ठेकेदार बेटा सरकारी सड़क बनाने के लिए मशीनों को तरजीह देता है, जिससे गाँव के ज्यादातर दिहाड़ी मजदूर बेकार हो जाते हैं। भूमंडलीकरण ने परंपरागत काम-धंधों को कैसे समाप्त किया, उन्हें हरनोट इस प्रकार लिपिबद्ध करते है- "एक जमाना था, जब रामेशरी चाची बकरियों की बकराया (बाल) निकाल कर, उसके खारचे (गर्मदरियां) बना कर बेचा करती थी। भेड़ों की ऊन निकालकर खुद पट्टशालाओं के लिए ऊन कातती भी थी और बेच दिया करती। दाम भी बहुत अच्छे मिल जाते थे। पर आज तो मशीनों से बनी चीजों का जमाना है। भेड़-बकरियों की ऊन और बालों की कद्र अब कहां रही।"[320] 'बाज़ार में रामधन' कहानी में रामधन बैलों को बेचकर टैक्टर लेना जायदा फायदेमंद समझता है। हालांकि उसके मन में अंतर्द्वन्द्व है, क्योंकि एक ओर वह पुरातन विचारों से जुडा हुआ है, वहीं दूसरी ओर बाज़ार का दबाव है। कहानी में बैलों और रामधन का संवाद बहुत मार्मिक है- "रामधन कहता है कि-'मैं तुम्हें किसी भी कीमत पर न बेचता।' इस पर बैल जो जवाब देते हैं, वह वर्तमान विसंगति को उजागर करते है- 'बेचना तो पड़ेगा एक दिन, आखिर तुम हमें कब तक बचाओगे, रामधन? और कहां तक?' अर्थात बैलों को तो एक दिन बिकना ही है।

[320] हरनोट एस.आर. : मिट्टी के लोग, कहानी https://www.hindisamay.com/content/7193/1/

यहाँ अमित कुमार सिंह का यह मत दृष्टव्य है- "भूमंडलीकरण के केन्द्र में ब्रेटनबुड संस्थाएं, बहुराष्ट्रीय कंपनियां व बाज़ार की शक्तियाँ होती है। इन कंपनियों का एक मात्र उद्देश्य मध्यम वर्ग की लालसा को उकसा कर धन कमाना है। इनका कोई सामाजिक दायित्व नहीं है। यही नहीं, इसके फलस्वरूप भारत में आज लघु कुटीर उद्योगों की स्थिति खस्ताहाल है। कृषि भी बाज़ार की शक्तियों के सामने नतमस्तक है। आज समूचे भारत का किसान वर्ग कमजोर हुआ है। यह वर्ग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भूमंडलीकरण की नीतियों से प्रभावित है।" [321] जयनंदन की कहानी 'घर फूंक तमाशा' में भूमंडलीकरण पर सीधा आक्षेप है- 'हम देख रहे हैं कि जब से भूमंडलीकरण के तहत खुली बाज़ार व्यवस्था का दौर शुरू हुआ है, देशी कंपनियों के शेयर्स भाव मुंह के बल गिरते जा रहे हैं... इन्हें छंटनी करके मजूदरों की संख्या कम करने को बाध्य होना पड़ा है...उद्योग बढ़ने की जगह कम हो रहे है...बड़ी कंपनियों पर आधारित छोटी कंपनियां सिकुड़ रही है या फिर रेंग रही हैं।"[322] इस प्रकार उदारीकरण का सच लघु-कुटीर उद्योगों की समाप्ति और कृषि संस्कृति के क्षरण के रूप में हमारे सामने आता है। वर्तमान हिंदी कहानी उन कारणों की समीक्षा करती है।

बेरोजगारी एक ऐसी समस्या है, जिससे अधिकतर विकासशील देश जूझ रहे हैं। भूमंडलीकरण ने उन सभी युवाओं को बेरोजगारी की ओर बहुत तेजी से धकेला है, जो तकनीकी दक्षता से रहित है अथवा जिनकी बाज़ार में माँग नहीं है। रोजगार-उन्मुख शिक्षा प्रणाली का अभाव भी इसका प्रमुख कारण रहा है। महेश कटारे 'सुगम' की कहानी 'मुक्ति' हमें ऐसे पात्र से सामना करवाती है जो अपनी कठिन परिस्थितियों में बी.एस.सी. की पढ़ाई करता है, किन्तु नौकरी पाने में असमर्थ है। ऐसी स्थिति में वह अपने पिता के द्वारा चलाये गये चाय के खोके पर कार्य करते हुए शर्मिन्दगी महसूस करता है, पर उसकी यही नियति है। वह अपनी तमाम डिग्रियों को भट्टी में झोंककर मुक्ति का अहसास करता है- "उसे फिर ध्यान आया कि वह बीएस.सी. पास है। उसने बड़ी आत्मीतया से बीएस.सी. की डिग्री उठाई। उसे पढ़ा, नीचे कुलपति के बड़े-बड़े हस्ताक्षरों को सरसरी निगाह से देखा, किन्तु अचानक ही उसकी दृष्टि जन्म दिनांक पर जाकर अटक गयी। उसने मन ही मन हिसाब लगाया तो पाया कि अब तो वह दो माह ओवर एज हो गया है, सोचते ही उसके चेहरे पर एक गहरी निराशा और विषाद के मिले-जुले भाव तैर उठे। तभी उसने भट्टी में कोयले डाले और प्रमाण पत्रों को जलाकर इत्मीनान से भट्टी सुलगा उठा।"[323] यह कहानी हमारी शिक्षा व्यवस्था पर सवाल है, जो डिग्रियां तो देती है पर रोजगार नहीं।

---

[321] सिंह अमित कुमार : भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प, 2010 पृ. सं. 56-57

[322] जयनंदन : घर फूंक तमाशा कहानी से http://gadyakosh.org/gk/

[323] महेश कटारे 'सुगम' : 'मुक्ति' कथाबिंब: अक्टूबर-दिसम्बर 2009,पृ.सं.23
https://www.kathabimb.com/files/20094QFull.pdf

जयनंदन की 'घर फूंक तमाशा' कहानी बेरोजगारों की बढ़ती तादाद और नौकरियों की अल्पता को दर्शाती है। बेरोजगार हो गये टेकसाल का बेटा कहता है- "मुझे तो कोई उम्मीद नहीं दिखती। एक नौकरी के लिए जहाँ एक-एक हजार उम्मीदवार हो, वहाँ ऐसी उम्मीद महज एक खुशफहमी है, पापा। नये को छोड़िए, जब पुराने नौकरीशुदा लोग नौकरी से हर जगह सरप्लस बता कर हटाये जा रहे हैं, जब हजारों संस्थान बंद हो रहे हैं, कम्प्यूटर और रोबोट आदमियों की जगह ले रहे हैं, तो नये व्यक्ति के लिए फिर स्कोप ही कहाँ बचते हैं।"[324] परितोश चक्रवर्ती की कहानी 'पत्थर' में कम्पनियों से निकाले गए कर्मचारियों का कहना है कि- "उनके जैसे आर्टिस्टों की अब कोई खास जरूरत नहीं रह गई थी। अब तो अधिकांश काम कम्प्यूटर पर होने लगा था।" यह मशीनीकरण और कम्प्यूटरों द्वारा युवाओं को बेरोजगारी में धकेलने को चिन्हित करता है। संजय कुंदन की कहानी 'गांधी जयंती' बेरोजगारी पर अलग ढंग से सवाल उठाती हैं। यहाँ पढ़ने-लिखने में अव्वल छात्र दर-दर की ठोकरें खाता है और सबसे नालायक विद्यार्थी, जो गुंडागर्दी करता था, वह सरकार में मंत्री हो जाता है। कहानी सवाल उठाती है कि एक छोटी से छोटी नौकरी के लिए योग्यता की जरूरत है, पर हमारी व्यवस्था में सरकार चलाने वालों के लिए कोई योग्यता का मानदंड नहीं। संजय कुंदन की दूसरी कहानी 'चिड़ियाघर' नौकरियों में फैले भ्रष्टाचार को उजागर करती है। रिश्वत न देने पर विवेक जैसा पात्र आत्महत्या करने को मजबूर होता है।

'आईएसओ 9000' कहानी में जयनंदन ने व्यवस्था के जिस विद्रूप को उभारा है, वह वहुत ही घृणित है। कंपनी का पुराना कार्मिक इसलिए मौत के मुंह में चला जाता है कि उसकी जगह उसके बेटे की नौकरी लग जायेगी- 'डी.एम को यह शक था कि अवकाश ग्रहण की उम्र के करीब पहुँचे, किसी बूढ़े कर्मचारी ने जानबूझकर अपनी मौत मोल ली होगी, चूंकि कारखाने के भीतर संघातिक दुर्घटना की अवस्था में मरे कर्मचारी के किसी वारिस को सहानुभूति के आधार पर तत्काल नौकरी देने का प्रावधान अब भी समाप्त करना संभव नहीं हो पाया था। जमाने का यह कितना निर्लज्ज, विद्रूप और भयावह दौर है कि अपनी संतान के अनिश्चित भविष्य को एक अदद नौकरी से नवाजे जाने के लिए अपनी जान तक देनी पड़ जाये।"[325] ममता कालिया की कहानी 'लड़के' हताश बेरोजगारों की क्षुब्धता को रेखांकित करती है। इस प्रकार इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी बेरोजगारी की समस्या के विभिन्न पहलुओं को प्रकाश में लाती है। ये कहानी स्पष्ट करती है कि बेरोजगारी न केवल आम आदमी को आजीविका से वंचित करती है, अपितु असामाजिक-आपराधिक घटनाओं में वृद्धि का प्रमुख कारण बनती है।

---

[324] जयनंदन : घर फूंक तमाशा, कहानी से http://gadyakosh.org/gk/

[325] जयनंदन: घर फूंक तमाशा, 2004, पृ. सं. 14

भूमंडलीकरण के दौर में सरकार द्वारा घोषित समावेशी विकास की असफलता और सरकारी नीतियों के चलते गरीब-अमीर की खाई बढ़ती गई। सरकारी योजनाओं की विफलता, मंहगाई, गरीबी, भुखमरी को अभिव्यक्त करने वाली कहानियां इस दौर में लिखी गई। इनमें वेदप्रकाश अमिताभ की 'दुख का रिश्ता', अंजु दुआ जैमिनी की 'मोर्चे पर भारत', नरेश की 'डी सी रेट', कुणालसिंह की 'सनातन बाबू का दाम्पत्य', विवेक निझावन की 'जाने और लौट आने के बीच' गौरीनाथ की 'विश्वास', पंकज सुबीर की 'कुफ्र', पंखुरी सिंन्हा की 'यात्रा और संक्रमण' ऐसी कहानियाँ है, जो इन मुद्दों को प्रमुखता से रेखांकित करती है। इस तरह इक्कीसवीं सदी का कहानीकार न केवल भारतीय सामाजिक जीवन में बाज़ार के बढ़ते हुए हस्तेक्षप को चिन्हित करता है, अपितु भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने हमारे मन-मस्तिष्क और जीवन मूल्यों को कैसे प्रभावित और परिवर्तित किया है, यह भी बताती है। सत्ता और पूँजी के गठजोड़ को नंगा करती इन कहानियों में असंतुलित विकास का यथार्थ उद्घाटित है।

4.1.5. प्रजातांत्रिक मूल्यों का समर्थन और प्रखर राजनीतिक सरोकार

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानी अपने प्रखर राजनीतिक सरोकारों के लिए जानी जाती है। राजनीति के अपराधीकरण, गठबंधन की राजनीति, अलगाववाद, पुलिस प्रशासन पर हावी राजनीतिक भ्रष्टाचार, न्यायपालिका की निष्क्रियता, निरंकुश पुलिस तंत्र, साम्प्रदायिकता, आतंकवाद आदि ऐसे विषय है, जिन पर हिंदी कहानी आगे बढ़ रही है। राजनीति का अपराधीकरण, भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के बदलते स्वरूप को चिन्हित करता है। राकेश कुमार सिंह की कहानी 'खोई हुई कड़िया' राजनीति द्वारा अपराधियों के संरक्षण को उघाड़ती है, वहीं अरविन्द कुमार सिंह की 'लम्बी टेर का दर्द' राजनेताओं के अपराधों और हिंसक गतिविधियों से जूझती है। संजय कुंदन की कहानी 'मेरे सपने वापिस करो', गठबंधन की राजनीति में विचारधारा के अवमूल्यन को दिखाती है। अलगाववाद को लेकर वेदप्रकाश अमिताभ की 'गुरु-दक्षिणा', चित्रा मुदगल की 'लपटें,' परितोश चक्रवर्ती की 'बहरुपिये' धर्म के नाम पर हो रही राजनीति को उद्घाटित करती है।

विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र कहे जाने वाले भारत में प्रजातांत्रिक मूल्यों का हरण वर्तमान समय की बड़ी चुनौती है। राजनेता, पुलिस, प्रशासन, न्यायपालिका और मीडिया के क्षेत्र में कैसे हस्तक्षेप करते हैं, उसे इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी निरुपित करती है। राकेश कुमार सिंह की 'खोई हुई कड़ियाँ', सुदर्शन वशिष्ट की 'खाली कुर्सी' : अथ श्री सचिवालय कथा' जैसी कहानियाँ अफसरशाही पर राजनीतिक दबाव को उल्लेखित करती है। भ्रष्टाचार को मुद्दा बनाकर चंद्रकांता की कहानी 'सपने में गुलाब', संजय कुंदन की 'चिड़ियाघर' बताती है कि उचित अनुचित हितों की पूर्ति के लिए होने वाला भ्रष्टाचार समाज में असंतोष पैदा कर रहा है।

न्यायपालिका भारतीय लोकतंत्र का अभिन्न अंग है। देश में नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा और समाज में कानून व्यवस्था बनाए रखने का कार्य इसी के जिम्मे है, पर आज इनकी निष्पक्षता पर सवाल उठने लगे हैं। राकेश कुमार सिंह की कहानी 'खोई हुइ कड़ियाँ' इसकी विद्रूपता को सामने रखती है। पुलिस तंत्र की निरंकुशता को गौतम सचदेव की कहानी 'अपनो के लिए', मोहम्मद आरिफ की 'लू', श्यामल बिहारी महतो की 'सौदा' और 'बांध' जैसी कहानी प्रकट करती है। 'आपकी सेवा में हमेंशा तत्पर', 'सेवा, सुरक्षा और सहयोग' का स्लोगन देने वाली पुलिस के ईमानदार और भ्रष्ट चेहरों को इन कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। निष्कर्ष रूप में हिन्दी कहानी का न केवल परिक्षेत्र व्यापक हुआ है, बल्कि उसमें निरंतर जटिल होते यथार्थ के कलात्मक संश्लिष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। इसके लिए फैंटेसी, रूपक, प्रतीक और संकेत प्रयुक्त किए हैं।

4.2. हिन्दी कहानियों में चित्रित आदिवासी समाज

हिन्दी साहित्य में आदिवासी विषयक कहानी लेखन की परंपरा आजादी के बाद प्रारंभ हुई। भूमंडलीकरण से पूर्व आदिवासी जीवन को आधार बनाकर लिखे गये प्रमुख कहानी संग्रहों में देवेन्द्र सत्यार्थी का 'सड़क नहीं बंदूक' (1950 ई.), गुलशेर खां शानी का 'बबूल की छांव' (1957 ई.) पीटर पॉल एक्का के 'खुला आसमान-बंद दिशाएँ (1980 ई.) परती जमीन (1983 ई.) और राजकुमारों के देश में (1986 ई.) भगवतीशरण मिश्र का 'राह के पत्थर' (1982 ई.) और 'कांच के गुड्डे', वाल्टर भेंगरा तरूण का 'देने का सुख (1983 ई.) जंगल की ललकार (1989 ई.) आदि प्रमुख है। इस दौर की कहानियों की प्रमुख उद्देश्य आदिवासी संस्कृति के उन रीति-रिवाजों और परंपराओं से हिन्दी पाठक का परिचय कराना है, जिन्हें गैर आदिवासी समाज 'टैबू' के रूप में चिन्हित करता है। पीटर पॉल एक्का और वाल्टर भेंगरा 'तरूण' की कहानियों में आदिवासी प्रेम, समर्पण, ईमानदारी, सेवा, त्याग का आदर्श रूप, युवा जीवन की रोमानियत, शिक्षा, बेरोजगारी, स्त्री-पुरुष संबंध आदि विषयों को कथानक का रूप दिया है।

भूमंडलीकरण के प्रसार के साथ हिन्दी कहानी के स्वरूप में व्यापक परिवर्तन चिन्हित हुए। हिन्दी कहानी की विषयवस्तु में बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, सांस्कृतिक-विखराव, मध्यवर्गीय पारिवारिक संरचना में होने वाला विखंडन, नैतिकता और मूल्यों का ह्रास आदि का चित्रण प्रमुखता से होने लगा। कहानी की संरचना और शिल्प में भारी बदलाव इस दौर में देखने को मिला। इस दौर में स्त्री, दलित और आदिवासी जीवन से जुड़े अस्मिता विमर्श भी चर्चा के केन्द्र में आ गये। इन विमर्शों के साथ साहित्य की दुनिया में स्थापित मान्यताओं और मापदंडों को फिर से तराशे जाने की जरूरत महसूस हुई।

भूमंडलीकरण का सबसे ज्यादा नकारात्मक प्रभाव आदिवासी समुदायों पर पड़ा, इसलिए आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता का संकट इस दौर के आदिवासी विमर्श का प्रमुख सवाल बना। आदिवासी विमर्श में आदिवासी जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं को सामने लाने के साथ आदिवासी सभ्यता, संस्कृति और जीवन दर्शन को प्रस्तुत किये जाने की बात कही गई। इस बात को उभारा जाने लगा कि आदिवासी जीवन का चित्रण करना और सही रूप में चित्रण करना, दोनों भिन्न बातें है। हिन्दी कहानी में आये आदिवासी प्रसंगों को इन दोनों दृष्टियों से मूल्यांकित करने की आवश्यकता है।

भूमंडलीकरण के दौर (1991-2022ई.) में हिन्दी कहानी विधा के अंतर्गत आदिवासी विषयों को प्रमुखता से तरजीह देने वाले पहले दशक (1991-2000 ई.) के कहानी संग्रहों में शंकरलाल मीणा का 'आखिर कब तक' (1992ई.), नमिता सिंह का 'जंगल गाथा' (1992ई.) मंजू ज्योत्सना का 'जग गई जमीन' (1996ई.) मंगल सिंह मुंडा का 'महुआ के फूल' (1998ई.) रमणिका गुप्ता का 'बहु जुठाई' (1998ई.) प्रमुख है। भूमंडलीकरण का दूसरा दशक (2001-2010ई.) हिन्दी में आदिवासी कहानियों के प्रकाशन के हिसाब से बहुत ही समृद्ध दशक है। इस दौर में प्रकाशित कहानी संग्रहों में जियालाल आर्य का 'जंगल के खिलाफ़' (2002ई.) बटरोही का 'हिड़िम्बा के गाँव में' (2002ई.) राकेश कुमार सिंह के कहानी संग्रहों में 'ओह पलामू' (2004ई.) 'जोड़ा हारिल की रूपकथा' (2006ई.) 'हांका और अन्य कहानियां' (2006ई.) 'महुआ, मांदल और अँधेरा' (2007ई.), अमरेन्द्र किशोर का 'जंगल-जंगल लूट मची है' (2005ई.) श्यामल बिहारी महतो का 'बहेलियों के बीच' (2006ई.) मेहरूनिशा परबेज़ का 'मेरी बस्तर की कहानियां'(2006ई.) संजीव की कहानियों में 'संजीव की कथा यात्रा' के पहला, दूसरा और तीसरा पड़ाव (2008ई.) प्रत्यक्षा का 'जंगल का जादू तिल-तिल' (2008ई.) रोज केरकट्टा का 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' (2009ई.) ए.के. पंकज के 'पेनल्टी कोर्नर'(2009ई.) और 'इसी सदी के असुर' (2010ई.) वासुदेव का 'इस जंगल के लोग' (2009ई.) और रणेन्द्र का 'रात बाकी और अन्य कहानियाँ' (2010ई.) शामिल है।

भूमंडलीकरण का तीसरे दशक (2011 से 2020 ई.) के प्रमुख कहानीकार और उनके कहानी संग्रहों में पीटर पॉल एक्का का 'क्षितिज की तलाश में' (2011ई.) रूपलाल बेदिया का 'शून्य में अटके परिन्दे' (2012ई.) ए. के. पंकज का 'शालो' (2014ई.) और 'अथ हुदुड़ दुड़गम असुर हत्या कथा' (2016ई.) वाल्टर भेंगरा तरूण का 'अपना-अपना युद्ध' (2014ई.) रोज केरकट्टा का 'बिरूवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ' (2016ई.) के अलावा सम्पादित कहानी संग्रहों में केदारप्रसाद मीणा का 'आदिवासी कहानियाँ' (2013ई.) वासुदेव का 'कथा में झारखंड' (2014ई.) वंदना टेटे का 'एलिस एक्का की कहानियाँ' (2015ई.) और 'लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ' (2016ई.) डॉ. रमेशचंद मीना

का 'आदिवासियत और स्त्री चेतना की कहानियाँ' (2018ई.) अजय मेहताब का 'माँदर पर थाप' (2019ई.) प्रमुख है।

उक्त कहानी संग्रहों के अलावा विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं ने आदिवासी कहानी विशेषांक प्रकाशित किये, जिनमें दिनमान (1980ई.), धर्मयुग (1981ई.), समकालीन जनमत (सितंबर 2003ई.), अरावली उद्घोश (मार्च 2008 और मार्च 2010ई.), कथाक्रम (अक्टूबर-दिसम्बर 2011ई.), इस्पातिका (जनवरी-जून 2012ई), समवेत (जुलाई 2014 ई.) और कृतिकल्प खण्ड-तीन (जनवरी-जून 2015ई) शामिल है। उपर्युक्त सूची के अनुसार कहा जा सकता है कि हिन्दी कहानी में आदिवासी जीवन और समाज की उपस्थिति बहुत ही सुदृढ़ है। गैर आदिवासी और आदिवासी लेखकों ने आदिवासी समाज के दर्शन और समस्याओं को दो भिन्न नजरियों के साथ हिन्दी कहानियों में प्रस्तुत किया। गैर आदिवासी लेखकों को जहाँ आदिवासी जीवन की आर्थिक समस्याओं जैसे-विस्थापन, पलायन, आर्थिक शोषण, सामाजिक बदलाव आदि को प्रमुख समस्या के बतौर देखा, वहीं आदिवासी विमर्शकारों ने 'आदिवासी दर्शन' के आलोक में आदिवासी समाज और परिवेश में होने वाले बदलाव को रेखांकित किया। इनका मानना था कि आदिवासी परिवेश के बिना आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

4.2.1 हिन्दी के आदिवासी कहानीकार और उनकी कहानियाँ

हर समुदाय की अपनी एक विशेष कथा होती है, जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर मानवीय जीवन के सैंकड़ों अनुभवों को साझा किया जाता है। किसी समुदाय की आस्था, विश्वास और मूल्यों को अभिव्यक्ति देने में इन कथाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। हिन्दी के आदिवासी कहानीकार अपनी कहानी परंपरा के बीज पुरखा साहित्य में देखते हैं। हिन्दी के आरंभिक आदिवासी कहानीकारों में एलिस एक्का का नाम प्रमुख है, जिन्होंने बीसवीं सदी के छठवें-सातवें दशक के बीच हिन्दी में कहानी लेखन की शुरूआत की थी। इनकी ज्यादातर कहानियां 'आदिवासी' पत्रिका में प्रकाशित हुई, जिन्हें बाद में वंदना टेटे ने संकलित कर इन कहानियों को 'एलिस एक्का की कहानियाँ' शीर्षक से प्रकाशित करवाया। ये कहानियां उस दौर की है, जब हिन्दी में 'आदिवासी विमर्श' नाम की कोई चीज नहीं थी। इन कहानियों के माध्यम से एलिस एक्का ने आदिवासी समाज और उसके जीवन दर्शन को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

'एलिस एक्का की कहानियाँ' संकलन में 'दुर्गी के बच्चे और एल्मा की कल्पनाएं', 'वन कन्या', 'सलगी, जुगनी और अंबा गाछ', 'कोयल की लाडली सुमरी', '15 अगस्त', 'विलचो और रामू', 'धरती लहलहाएगी' आदि कहानियाँ प्रकाशित है। ये कहानियां एक तरफ आदिवासियों के प्रकृति के साथ

सहज रिश्ते को अभिव्यक्त करती है, वहीं दूसरी ओर आदिवासियों के खत्म होते जाने को रेखांकित करती है। 'दुर्गी के बच्चे और एल्मा की कल्पनाएं' मैला ढ़ोने की प्रथा पर केन्द्रित है। घरों में साफ-सफाई और मैला ढोने का कार्य करने वाली 'दुर्गी' इस प्रथा को सामाजिक विषमतापूर्ण स्थिति से जोड़ती है और उस परमात्मा को उलाहना देती है जिसने ऐसा समाज रचा- "हाय री दुनिया! एक ही सृष्टिकर्ता परमात्मा की संतानों में इतना फ़र्क! कोई हिंड़ोले पर झूलता है और कोई सिर पर मैले की बाल्टी लेकर घर-घर डोलता है। हाय विधाता, क्या तुम्हारा यही न्याय है?"[326] एलिस इक्का इस कहानी में दुर्गी के माध्यम से इस समस्या का हल भी प्रस्तुत करती है- "आजाद भारत के कोने-कोने बिल्कुल साफ-सुथरे हो जाते।... अगर सभी अपनी सफाई का काम स्वयं कर लेते।"[327] प्रो. गंगासहाय मीणा लिखते हैं कि-"हिन्दी दलित साहित्य के आन्दोलन से भी काफ़ी पहले आदिवासी लेखिका मैला ढ़ोने की प्रथा पर कहानी लिखती है और उसका खात्मा चाहती है। दूसरे इसमें मैले की समस्या का कोई काल्पनिक समाधान नहीं, बल्कि व्यावहारिक व ठोस समाधन है।"[328] वंदना टेटे इस कहानी के बारे में कहती हैं कि "यह सामूहिक अनुभूति की कहानी है जिसमें कथा कहने वाली और जिसकी कहानी है, दोनों एक धरातल पर खड़े है, एक बराबरी के साथ।"[329]

एलिस एक्का की कहानियों के संदर्भ में डॉ. गंगा सहाय मीणा लिखते हैं कि "इन कहानियों में जहाँ एक तरफ आदिवासियों के प्रकृति से सहज रिश्ते को दिखाया गया है, वहीं विभिन्न पात्रों के माध्यम से आदिवासियों के असमय खत्म होते जाने की नियति को भी चित्रित किया है। एलिस एक्का आदिवासी समाज में घर करती बुराईयों के प्रति भी सचेत् है।"[330] एलिस एक्का साठ के दशक में आदिवासी उम्मीदों को सामने रखने के साथ उस छल को भी उजागर करती है, जिसका शिकार आदिवासी होते हैं। डॉ. सावित्री बड़ाईक इन कहानियों पर टिप्पणी करती हुई लिखती हैं कि "एलिस एक्का अपनी कहानियों में आदिवासी समाज की मूल प्रवृतियों और जीवन मूल्यों को ध्यान में रखती है। उनकी कथा नायिकाएँ अपने आत्मनिर्णय के अधिकार और पहचान (अस्मिता) के लिए निरन्तर

[326] टेटे वंदना : एलिस एक्का की कहानियाँ, 2015, पृ. सं. 49

[327] टेटे वंदना : वही, पृ. सं. 50

[328] अमीन खन्नाप्रसाद : आदिवासी कहानी साहित्य और विमर्श, 2020, पृ. सं.12

[329] टेटे वंदना : एलिस एक्का की कहानियाँ, 2015 पृ. सं. 29

[330] अमीन डॉ. खन्ना प्रसाद : आदिवासी कहानी साहित्य और विमर्श, (सं.) 2020, पृ. सं. 12

संघर्ष करती है । समानता, सह-अस्तित्व, सहभागिता, सामूहिकता, श्रम के प्रति निष्ठा, स्त्री-पुरुष के बीच बराबरी आदि जीवनमूल्यों का वर्णन एलिस एक्का की कहानियों की विशेषता है ।"[331]

आदिवासी साहित्यकार शिशिर टुडू का कहना है कि- "इस पुस्तक से आदिवासी दर्शन के बारे में पता चलता है। यह मुख्यधारा से इतर है। आदिवासी दर्शन से ही दुनिया बचेगी। आज जो गलाकाट प्रतियोगिता और विकास की अंधी हवा बह रही है, वह सृष्टि के लिए खतरा है। मुख्यधारा के दर्शन में मनुष्य ही श्रेष्ठ है, जबकि आदिवासी दर्शन में वह एक इकाई है । जैसे पहाड़ है, झरना है, उसी प्रकार मनुष्य भी है ।"[332] आदिवासी दर्शन और साहित्य की समीक्षक एवं 'एलिस एक्का की कहानियाँ' पुस्तक की संपादक वंदना टेटे पुस्तक की भूमिका में लिखती है कि "बेशक! एलिस बहुत ही मामूली कथाकार है । जादुई यथार्थ और किसी भी चमत्कार के दावे से परे । उनकी कहानियों में प्रकृति है, समाज है, संगीत है, जीवन की लय है और बाहरी तथा भीतरी समाज के घात-प्रतिघात भी हैं ।...आदिवासी जीवन परंपरा और सहजीवी आदिवासी दर्शन का एलिस अपनी कहानियों में बख़ूबी और पूरे कौशल के साथ निर्वाह करती है ।'[333]

'रामदयाल मुंडा' का नाम एक राजनीतिज्ञ, सांस्कृतिक-कर्मी, कवि, भाषाविद् और आदिवासी चिंतक के रूप जाना जाता है, पर उनकी एक कहानी बहुत चर्चित रही- 'खरगोशों का कष्ट'। यह कहानी संकेत करती है कि 'जिन बाहरी दिकूओं से आदिवासियों को खतरा होता है, उन्हीं की संगत में बैठकर एक आदिवासी वही भाषा बोलने लगता है । इस कहानी में खरगोश आदिवासी और सिंह दिकूओं के प्रतीक रूप में है । सिंहों से बचने के लिए उनकी कमजोरियों को जानना अहम है । इसलिए सभी खरगोश मिलकर एक खरगोश को सिंह की खाल पहनाकर उनके बीच भेज देते हैं, सिंह भी इस चालाकी को जानते हुए उसे अपने पक्ष में कर लेते हैं। जब वह खरगोश वापिस अपनों के पास जाता है तो वह कहता है कि 'हमें सिंहों के साथ मिलकर अलग राज्य की कोशिश करनी चाहिए, क्योंकि हमें शासन करना नहीं आता। हमें खरगोशों की तरह रहना छोड़कर सिंहों की तरह रहना चाहिए।' यह एक प्रतीक भाषा में गैर आदिवासियों की संगत में बदलते आदिवासियों के दलाल चरित्र का चित्रण है । रामदयाल मुंडा की एक अन्य कहानी 'उस दिन रास्ते में' आदिवासी समाज में प्रेम की बहुत गहरी और लोकतांत्रिक समझ प्रस्तुत करती है। प्रोफेसर वीरभारत तलवार इस कहानी को 'एक अधूरा गीत' कहते

---

[331] बडाईक डॉ. सावित्री : हिन्दी की आदिवासी कथा लेखिकाएं, आदिवासी साहित्य (त्रैमासिक), अंक 4-5, अक्टूबर 15, मार्च 2016, पृ. सं. 47

[332] आदिवासी दर्शन से ही बचेगी दुनिया : जागरण, 22 नवम्बर 2015, रांची संस्करण

[333] टेटे वंदना : एलिस एक्का की कहानियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ.सं. 33

हैं, वहीं डॉ. केदार प्रसाद मीणा इसे 'उसने कहा था' कहानी का प्रतिरूप मानते है। फ्लैशबैक पद्धति और मुंडारी लोक शब्दों का प्रयोग इस कहानी को अनुपम बनाता है।

वाल्टर भेंगरा 'तरुण' की कहानियाँ भी आदिवासी समाज के साथ बाहरी लोगों के रिश्तों को उजागर करती है। इनके कई कहानी संग्रह प्रकाशित हुए, जिसमें 'लौटती रेखाएं' (1980) 'देने का सुख' (1983) 'जंगल की ललकार' (1989) और 'अपना-अपना युद्ध' (2014)। वाल्टर भेंगरा 'तरुण' हिन्दी में लिखने वाले वरिष्ठ आदिवासी 'कथाकार' है। इनकी पहली कहानी 'वह कौन थी' 1963 ई. में प्रकाशित हुई। पहला कहानी संग्रह 'लौटती रेखाएँ'10 हिन्दी कहानियों का लघु संकलन है, जो 1980 में प्रकाशित हुआ। 'देने का सुख' कहानी संकलन में कुल 15 कहानियां है।1989 में बिहार सरकार के राजभाषा विभाग ने इनके तीसरे कहानी संकलन 'जंगल की ललकार' को जनजातीय ग्रंथ प्रकाशन अनुदान आयोग के तहत 1987-88 में पुरस्कृत भी किया। 'अपना-अपना युद्ध' में 16 कहानियाँ है जो 2014 में प्रकाशित हुई। भूमंडलीकरण की शुरुआत के साथ वाल्टर भेंगरा 'तरुण' की कहानियों में सत्ता की संवेदनहीनता, वन विभाग की ज्यादतियां, शोषण-दमन का औपनिवेशिक रवैया, विस्थापन और पलायन का दर्द, जल-जंगल,जमीन को बचाने की जद्दोजहद को दर्ज़ किया है। वाल्टर भेंगरा एक सजग आदिवासी कहानीकार के रूप में नई आर्थिक नीतियों के चलते आदिवासी समाज के समक्ष उपस्थित चुनौतियों का बारीकी से उल्लेख करते हैं। कहानीकार जानता है कि यदि आदिवासी अपने परंपरागत कौशल, खेती-बाड़ी और आहार परंपरा से दूर हो जायेंगे तो अपनी संस्कृति, परंपरा और जीवन शैली को भी नहीं बचा पायेंगे।

वाल्टर भेंगरा 'तरुण' के पहले कहानी संग्रह 'लौटती रेखाओं' में युवा जीवन की रोमानियत, शिक्षा, बेरोजगारी, स्त्री-पुरुष संबंध, प्रेम जैसे विषयों को कथानक का रूप दिया है। प्रेम, सेवा, त्याग, बलिदान का आदर्श रूप इनकी कहानियों में मिलता है। इस संग्रह की प्रमुख कहानियाँ 'वह भी मेरा भाई है', 'भूल', 'नाता' और 'प्रेरणा' आदि है। पुनीता जैन वाल्टर भेंगरा के प्रारम्भिक कहानी संकलन के बारे में लिखती हैं कि "वाल्टर भेंगरा जहाँ प्रारंभिक दो कथा संग्रह में सेवा, क्षमा, प्रेम, त्याग को मिशन भाव से स्थापित करते हैं, वहीं बाद के दो संग्रहों में आदिवासी संस्कृति, आर्थिक विस्थापन, उत्पीड़न व संकट को कथा विषय में पिरोते हैं।"[334] 'जंगल की ललकार' बारह कहानियों का महत्वपूर्ण संकलन है। इसकी भूमिका में लेखक लिखता है-"जंगल की ललकार और अन्य कहानियाँ छोटा नागपुर वनांचल में उत्पन्न वन कुसुम हैं। यहाँ के भू-पुत्र एवं पुत्रियों की जीवन गाथा को उजागर करने का यह महज एक

[334] setumag.com /2019/11/walter-Bhengra-jarun jtm

संवेदनशील प्रयास है ।"[335] वाल्टर भेंगरा की कथा प्रौढ़ता इस संग्रह की पहली कहानी 'जंगल की ललकार' में ही दृष्टिगत हो जाती है, जिसमें आदिवासी जीवन जगत के संकट को सशक्त रूप से प्रस्तुत किया है । औपनिवेशिक शासन काल में 'लार्ड कार्नवालिस' द्वारा थोपी गई' स्थाई बंदोबस्त की प्रणाली-1793 और वन अधिनियम कानून-1865 ने आदिवासियों को जंगल से दूर करने और जंगल को सरकारी संपत्ति बनाकर भविष्य के आदिवासी विस्थापन की नींव रख दी । उक्त कहानी बताती है कि कैसे जंगल के संरक्षण के नाम पर जंगल में आदिवासियों का प्रवेश वर्जित कर दिया जाता है, वे किसी भी उत्पाद के लिए जंगल का प्रयोग नहीं कर सकते हैं। यह जंगल आश्रित आदिवासी समाज के लिए भयानक सपने की तरह है।

'बुदु मुंडा' बरसात के दिनों और बेटी के विवाह के लिए जंगल से लकड़ियों का संग्रह करता है, किन्तु रेंजर और पुलिस के प्रकोप से बच नहीं पाता । उसे कैद कर लिया जाता है, जबकि उसकी बेटी 'मंगरी' की लाश सड़क किनारे मिलती है। वहीं दूसरी ओर शंभू सेठ के अवैध ट्रक दिन-रात लकड़ियों को शहर पहुँचाते हैं, वह भी रेंजर और पुलिस गार्ड के सामने से, खुलेआम । यह वनों का ही नहीं,आदिवासियों का भी उच्छेदन है। तीन माह जेल काट कर लौटा बुदु मुंडा जंगल जाने का साहस नहीं जुटा पाता, वह टूटन और बिलगाव में चला जाता है। उसका बेटा शहर में मजदूरी को विकल्प के रूप में चुनता है, पर शहर भी उसे आश्रय नहीं देता । इस तरह विस्थापन, शोषण और पलायन को यह कहानी बहुत मार्मिक ढंग से उजागर करती है।

'जंगल की ललकार' कहानी में वाल्टर भेंगरा इस तथ्य को भी उद्घाटित करते हैं कि जंगल आदिवासियों की परंपरागत व्यवस्था का हिस्सा है, बिना जंगल के आदिवासी की कल्पना करना भी बहुत मुश्किल है। जंगल पर आदिवासियों के पुश्तैनी अधिकारों को मान्यता नहीं देकर सरकारों ने उन्हें घुसपैठिया घोषित कर दिया है, जिससे वन विभाग की ज्यादतियों का सामना उन्हें करना पड़ता है । जंगलों से दूर होते जाने की मजबूरी ने आदिवासी समाज में गरीबी और कुपोषण को जन्म दिया । कहानी के अंत में बुदु मुंडा का बेटा 'पांडू' और 'चानो' निजी जंगल उगाते हुए दिखाई पड़ते है जो कि आदिवासी संस्कृति में जंगल के महत्त्व और सहजीवी संबंध को उजागर करता है । यह आज की नगरीय संस्कृति के बिलकुल उलट है । पर्यावरण के प्रति आदिवासी समाज की यह सजगता सिद्ध करती है कि यथार्थ में जंगल लगाने की चिंता आदिवासियों में आज भी जीवंत है। आदिवासी जीवन तभी तक बचा रह सकता है, जब तक जंगल कायम है- "हम अपना जंगल लगा रहे हैं बाबा। यह गाँव का जंगल होगा। इसे सरकार भी नहीं ले सकती, यह हमारी खूंट कटी जमीन है। अब हमें तुम्हारे समान

[335] तरूण वाल्टर भेंगरा : जंगल की ललकार' 1989, पुनर्प्रकाशन 2014, भूमिका से

जेल जाना नहीं पड़ेगा। हम अपने पेड़ों की लकड़ियां काटेंगे। कोई सिपाही मंगरो या चानो को पकड़कर नहीं ले जायेगा।"[336] एक आदिवासी बच्चे को यह कहने और करने की जरूरत इसलिए है, क्योंकि उसे उसी के जंगल से दूर किया जा रहा है। यह वर्तमान सत्ता के आदिवासियों के प्रति असंवेदनशील होते जाने का उदाहरण है।

पूर्वी सिंहभूमि के मुटुरखंड गाँव की अड़तीस वर्षीय पद्मश्री पुरस्कार से सम्मानित 'लेडी टार्जन' के रूप में ख्याति प्राप्त करने वाली 'जमुना टूडू' जंगली माफियाओं से मुठभेड़ करती हुई जंगल को घना करने में लगी है, वहीं असम के 'जादव मोलाई पायेंग' जो कि 'फ़ॉरेस्ट मैन' के नाम से प्रसिद्ध है, अपने जीवन के 30 वर्ष लगाकर 1360 एकड़ में बिना किसी मदद के जंगल उगा देते हैं। इसी तरह कर्नाटक की साल्लुमरादा थीमक्का चार हजार बरगद समेत आठ हजार हजार से ज्यादा पेड़ लगाकर 'वृक्षमाता' कहलाती है। वस्तुतः यह प्रकृति की चिंता का स्वभाविक आदिवासी संसार है।

वाल्टर भेंगरा 'तरुण' का कहानी संसार आदिवासी जीवन शैली के अभिन्न अंग के रूप में सांस्कृतिक वैभव को तो उकेरता ही है, उससे कहीं ज्यादा उदारीकरण, औद्योगीकीकरण और कथित विकास के कारण आदिवासी जगत में उत्पन्न संकट को अभिव्यक्त करता है। 'जंगल की ललकार', 'सोमा', 'संकल्पदीप' कहानी आदिवासी संघर्ष चेतना को उजागर करती है, वहीं 'संगी', 'पलाश' जैसी कहानियाँ आदिवासी श्रमिकों के पलायन और शोषण की ओर ध्यान दिलाती है। बांध निर्माण, गरीबी और बेकारी से त्रस्त आदिवासी पलायन को मजबूर है। 'बसेरे की ओर' कहानी इसका संकेत करती है। गाँव में सूखे का सामना करते हुए वीरसिंह मुंडा शहर आकर ईंट-भट्टे पर काम करता है, रिक्शा चलाता है, फिर भी कुछ अर्जित नहीं कर पाता, अपितु वह अपनी माँ और प्रेमिका को भी खो देता है। वाल्टर भेंगरा के तीसरे संकलन में कुछ चरित्र प्रधान कहानियाँ भी हैं जैसे- चैतू, फूलो, पालू, दुलारी, पंचु आदि। इन कहानियों में मानवीय जीवन की विवशता और बेचारगी दर्ज़ है।

'चैतू' कहानी एक आदिवासी की विवशता, खत्म होती संघर्ष चेतना और बेचारगी को कलमबद्ध करती है। चैतू की जमीन का बँटवारा, बेटी के विवाह के कारण आधी जमीन का बिकना, आदिवासी किसान की बदहाली की शुरूआत है। बैंक से बकरी और सुअर पालन हेतु दो हजार कर्ज लेने वाला चैतू एक हजार ही प्राप्त करता है। एक हजार रुपये भ्रष्ट सिस्टम निगल जाता है। दो हजार का ठप्पा चैतू के माथे मंडता है। ऐसी बदतर हालत में सारे जानवर बिक जाते हैं। आखिरी मुर्गे को बेचकर नमक और मिट्टी के तेल का इंतजाम करने की जगह हडिया पीकर नशे में मस्त गाता हुआ चैतू अपनी

[336] 'तरूण' वाल्टर भेंगरा : पूर्वोक्त, 2014, पृ.सं. 9-10

जिंदगी के गमों को हलका करता है। नियति की मार और बदहाली की चरम स्थिति, संघर्ष की चेतना को खत्म कर देती है, यही इस कहानी का सार है। 'फूलो' कहानी भी 'जंगल की ललकार' कहानी संग्रह का हिस्सा है। यह कहानी 'फूलो' के चरित्र के माध्यम से आदिवासी स्त्री की व्यथा, जीवन संघर्ष और शोषण को उजागर करती है। 'फूलो' कहानी में शहर का फोटोग्राफर आदिवासी जीवन के विविध रूपों को कैद करने के लिए आदिवासी गाँव में जाता है, जहाँ उसे बाहरी हस्तक्षेप से उकेरे हुए शोषण के अनेक चित्र दिख जाते हैं। गाँव में प्रवेश करते ही वनरक्षकों की नज़र से बचने का प्रयास करती फूलो, बाहरी लोगों द्वारा फूलो के प्रेमी को मारने, फूलो पर बहिरागतों की नज़र और अंत में उसकी हत्या के माध्यम से कहानीकार यह सिद्ध करता है कि आदिवासी समाज लैंगिक समानता का हिमायती है, जबरदस्ती, बलात्कार और हत्या जैसी क्रूरता वहाँ नहीं है। वहाँ स्त्री के विचार और भावनाओं की कद्र है, पर बाहरी हस्तक्षेप ने उनका जीवन तहस-नहस कर दिया है। आदिवासियों की संस्कृति, कला और नृत्य-संगीत बाहरी लोगों के लिए आकर्षण एवं अजूबे का केन्द्र है। भूमंडलीकरण ने इसे बाज़ार की वस्तु बना दिया है। बाहरी हस्तक्षेप और आदिवासी शोषण को उजागर करती हुई 'फूलो' कहानी आदिवासी स्त्री की विवशता, बेचैनी और जीवन संघर्ष को व्यक्त करती है। वाल्टर भेंगरा की 'पालू' कहानी आपसी प्रेम को प्रकट करती है, वहीं 'निर्णय' जैसी कहानी उच्च शिक्षा प्राप्त आदिवासी युवकों में आदिवासी समाज के लिए कुछ कर गुजरने का भाव भरती है।

वाल्टर भेंगरा 'तरुण' का 'अपना-अपना युद्ध' कहानी संग्रह शहरी जीवन की समस्याओं जैसे भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, घरेलू हिंसा और स्त्री की दृढ़ इच्छाशक्ति को व्यक्त करता है। 'खखरा' नामक कहानी शिक्षित आदिवासी युवक के गाँव लौटने और आदिवासी जीवन में सुधार हेतु स्कूल, अस्पताल, कुटीर उद्योग की स्थापना का कथानक बुनती है। 'करमी' कहानी में जंगली हाथियों का आतंक, 'पोठी' कहानी में पलायन और विस्थापन से खाली हुए गाँव और वहाँ के लोगों की मानसिक स्थिति दिखाई गई है, साथ ही इस कहानी में रासायनिक खाद-बीजों के प्रयोग के कारण खेतों के पानी में मिलने वाली मछलियों के खत्म होते जाने को चिन्हित किया गया है। इन कहानियों के अलावा 'लड़ाई जारी है' और 'एक और भगदेलना' कहानी नक्सली समस्या और आदिवासी जीवन दर्शन पर बाहरी प्रभाव को रेखांकित करती है। 'लड़ाई जारी है' कहानी जंगल पर सरकारी आधिपत्य, जमीन अधिग्रहण, बांध निर्माण, कल-कारखानों के खुलने जैसी गतिविधियों से आदिवासी जीविका उपार्जन को हरने वाले खतरों को व्यक्त करती है।

'एक और भगदेलना' कहानी आदिवासी और सभ्य समाज के मुख्य अन्तर को उजागर करती है और वह है स्त्री की स्वतंत्रता। उक्त कहानी लैंगिक भेदभाव के नकार के साथ, यौन शुचिता की छद्म

वर्जनाओं को तोड़ती है। 'सुसारी' नामक महिला का पति फौज में है, जहाँ से वह अपनी पत्नी को नियमित पैसे भेजता है, पर कोई खोज खबर नहीं लेता। उदासी और अकेलेपन में वह अपने संगी जुलतन से संबंध स्थापित करती है। कहानीकार लिखते हैं कि-"जीवन में अगर संगी-साथी न हो न, तो लंबी जिंदगी कटेगी नहीं। जीवन में आत्मा के साथ शरीर को भी बहुत कुछ चाहिए।"[337] यह कहानी कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो मरजानी' की 'मित्रो' की याद दिलाती है। यहाँ 'देह की इच्छाओं' का पूर्ण स्वीकार है। यह कहानी स्वतंत्र चेतना और नैतिकता का द्वन्द्व प्रस्तुत करती है। कुल मिलाकर पूँजीवादी विकास के दुष्परिणामों को प्रकट करने में वाल्टर भेंगरा की कहानी बहुत हद तक सफल हुई है ।

पूर्वी राजस्थान की मीणा जनजाति पर हरिराम मीणा और विजयसिंह मीणा ने कई महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी है। विजय सिंह मीणा की कहानियां बदलती स्थिति में सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों और उत्सव-उल्लास को आधार बनाती है। इनके दो कहानी संग्रह 'सिसकियां' और 'रहना नहीं देश बिराना है' प्रकाशित हुए हैं। इन कहानियों पर टिप्पणी करते हुए कथाकार विवेक मिश्र लिखते हैं कि "विजय सिंह मीणा जी की कहानियां सिर्फ़ कहानियाँ मात्र नहीं है, बल्कि गाँव-देहात से निकली वो पगडंडियाँ है, जो शहर तक आते-आते धूल और धुएँ में कहीं बिला गयी है, उनको खोजने और निशानदेही की साहसिक कोशिश है।... विजय सिंह एक अच्छे किस्सागो इंसान है, जो बहुत रोचक और प्रवाहमय ढ़ंग से पूरे मन-प्राण से अपनी कथा कहते हैं। राजस्थान के गावों के खुरदरे यथार्थ का जीवन्त और ईमानदार चित्रण विजयसिंह मीणा ने अपनी कहानियों में व्यक्त किया है। उनकी कहानियों में मीणा समाज के परिवर्तन और विकास के संघर्षों की गूंज के साथ-साथ मीणा लोक संस्कृति की आत्मा बसती है।"[338]

विजयसिंह मीणा की कहानी 'मेरी भव बाधा हरो' मीणा आदिवासी समाज में विधवा महिला की स्थिति, पंच-पंचायती, आपसी डाह को चित्रित करती है। इनकी दूसरी कहानी 'सिसकियाँ' स्त्री की अतृप्त इच्छाओं, झूठी शान और कठोर जमीनी यथार्थ को अभिव्यक्त करती है। विजय सिंह मीणा की अन्य प्रमुख कहानियों में 'गंगाजी के घाट पर', 'कोऊ नृप होई हमें का हानि', 'दाव-पेंच', 'दूध की लालसा', 'रहना नहीं देश विराना है' आदिवासी मीणा समाज के अंदरुनी तान-तनाव को सामने रखती है। सांस्कृतिक जीवन में हो रही उठा-पटक और आधुनिकता का आदिवासी जीवन में प्रवेश इन कहानियों का मुख्य कथानक है। राजस्थानी आदिवासी मीणा समाज को आधार बनाकर हरिराम मीणा

[337] तरूण' वाल्टर भेंगरा : अपना अपना युद्ध, पृ.-62

[338] अमीन डॉ. खन्नाप्रसाद : आदिवासी कहानी साहित्य और विमर्श, 2020, पृ.सं. 16

ने भी 'पांच्या', 'बोत्या', 'बोड़ल्या' और 'सांवड्या' जैसी चरित्र प्रधान कहानियाँ लिखी। ये कहानियाँ मीणा आदिवासी लोक का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करती है।

रोज केरकेट्टा, हिन्दी आदिवासी कहानी में एक जाना माना नाम है। इनके अभी तक दो कहानी संग्रह- 'विरुवार गमछा' और 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' प्रकाशित हुए है। आदिवासियत को समेटे हुए इनकी कहानियाँ आदिवासी समाज में स्त्री की दशा का सशक्त चित्रण प्रस्तुत करती है। रोज केरकेट्टा आदिवासी समाज में स्त्री-पुरुष समानता का जो बाहरी मिथ बना हुआ है, उसे अपनी कहानियों में तोड़ती हुई नज़र आती है। वे यह बताने का प्रयास करती है कि आज सच्चाई इसके बिल्कुल उलट है, वहाँ भी पितृसत्ता उसी तरह अपना वर्चस्व कायम कर रही है, जिस तरह मुख्यधारा में है। 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' संकलन की अधिकांश कहानियाँ जैसे 'भंवर', 'घाना लोहार का', 'केराबांझी', 'छोटी बहु', 'गंध', 'मैना' आदि स्त्री प्रतिकार का तीव्र स्वर व्यक्त करती है। 'भंवर' कहानी एक ऐसी विधवा की कहानी है जिसका कोई बेटा नहीं है, केवल बेटियाँ है। उनका अपनी जमीन पर सामाजिक और कानूनी हक बनता है, लेकिन पितृसत्ता इसे मंजूर नहीं करती, वह उन्हें प्रताड़ित कर उनकी जमीन हड़पना चाहती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था से घिरी स्त्री समाज के सामने विवश और लाचार नज़र आती है। रोज केरकेट्टा की कहानियों में स्त्री पात्र चुप नहीं है, वे अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत् है, उनमें प्रतिरोध की चेतना है। इसे उनकी ज्यादातर कहानियों में देखा जा सकता है।

'पगहा जोरी जोरी घाटो' कहानी संग्रह की समीक्षा करते हुए रणेन्द्र लिखते हैं कि- "कथाकार की सचेत् स्त्री दृष्टि आदिवासी झारखण्डी समाज में स्त्री-पुरुष समानता के कथित मिथ को एक झटके में तोड़ती नज़र आती है। कहानियाँ बिना शोर किए यह बताती है कि पितृसत्ता यहाँ भी है, जो बेटियों-स्त्रियों का जमीन पर अधिकार नहीं स्वीकार करती, बेटों को बेटियों से ज्यादा तरजीह देती है। इन कहानियों की विशिष्टता यह है कि यहाँ स्त्री-बेटियां प्रतिकार करती दिखती हैं, जबरदस्त प्रतिकार।"[339] इसी क्रम में प्रो. वीरभारत तलवार लिखते हैं कि "रोज केरकेट्टा के इधर आये कहानी संग्रह 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' में झारखंड के आदिवासियों की संस्कृति, उनके समाज को मथने वाली समस्याएँ, उनकी दुविधाएँ, तनाव और कोमल भावनाएँ, इन सबके साथ-साथ इस कहानी संग्रह में पिछले पच्चीस-तीस वर्षों के अंदर आदिवासी समाज में हुई गहरी उथल-पुथल, आंतरिक परिवर्तनों की झलक और इधर उभरी नारीवादी चेतना भी मिल जायेगी।"[340]

[339] केरकेट्टा रोज : पगहा जोरी जोरी रे घाटो, समीक्षकों की नजर में, पृ. 7

[340] कथाक्रम : आदिवासी विशेषांक, अक्टूबर-दिसम्बर 2011, पृ. सं. 13

हिन्दी कथा साहित्य में जब आदिवासी स्त्री का चित्रण होता है तो वह प्रायः लाचार, अशिक्षित, ठिगनी, काली, दुबली-पतली स्त्री का चित्रण है। रोज केरकेट्टा इन स्त्रियों की आवाज बनती है, इसलिए वे अपने अधिकारों के प्रति संघर्षरत् है। कहानी 'घाना लोहार का' एक आदिवासी स्त्री का गैर आदिवासी मरद से विवाह संबंध स्थापित होना दिखाती है। यह स्त्री अन्य घरेलू स्त्रियों की तरह श्रमजीवी है, वह हर काम करती है पर वह जो नहीं कर सकती, वह है- पानी भरना और रसोई बनाना। गैर आदिवासी समाज उसको संपत्ति के अधिकार से वंचित रखता है। कहानी नायिका 'रोपड़ी' अपने पति 'जगतसिंह' से अपने पुत्र के लिए संपत्ति में हिस्सा माँगती है, पंच-पंचायत बुलाती है, पर वहाँ भी उसे न्याय नहीं मिलता, तो अंत में जगतसिंह की हत्या कर देती है। रोज केरकेट्टा की कहानी 'केराबांझी' स्त्री प्रतिकार को दूसरे ढ़ंग से व्यक्त करती है। पुरुषसत्तावादी समाज में स्त्री कोई स्वतंत्र निर्णय लेने या पलटकर जवाब देने का साहस नहीं करती है। केराबांझी कहानी में स्त्री-नायिका बच्ची को जन्म देना चाहती है, पर ससुर को बेटा चाहिए- "ई बालधनवा को देखो एक गो बेटी जनमा के तरना चल रहा है। अरे कोटि कुफुर से का होगा। कनियों आइसने लाया है। अरे! बहुवा पूरा समाज, जात-गोतिया तुम्हें नाम धरेगा। केराबांझी कहेगा रे। हां केराबांझी करेगा।'

आदिवासी समाज जैसे-जैसे आजीविका के स्त्रोतों से दूर होता गया, उसी क्रम में आदिवासी स्त्री की स्थिति खराब होती गई। बेदख़ली, विस्थापन और पलायन के क्रम में आदिवासी स्त्री को सबसे अधिक मार झेलनी पड़ी। रोज केरकेट्टा की कहानी 'गंध' में आदिवासी कथा नायिका छेड़खानी का विरोध ही नहीं करती, सामने वाले पर मुक्कों की बौछार भी कर देती है। यह कहानी आदिवासी स्त्रियों को शहर में बेचे जाने और उनकी खरीद-फरोख्त का संकेत करती है। रणेन्द्र ने इस कहानी की समीक्षा करते हुए लिखा हैं कि-"रोज ही के इस संग्रह में छोटी कहानी है गंध। छोटी सी यह कहानी अत्यंत प्रतीकात्मक है। यह जोर से कुछ नहीं बोलती, सिर्फ़ इशारा करती है। यह इशारा करती है मानव व्यापार की ओर, गैर कृषि के दिनों में गाँव के युवक-युवतियों को रोजगार के नाम पर फुसलाकर बाहर ले जाने की प्रक्रिया की ओर, जिसमें गाँव से निकली दस लड़कियों में से दो सदा-सदा के लिए खो जाती है। कभी लौटकर नहीं आती। उनके पदचिन्ह् उनके गांवों की तलाश करते रह जाते हैं।"[341] झारखंड़ में आज भी मानव तस्करी जारी है बाजारू संस्कृति इन स्त्रियों से किस तरह व्यवहार करती है उसी तथ्य को ये कहानियां प्रस्तुत करती है। गरीबी से लाचार, रोजगार की तलाश में व्यक्ति प्रतिकार करने की स्थिति में नहीं होता, यही संदेश पाठक को सोचने-विचारने पर मजबूर करता है।

[341] केरकेट्टा रोज : पगहा जोरी-जोरी रे घाटो, समीक्षकों की नजर में, पृ.- 89

'पगहा जोरी जोरी रे घाटो' संकलन की प्रनिनिधि कहानी है। यह आदिवासियों में स्त्री शिक्षा के प्रश्न को यथार्थ के धरातल पर चित्रित करती है। कहानी की पात्र दया पढ़ना चाहती है, पर पितृसत्ता के बंधन इसमें आड़े आते हैं। जब वह अपनी माँ को यह बात बताती है तो माँ भी कहती है- " पढ़ के क्या करेगी। बियाह होगा तो ससुराल में भी चूल्हा फूंकेगी, काम सीखो बेटी। सिखलाही बहु को सास भी प्यार नहीं करती। सास को तो कमनी बहु चाहिए। पागल मत बनो।"[342] माँ का यह कथन पितृसत्ता के आदिवासी समाज में गहरे धंसते जाने का संकेत करता है, जहाँ स्त्री भी उसे स्वीकार कर चुकी है। कहानी आदिवासी समाज के बारे में प्रचलित स्त्री-पुरुष समानता के मिथ को तोड़ती नज़र आती है। लड़कियों को 'पराये घर की अमानत' माने जाने की मानसिकता पर लेखिका कड़ा प्रहार करती है संकलन की एक अन्य कहानी 'आँचल का टुकड़ा' में कथानायक 'सामेल' की कहानी के माध्यम से आदिवासी समाज की वर्तमान दशा का चित्रण किया है। किस तरह आदिवासी अपने आंतरिक बदलावों से गुजरते हुए शहरों में अपनी 'खिलंदड़ी' प्रवृति से दूर होते जा रहे है। नाच-गान के साथ खेल भी आदिवासी जीवन का हिस्सा है, शहरों की भाग-दौड़ भरी जिंदगी के साथ ये सारी चीजें भी मिटती जा रही है।

जिस तरह नागार्जुन अपनी कविता के माध्यम से हिन्दू समाज के, ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित समाज के अंतर्विरोधों को उजागर करते है। उसी तरह रोज केरकेट्टा का संकलन 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' आदिवासी समाज के अंतर्विरोधों को उजागर करता है। 'प्रतिरोध की कहानी' शीर्षक समीक्षा के माध्यम से किशन कालजयी ने रोज केरकेट्टा की कहानियों का मूल्यांकन आंचलिकता के सदर्भ में करते हुए लिखा है-"रेणु की कहानियों में अगर अंग है। मनोहर श्याम जोशी के उपन्यासों में कुमायूँ है। अमृता प्रीतम की कहानियों में पंजाब है। रामधारी सिंह दिनकर की कहानियों में मिथला है, तो रोज केरकेट्टा की कहानियों में झारखंड है।"[343]

'बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ' रोज केरकेट्टा का दूसरा प्रमुख कहानी संग्रह है। इस संग्रह के बारे में कथाकार विनोद कुमार लिखते हैं-"इस संग्रह की छोटी-छोटी कहानियों के माध्यम से वे लगभग उन तमाम सवालों को संबोधित-एड्रेस करती हैं, जो आदिवासी समाज के जीवन और अस्तित्व का प्रश्न बना हुआ है। विस्थापन की पीड़ा, पलायन की त्रासदी, औद्योगीकरण से तवाह होता आदिवासी समाज, गैर आदिवासी समाज के बीच जगह बनाने के लिए आदिवासी युवती की जद्दोजहद, अपसंस्कृति का बढ़ता प्रभाव और पुरुखों की विरासत से जुड़े रहेने की अदम्य इच्छा, ये

[342] टेटे वंदना : पगहा जोरी जोरी रे पाटो, पृ.- 139

[343] कालजयी किशन : प्रतिरोध की कहानी (पगहा जोरी-जोरी रे घाटो: समीक्षकों की नजर में) पृ.30

सभी रोज की कहानियों की विषयवस्तु है, लेकिन उसी तरह कथानक में छुपा हुआ, जैसे फूलों में सुगंध होती है। अपनी बात कहने के लिए किसी एक स्थान पर भी रोज उपदेशक नहीं बनती और न आदर्शों का बखान करती है।"[344] इसी फ्लैप पर फादर पीटर पॉल एक्का लिखते हैं- "सात दशकों की पृष्ठभूमि में लिखी ये कहानियाँ आदिवासी समाज की सच्ची तस्वीर पेश करती है। आजादी के पहले जिस तरह के हालात थे, परंपराएँ थी, आदिवासी जीवन दर्शन था, जल-जंगल और जमीन से जुड़े रहने का जज्बा था, अपनापन था-किस तरह उसमें तब्दीलियाँ आई, उन पर बाहरी माहौल, परंपराओं, संस्कृति के हमले हुए-इन तमाम हकीकतों की पृष्ठभूमि में इन कहानियों को बहुत ही सशक्त ढंग से उभारा गया है। विकास परियोजनाओं का दौर चला। उन परियोजनाओं में उनके खेल-खलिहान, गाँव-घर डूबते चले गए और तब विस्थापन, पलायन, शोषण का एक अंतहीन सिलसिला शुरू हो गया। आदिवासी समाज अब खुद को कहाँ पाता है-उनकी अस्मिता, उनका अस्तित्व कहां रचता-बसता है-रोज की कहानियों में यही सब है और आदिवासी समाज की नई दिशाएं भी, जो हमें सोचने पर मजबूर करती है।"[345]

पीटर पॉल एक्का हिन्दी के प्रमुख आदिवासी कथाकार है। इनके अभी तक चार कहानी संग्रह- 'राजकुमारों के देश में', 'खुला आसमान और बंद दिशाएं', परती जमीन' और 'क्षितिज की तलाश में' प्रकाशित हुए हैं। पीटर पॉल एक्का की कहानियाँ आधुनिक विकास के दावों की पोल खोलती है। विकास परियोजनाएं आदिवासी जीवन में किस तरह छेड़छाड़ करती है, इन कहानियों का मुख्य कथ्य है। ये कहानी अंत में सवाल छोड़ती है कि-"हमारा तन-मन, हमारी जमीन, हमारी जीविका, हमारी इज्जत, हमारा सब कुछ लूटकर जो बांध तैयार होगा, जो नहरें खोदी जाएंगी, उससे किनके खेत सींचेंगे, जो बिजली तैयार होगी उससे किनके घर आंगन रोशन होंगे।"[346] पीटर पॉल एक्का दिकूओं द्वारा किये जा रहे आदिवासी शोषण को उजागर करने के साथ ही आदिवासी मन की गांठे खोलते हैं। पीटर पाल एक्का की कहानियों के महत्त्व को रेखांकित करती हुई पुनीता जैन लिखती हैं-"वर्तमान परिदृश्य में शहरी मध्यम वर्ग आदिवासी समाज के प्रति जिस प्रकार का पूर्वाग्रह रखता है, उनके सम्मुख ये कहानियाँ अलग ही संसार, विचार और दृष्टि को सामने लाती है, इसलिए इन कहानियों को पढ़ा जाना जरूरी है। जरूरी इसलिए भी है कि यही मुख्यधारा और उसका उपभोक्ता वर्ग आदिवासी जनजीवन के अभिन्न संसाधनों पर कुदृष्टि जमाते हुए उनके विस्थापन ही नहीं, उनकी भाषा, पहचान, संस्कृति के

[344] केरकेट्टा रोज : बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ, 2017, पुस्तक फ्लैप से

[345] वही : उपर्युक्त, पुस्तक फ्लैप से

[346] वही : आदिवासी साहित्य, पृ.सं. 78

विनाश का भी जिम्मेदार है। पीटर पाल एक्का का कथानक इसी समस्या को चिन्हित और रेखांकित करता है।" [347]

पीटर पॉल एक्का की कहानियों में परिवेश महत्वपूर्ण है। उनकी कुछ कहानियाँ चरित्र प्रधान है तो कुछ समस्या और संघर्ष प्रधान। आदिवासी जीवन का अंतर्द्वन्द्व, उसका यथार्थ इन कहानियों में दर्ज़ है। पीटर पाल एक्का की शुरुआती और बाद की कहानी विषयगत और वैचारिक बदलाव देखने को मिलता है। 'क्षितिज की तलाश में' कहानी संकलन की कहानियां छात्र जीवन, शिक्षा संघर्ष, साहचर्य, प्रेम और आजीविका के संघर्ष से संबंधित है। इन कहानियों में एक ओर ईसाई मिशनरियों का प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ प्रेम, त्याग, बलिदान, करुणा और दुःख का भाव व्याप्त है। इस संकलन की कहानी 'तुम्हारी मर्जी' जहाँ शिक्षा क्षेत्र की मौजमस्ती और देह व्यापार को दर्शाती है, तो 'इस स्वागत के लिए धन्यवाद' में शिक्षा के प्रति गंभीर समर्पण दिखाकर लक्ष्य प्राप्ति को दिखाया है। 'दिन जो रुके नहीं', 'यही सच है', 'अलग-अलग दिशाएं' छात्र जीवन के भटकाव को दिखाती है।

पीटर पाल एक्का की कहानियों के स्त्री पात्र देह शोषण की शिकार है। 'सुभागी' जैसी कहानियाँ आदिवासी अंधविश्वास को व्यक्त करती है वहीं 'सिस्टर जी' कहानी कर्तव्य और सेवा के मिशन को सामने रखती है। 'परती जमीन' कथा संग्रह में अपनी बात द्वारा वे इन कहानियों का मंतव्य व्यक्त करते हैं- "आदिवासी समाज की फिलहाल जो तस्वीर है, वह हमें सोचने, विचारने लिए मजबूर करती है। आज भी यह सवाल हमें विचलित करता है कि क्यों दुनियाभर के आदिवासियों के साथ ऐसा हो रहा है? क्यों उनके घर-द्वार, घरौंदे बेरहमी से लूटे जा रहे हैं? क्यों उन्हें उनके जल, जंगल, जमीन, पहाड़-पर्वत, नदी-नालों से मरहूम किया जा रहा है? उनकी मासूमियत, ईमानदारी, मेहनतकश अंदाज, कुदरती रिश्ते, सामाजिक सामंजस्य, समरसता, खुशनुमा माहौल, एकता, सांस्कृतिक धरोहरों, अमन चैन के रिश्तों को कौन कैश कर रहा है? सोने, हीरे, लोहा, कोयला, रोजी-रोटी, अनाज, जिन्दगी देने वाली उस जमीन को कौन 'परती जमीन' बना रहा है।[348]इस तरह आदिवासियत की चिंता इन कहानियों में है। ये कहानियाँ आदिवासी संस्कृति, मूल्यों, जीवन जगत में शहरी सभ्यता के प्रवेश से उत्पन्न संकटों को उजागर करती है।

पीटर पाल एक्का की कहानियों में 'परती जमीन', 'राजकुमारों के देश में', 'अनछुई परछाइयाँ', 'बड़ी नदी-छोटी नदी', 'तुम्हीं कहो कहां जाएं' महत्वपूर्ण है। जहाँ 'खोए हुए लोग' विस्थापित आदिवासी

[347] अमीन खन्ना प्रसाद : आदिवासी कहानी साहित्य और विमर्श, 2020, पृ.सं. 42

[348] एक्का पीटर पाल : परती जमीन (अपनी बात)

श्रमिक की चिंता और पूँजीवादी शोषण व्यवस्था में साधारण मनुष्य की नियति को दर्ज़ करती है। वहीं 'परती जमीन' आदिवासी समुदाय की पीड़ा, बाहरी लोगों के हस्तक्षेप को दर्शाती है, 'राजकुमारों के देश में' कहानी आदिवासी क्षेत्रों में बाहरी घुसपैठ और वर्चस्व को दिखलाती है। बाह्य हस्तक्षेप से परिवर्तित गाँव के स्वरूप को रेखांकित करते हुए पीटर पाल एक्का लिखते हैं- "सचमुच ये दुर्दिन के पल थे। कोलियारी किनके लिए खुली थी, खेत खलिहान किनके डूबे थे, जंगली कंद-मूल, फल- फूल किनके बंद हुए थे, सखुए के उन लहलहाते वनों का क्या हुआ था, उनकी जगह सागवान के पेड़ क्यों लगाए गए थे। गाँव में राजनीति के बेहद घिनौने, फूहड़, भद्दे-चक्र क्यों चलने लगे थे। पढ़े-लिखे बाबू, बेबस भोले-भाले लोगों को बेरहमी से लूटते थे, आए दिन चोरी डकैती, बलवा, खून होने लगा था, बहु-बेटियाँ खुले आम किनसे लुटने लगती थी। खुला-खुला, खूबसूरत, बेफिक्र अल्हड़-सा पहाड़ी अंचल क्यों बेहया सा बेपर्दा किया जाने लगा।"[349]

आदिवासी जनजीवन के उजड़ने का एक चित्र प्रस्तुत करती हुई कहानी 'अनछुई परछाइयाँ' है। इस कहानी में 'घोटुल' को बाहरी समाज अनैतिक-यौन भावनाओं का केन्द्र मानता है। वे उसे बंद करवाकर स्कूल खुलवा देते है। यहाँ बाह्य प्रभुत्वशाली शक्तियों के आदिवासी गाँव स्थापित होने की कथा कही है। पुनीता जैन के अनुसार- "अनछुई परछाइयाँ के माध्यम से आदिवासी समाज की खुशहाल दुनिया के उजड़ने, प्रकृति के सानिध्य में बीतती दुनिया के विलुप्त होने व उन पर आर्थिक सांस्कृतिक आधिपत्य की कहानी कहती यह प्रस्तुति आदिवासी जीवन शैली के उजड़ने का चिन्ताजनक विवरण सम्मुख रखती है।" [350] 'तुम्हीं कहो कहाँ जायें' कहानी पलायन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है। "जल्द ही बस्ती के लोग बिखरने लगे थे। इक्की-दुक्की झोंपड़ियाँ यहाँ वहाँ रह गई थी। कुछ लोगों ने समझौता कर लिया था। कुछ रोजी-रोटी की तलाश में जाने कहाँ-कहाँ भटकने लगे थे। शिबू सूनी-सूनी आँखों से देखता रह जाता है- परसों झादे चला गया, कल बेटका, आज कोई और जाएगा, अलग-अलग दिशाओं में। तब बस्ती में न फिर माँदर बजेगा, न बाँसुरी, न कहीं सावन की आवाज गूंजेगी, न झूमर हो पाएगा, न सोहराई। सब कोई बिखरते जाएंगे और अन्त में उनका कोई अवशेष भी नहीं रह पाएगा।"[351]

'गाँव घर के लोग' कहानी गाँव में आए परिवर्तन की कहानी है वहीं 'सायरन' जमीन के अधिग्रहण, जंगल के उजड़ने, आदिवासी जीवन के मशीनीकरण, प्रदूषण, अपराध तंत्र के विकसित होने

---

[349] एक्का पीटर पाल : परती जमीन, पृ.-90

[350] अमीन डॉ. खन्नाप्रसाद : आदिवासी कहानी साहित्य और विमर्श पृ.- 52

[351] एक्का पीटर पाल : परती जमीन, पृ.- 91

के साथ गरीबी, गंदगी को दर्शाती है । 'जंगल के फूल', 'बड़ी दीदी', 'रोजी', 'एक सड़क कच्ची सी' आदिवासी स्त्री के दैहिक-शारीरिक शोषण को बयाँ करती है। कुल मिलाकर पीटर पाल एक्का 'युगबोध के कथाकार' है जिनकी कहानियाँ आदिवासी जीवन के वर्तमान संघर्ष और संकट को आकार देती है। यहाँ कथा वैविध्य नहीं अपितु वर्तमान का तनाव दर्ज़ है, जो शायद लेखक का अभीष्ट लक्ष्य भी है।

अन्य आदिवासी कहानीकारों में रूपलाल वेदिया का 'शून्य में अटके परिंदे' कहानी संग्रह 2012 में प्रकाशित हुआ । इसके अलावा कुछ अन्य कहानीकारों की कहानियां भी इधर उधर पत्रिकाओं में छपी है। प्यारा केरकट्टा की 'बेरथा का व्याह', जो कि विवाह के उपरान्त स्त्री-पुरुष संबंधों में आये तनाव, पर पुरुष संबंध को आदिवासी नजरिये से व्यक्त करती है । कृष्ण चंद टूडू की कहानी 'एक बित्ता जमीन' असहाय-अनाथ स्त्री की जमीन पर पारिवारिक लोगों के कब्जे को दर्शाती है । महाराष्ट्र की अपराधी जनजाति 'पारधी' पर लक्ष्मण गायकवाड़ की 'बंदूक्या' मंगल सिंह मुंडा की 'महुआ के फूल', आदि आदिवासी जीवन से जुड़ी कहानियाँ है। उपर्युक्त कहानीकारों के अलावा हिन्दी आदिवासी कहानी में फ्रांसिस्का कुजूर, ग्लैड़सन डुंगडुंग, ज्योति लकड़ा, सिकरादास तिर्की, शंकरलाल मीणा, केदार प्रसाद मीणा, उषा किरण आत्राम आदि सक्रिय है । इनकी कहानियाँ भी अलग-अलग पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई है। निष्कर्ष के बतौर हम कह सकते हैं कि हिन्दी आदिवासी कहानियों में 'आदिवासी दर्शन' की झलक मिलती है, जहाँ एक ओर इन कहानियों में आदिवासी जीवन संस्कृति, परम्परागत मूल्य, आचार-विचार, प्रकृति और सृष्टि के जीवों की प्रस्तुति एक मुकम्मल आदिवासी संसार रचती है वहीं दूसरी ओर आधुनिक परिवेश में बाहरी दबावों के चलते आदिवासी जीवन में होने वाला परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है।

4.3 आदिवासी समुदायों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव और हिन्दी कहानी

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते सूचना-प्रौद्योगिकी और तकनीक पर आधारित भूमंडलीकरण का राग तेज होने लगा । इसी के साथ बाज़ारवाद, सांस्कृतिक उपभोक्तावाद, नव उपनिवेशवाद, उत्तर-पूँजीवाद का स्वर अकादमिक जगत में चर्चा का विषय बना। साहित्य में एक ओर विभिन्न अस्मितावादी विमर्शों का उभार दिखने लगा, तो वहीं दूसरी ओर बाज़ारवादी प्रवृति ने साहित्य के कथानक और शिल्प को बाज़ार के अनुकूल नये रंग-रूप में ढ़ालना प्रारंभ कर दिया । आदिवासी समाज जो अभी तक अपनी खास जीवन शैली और परंपराओं की विचित्रता के साथ साहित्य में आ रहा था, उसमें परिवर्तन दिखाई देने लगा । इसके दो कारण है, पहला-आदिवासी समुदाय जिस प्राकृतिक पर्यावास में हजारों सालों से जीवन गुजार रहा था, वह यकायक तेजी से बदलने लगा। जल, जंगल और जमीन पर आदिवासी आधिपत्य को सत्ता द्वारा नकार दिया गया, जिसके कारण

आदिवासियों को विस्थापन और पलायन की त्रासदी का सामना करना पड़ा । इस बेदख़ली ने आदिवासियों के सम्मुख सांस्कृतिक-जातीय अस्मिता को बचाने के साथ भाषा और धर्म का संकट खड़ा कर दिया । दूसरा तथ्य यह है कि भूमंडलीकरण के चौतरफे हमले झेल रहे आदिवासी समाज के भीतर इस बीच शैक्षणिक चेतना का विस्तार हुआ और एक नवीन मध्य वर्ग का उदय हुआ । भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त आरक्षण और विभिन्न सहूलियतों के बल पर उपजा यह वर्ग अपने समुदाय के बारे में सोचने-समझने की क्षमता रखता था ।

आदिवासी मध्यवर्ग का एक भाग साहित्य की गैर आदिवासी अवधारणा और उसकी विधाओं से परिचित होने लगा था । आदिवासी समाज से आने वाले इन लोगों ने अपने सामाजिक संघर्ष की परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए साहित्य को एक 'प्लेटफॉर्म' की तरह देखना आरंभ किया । आदिवासी समुदाय से ताल्लुक रखने वाले इन रचनाकारों ने न केवल अपने इतिहास को पुर्नव्याख्यायित किया, अपितु प्राचीन मिथकों को नये संदर्भ में नये ढंग से सामने रखा । आदिवासी समाज से आने वाले साहित्यालोचकों ने आदिवासियों के नाम पर लिखे गये साहित्य, इतिहास और मिथकों को 'आदिवासी दर्शन' की कसौटी पर परखना प्रारंभ कर दिया । आदिवासी समाज पर पड़ने वाले भूमंडलीकरण के नकारात्मक प्रभावों ने आदिवासियों से सहानुभूति रखने वाले साहित्यकारों को भी इनके संबंध में लिखने के लिए उद्देलित किया । कुछ ऐसे भी रचनाकार थे, जिनका उद्देश्य आदिवासी जीवन की विचित्रता को मुख्यधारा के सामने प्रस्तुत कर पैसा बनाना भी था । वहीं कुछ दूसरे ऐसे भी थे, जिन्होंने आदिवासी जीवन और उनकी समस्याओं पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करते हुए लेखकीय जिम्मेदारी को पूर्ण ईमानदारी से निभाया ।

हिन्दी कहानी में आदिवासी जीवन पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को रेखांकित करने में आदिवासी ही नहीं, गैर आदिवासी साहित्यकारों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । इन कहानीकारों ने भूमंडलीकरण से त्रस्त आदिवासियों की समस्याओं से मुख्यधारा को परिचित करवाने के साथ आदिवासी समाज को जानने-समझने की ललक पैदा की । हिन्दी कहानियों में आदिवासी जीवन और उसकी समस्याओं को समग्रता में प्रस्तुत करने वाले कहानीकारों में संजीव, रणेन्द्र, मेहरूनिशा परवेज, पुन्नी सिंह, परदेशी राम वर्मा, भारत दोसी, रत्नकुमार सावरिया आदि के साथ आदिवासी समाज से आने वाले पीटर पाल एक्का, वाल्टर भेंगरा, मंजू ज्योत्सना, रोज केरकट्टा, विजय सिंह मीणा, अनुज लुगुन प्रमुख है । हिन्दी आदिवासी कहानियों में भूमंडलीकरण के प्रभाव और प्रवृतियों को निम्न बिंदुओं के माध्यम से समझ सकते है-

4.3.1 जल-जंगल और जमीन का सवाल

भारतीय आदिवासी समुदाय परंपरागत रूप से प्राकृतिक पर्यावास में उपलब्ध संसाधनों पर आश्रित रहा है। इन पर इनका नैसर्गिक पुश्तैनी अधिकार रहा है, किन्तु नवउदारवादी भूमंडलीकरण के दौर में विकास के नाम पर इनसे ये अधिकार छीने जा रहे है। डॉ. रामदयाल मुंडा भूमंडलीकृत विकास की हकीकत से अच्छी तरह परिचित है -"चूंकि आदिवासी एक ऐसी संपत्ति पर खड़ा है, जिस पर देश और दुनिया की नज़र गड़ी है, इसलिए जब जक आदिवासी को उसकी जगह से हटाया-मिटाया नहीं जाता, तब तक उस संपत्ति का भोग नहीं किया जा सकता। इसलिए उस पर चारों तरफ से हमले हो रहे है।"[352] झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ जैसे आदिवासी बहुल राज्यों की स्थिति सबसे ज्यादा चिंताजनक है। वहाँ के आदिवसियों को बांध बनाने तो कभी कल-कारखाने लगाने तो कभी प्राकृतिक खनिज और कोयला खदानों के नाम पर बेदख़ली का सामना करना पड़ रहा है। शहरी विकास और सड़क-रेलमार्ग का विकास करना भी देशहित से जुड़ा अनिवार्य घटक है, पर्यावरण और वन्य जीव संरक्षण के नाम पर आदिवासी इलाकों में 'वाइल्ड लाइफ' सेंचुरियों का निर्माण किया जा रहा है। हिन्दी कहानियों में आदिवासियों की बेदख़ली और विस्थापन को दर्ज़ करने के साथ आदिवासी प्रतिरोध की चेतना को उजागर किया है। कथाकार संजीव की कहानी 'टीस', रत्नकुमार सांमरिया की 'खेत', विपिन विहारी की 'विहान और दुर्दशा' पुन्नी सिंह की 'जंगल का कोढ़' रणेन्द्र की 'रात बाकी', 'वह बस धूल थी', 'चम्पा गाछ', भावसिंह हिरवानी की 'रोता जंगल', 'दहशत', पीटर पाल एक्का की 'राजकुमारों के देश में', वाल्टर भेंगरा की 'पलाश और संगी' जैसी कहानियों में आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन के सवाल को प्रमुखता से उठाया है।

संजीव आदिवासी समाज के उपेक्षित अभिशप्त जीवन को वाणी देने वाले प्रमुख कहानीकार है। संजीव जल, जंगल और जमीन से विस्थापित होते आदिवासियों और उनकी बस्तियों के उजड़ने का मार्मिक चित्रण अपनी कहानी 'टीस' में कुछ प्रकार करते हैं-"धीरे-धीरे संथालों-सपेरों की वह बस्ती जंगली फूल की तरह कुम्हलाने लगी थी। कांकरडीहा कोलियारी के मालिक ने बस्ती के पास ही सुविधा और मुनाफे को ध्यान में रखकर खुली खदान शुरू कर दी थी, जो बस्ती की छाती पर एक बड़े घाव की तरह दिनों-दिन गहरी और बड़ी होती गई और जिसकी निकाली गई मिट्टी और पत्थरों के जबड़े में समाते गये थे संथालों के खेत। कुछ तो इसे अपनी नियति मानकर 'चासा' से मजदूर बनकर वहीं खटने लगे थे, लेकिन अधिकांश को यह जिंदगी रास नहीं आई थी और वे गिद्धनुमा अधिकारियों और क्लर्कों के चुंगल से मुआवजे की आधी-तीही रकम लेकर धनवाद, राँची या पुरूलिया की ओर ढ़ोर-डांगर, डेरा-डण्डा लेकर चल पडे थे।"[353] विस्थापन के कारण पैदा हुई 'टीस' को कहानी नायक 'शिबू

[352] मुंडा रामदयाल : आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, 2009,पृ. सं. 37

[353] संजीव : संजीव की कथायात्रा, (पहला पड़ाव) पृ. सं. 62-63

काका' इस तरह व्यक्त करते हैं-"परसों कनाई चला गया, कल खोखन... और आज गंशा मनतोश... । अब न मांदल बजेंगे, न बांसुरी । न झांझ बजेगी, न झूमर हो पाएगा । फीका-फीका रह जाएगा मनसा पूजा, छत्ता पंचमी, जगन्नाथपुर और सरहुल का उत्सव ।"[354] आदिवासी लेखक हरिराम मीणा आदिवासी समाज के वर्तमान संकट पर लिखते हैं-"आदिवासी अंचलों में प्राकृतिक संसाधनों की जो लूट वैश्वीकरण के इस दौर में मची है, उसने आदिवासी जीवन को नरक तुल्य बना दिया है । जहाँ आधारभूत सुविधाओं, मानवाधिकारों, लोकतंत्र की साझेदारी आदि की बात तो दूर आदिवासी समाज का अस्तित्व ही गहरे संकट में फंसता जा रहा है ।"[355]

भूमंडलीकरण 'लोकल टू ग्लोबल' कॉन्सेप्ट के साथ हम सब की जिन्दगी में दाखिल हुआ । सत्तर फीसदी भारतीय आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाले गांवों का उजड़ते जाना इस दौर की कड़वी सच्चाई है । उजड़ते गाँव, विस्थापित मनुष्य और विलुप्त होती आदिम जनजातियों को हिन्दी की बहुत सी कहानियों ने विषय बनाया । एक ओर जहाँ भूमंडलीकरण के इस दौर में आदिवासी विस्थापन और बेदख़ली का सामना कर रहे है, वहीं दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग इनकी जमीन से निकाले जा रहे प्राकृतिक खनिज संसाधनों से अरबों कमा रहे है । आदिवासियों को तो कौड़ियों के मोल हड़पी गई जमीन का मुआवजा भी पूरा नहीं मिलता । रमणिका गुप्ता द्वारा संपादित कहानी संकलन 'बहु जुठाई' की कहानियां भूमंडलीकरण से प्रभावित आदिवासी स्त्री की वेदना और जल, जंगल-जमीन से विस्थापित आदिवासियों का चित्र उकेरती है । संकलन की कहानी 'चमेली' उस आदिवासी स्त्री की कहानी है, जिसकी जमीन कोयला खदानों की भेंट चढ़ गई । जमीन की असली मालकिन अब उन खदानों में स्थाई मजदूरी की चाह में देह शोषण का शिकार हो जाती है । परिवार के पालन पोषण के लिए वह मजदूरी करने के लिए मजबूर है । 'चमेली' कहानी भूमंडलीकरण का वास्तविक चेहरा सामने रखती है ।

भूमंडलीकरण के दौर में नक्सलवाद का फैलाव कोई सनक भर नहीं है । नक्सलवादी विचारधारा के अध्येता मनोरंजन मोहंती नक्सलवाद के उभार में भूमंडलीकरण को तात्कालिक कारण मानते है, वहीं अमित कुमार सिंह लिखते हैं-"आदिवासियों की परंपरागत जीवन शैली पर निजी संपत्ति और बाज़ार हावी होता जा रहा है । झारखंड राज्य का अधिकांश भाग खनिज संसाधनों की दृष्टि से संपन्न है । राज्य के औद्योगिकरण हेतु निवेशकों को आमंत्रित किया जा रहा है । फलतः एक जनजातीय समाज को बाज़ार-अर्थव्यवस्था में शीघ्रतापूर्वक परिवर्तित करने से हिंसक प्रतिक्रिया हो रही है । इसी के

[354] संजीव : पूर्वोक्त पृ. सं. 63

[355] मीणा हरिराम : वैश्वीकरण बनाम आदिवासी आलेख हरिराम मीणा के ब्लॉग से

परिणामस्वरूप झारखंड के 22 जिलों में से 16 जिले माओवादी हिंसा से जूझ रहे है।"[356] 'चंदा मर नहीं सकती' बहु-जुठाई संकलन की दूसरी प्रमुख कहानी है। कहानी नायिका चंदा तीहरे शोषण का सामना करती है, कोलियारी में अपनी जमीन गंवाने वाली चंदा देह शोषण का शिकार होकर परिवार और पति को गंवा बैठती है, उसके बाद अपना रूपया-पैसा और जीवन की पूँजी को खोने के साथ हिंसक रास्ता अपना लेती है। वह अपने शारीरिक और मानसिक शोषण करने वाले मुंशी की हत्या कर नक्सली बनने को मजबूर होती है। चंदा का यह व्यक्तिगत प्रतिरोध जब समाज के हथियारबंद प्रतिरोध में बदल जाता है, तो वह 'खूनी' से 'नक्सली' में बदल जाती है।

संजीव की एक अन्य कहानी प्रेतमुक्ति' एक ओर आदिवासियों की मेहनतकश-अभावग्रस्त जिन्दगी का चित्र प्रस्तुत करती है, वहीं दूसरी और मुखिया जी और सुरेन्द्र के रूप में सामन्ती तत्वों द्वारा आदिवासी जमीनों और अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे को दिखाती है। संजीव कहानी के खलनायक 'मुखियाजी' की ताकत का अहसास कराते हुए लिखते हैं-"यह अस्पताल तो अस्पताल, थाना, कचहरी और आगे तक; मजाल है कोई चूं कर दे जरा उनके खिलाफ़! आज तक कोई यह न जान सका कि उनकी जमीन कितनी है और कितनी औरतें है।...साहब सुनते तो यहाँ तक है कि अभी यहाँ पर हर दुलहिन पति से पहले परवान चढ़ती है।"[357] वही 'मुखिया जी' इलाके की एकमात्र नदी पर निजी बांध बनाकर क्षेत्र के जानवर और आदिवासियों को पानी तक से महरूम कर देते है। चलित्तर महतो जैसे पात्र इसका विरोध करते हैं-"सबसे तो घूम-घूमकर कह आए काका-गंगा माय को बांध रहे मुखिया जी, समसे इलाका का खेती, ढोर-डांगर, पशु-पाखी, इदमी तड़प-तड़प कर मरेगा, कुछ करो। अकेले काका खिलाफ़त करते रहे। अकेले ही बुढ़वा जब-तब बाँध काट दिया करता।"[358] उसी चलित्तर महतो को मुखिया जी का बेटा सुरेन्द्र बाघ के चारे में इस्तेमाल कर मरवा देता है। उसी दिन से बाप की हत्या का बदला लेने के लिए काका के बेटे जगेसर पर प्रेत सवार हो जाता है-"जब तक बूढा हतिया का बदला नहीं लेगा, जाएगा नहीं, डागडर आवे चाहे डागडर का बाप।"[359] जगेसर बाप के हत्यारे सुरेन्द्र की हत्या कर अपना बदला पूरा करता है और बाप के प्रेत से मुक्त हो जाता है। जमीन और संसाधनों की लूट के साथ कहानी आदिवासी प्रतिरोध को व्यक्तिगत स्तर पर दर्ज़ करती है।

कहानीकार संजीव द्वारा सुझाया गया आदिवासी प्रतिरोध का यह तरीका उनको नक्सलवादी विचारधारा से प्रभावित दिखाता है, जिसे वे सहर्ष स्वीकार भी करते हैं-"मैं आंदोलन के सात्विक और

---

[356] सिंह अमित कुमार : भूमंडलीकरण और भारत (परिदृश्य एवं विकल्प), पृ.सं. 138

[357] संजीव : संजीव की कथायात्रा, (पहला पड़ाव) पृ. सं. 333

[358] संजीव : पूर्वोक्त पृ. सं. 334

[359] संजीव : पूर्वोक्त पृ. सं. 334

निस्वार्थ विचारों का कायल था। परोक्ष रूप से काफ़ी दिनों तक और आज भी मुझे यह विचारधारा प्रभावित करती है, यहाँ पर दुःख कातरता और सर्वांगीण मुक्ति की कामना मुझे ऐसे आंदोलनों से जोड़ती थी।...नक्सलवाद के पवित्र भाव से मैं अलग नहीं हूं, लेकिन भटकाव पर भी मैंने उंगली रखी है।" [360]

रणेन्द्र की कहानी 'वह बस धूल थी' कारखानों और खदानों के चलते खत्म होती जमीन की उर्वरा शक्ति और उससे प्रभावित जातियों का खाका प्रस्तुत करती है-"पहाड़ी के ऊँपर चौरस क्षेत्र पाट कहलाता था, जिस पर बाक्साईट के माईंस थे। ओपन कास्ट माईंस ने आस-पास मुरूम की टुँगरी खड़ी कर दी थी, जो वर्षा जल बहाव के साथ नीचे धनहर खेतों की उर्वरा खत्म कर रही थी। जंगल की कटाई अलग। पहले सड़े-गले जंगल के पत्ते खेतों में आते थे, तब मिट्टी काली थी ताकत से भरी हुई। कपास भी खूब होता। अब तो कपास स्वप्न हो गया और बुनकर जाति, निकबड़ाईक उजड़ गई। और न जाने क्या-क्या?"[361] आदिवासी समाज की जो जमीन प्रत्यक्ष रूप से इस भूमंडलीकरण के दौर में नहीं हड़पी गई, वह अप्रत्यक्ष रूप से किसी काम की नहीं रही। कारखानों से निकलने वाले अवशिष्ट और पानी की अशुद्धता आदिवासियों के लिए त्रासदी से कम नहीं है। सुरेन्द्र नायक की कहानी 'समायोजन' विकास के नाम पर छीने गये आदिवासी जल, जंगल, जमीन और बेदख़ली के दर्द को बयान करने के साथ मुहावजे के छलावे को प्रस्तुत करती है-"एक सौ रूपये की संपत्ति अधिग्रहित करके पांच-दस रूपये का मुआवजा। अकेले आवास से क्या होगा जब जीविका के लिए जंगल और जमीन ही नहीं रहे। क्या सांस्कृतिक विरासत और सामुदायिक परिवेश को पहुंचे आघात का भी कोई मुआवजा हो सकता है? परिवार जन की मृत्यु से उत्पन्न मर्मान्तक पीड़ा का मुआवजा बंद कागज के टुकड़े कैसे बन सकते है?"[362]

अश्विनी कुमार पंकज की कहानी 'इसी सदी के असुर' बताती है कि आदिवासी समाज की आर्थिक व्यवस्था परंपरागत रूप से वस्तु-विनिमय पर केन्द्रित रही है, पर आज के दौर में जहाँ पैसे के नगद हस्तांतरण ने आदिवासियों को संकट में डाल दिया है। इस बीच जंगलों का छीना जाना आदिवासी समाज के अस्तित्व पर भयंकर संकट खड़ा कर देता है-"पहले जमाने में रूपिया-पइसा नहीं था, फिर भी आदिवासी लोग सुख से मजे में जीते थे। अब सब कुछ के लिए कचिया चाहिए। आदिवासी लोग के पास कचिया कहां है? खाली जंगल भर था, उसको भी छीन लिया सरकार-पुलिस

[360] संजीव : संजीव की कथायात्रा, (पहला पड़ाव) पृ. सं. 88

[361] रणेन्द्र : 'वह बस भूल थी, कहानी

[362] नायक सुरेन्द्र : समायोजन, अरावली उद्घोश (सं.) बी.पी वर्मा 'पथिक', अंक-87, मार्च 2010 पृ. सं. 29

ने। बचा-खुचा जंगल तक नहीं छोड़ रहे हैं। जंगल साहेब लोग अभी भी आदिवासियों को भगाने में लगा हुआ है।"[363] भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासियों को खदेड़ने की प्रक्रिया में और तेजी आई है।

विनोद कुमार अपनी पुस्तक 'आदिवासी संघर्ष गाथा' में लिखते हैं कि 'आदिवासियों का उन्नीसवीं सदी का इतिहास भूमिहरण, शोषण और अत्याचार के विरूद्ध आदिवासियों के संघर्ष का इतिहास है, जिसमें हजारों लोग मारे गये। बीसवीं सदी में भूमि हस्तांतरण कानूनों को सुदृढ़ करने और उनका कड़ाई से पालन करवाये जाने की माँग निरंतर उठती रही। आज इक्कीसवीं सदी में भी जंल-जंगल जमीन का सवाल केन्द्र में है।' बड़े शहरों में भूमाफियाओं ने साम, दाम, दंड और भेद सभी नीतियों से आदिवासी जमीन को हड़पने की कोशिशें आज भी जारी है। रूपलाल बेदिया की कहानी 'शहर के दाग का दान' का कथानक इसी पर केन्द्रित है। कहानी के अनुसार झारखंड के एक शहर में मंगल हांसदा की जमीन के एक टुकड़े पर भूमाफियाओं की नज़र है, जिसे वे किसी भी कीमत पर पाना चाहते है, पर कहानी नायक मंगल हांसदा दूसरे आदिवासियों की तरह अपनी पुश्तैनी जमीन को पुरखों की विरासत समझ बेचना नहीं चाहता। कहानीकार बताता है कि इस शहर की सारी जमीन आदिवासियों की हुआ करती थी, जो अब नहीं रही। अब वहाँ बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ है। रूपलाल वेदिया लिखते हैं-"कुछ लोगों का कहना है कि दिकूओं ने उनसे जमीन खरीदी नहीं, बल्कि छीन ली थी और उन्हें मार-पीटकर भगा दिया। कुछ का कहना है कि नहीं, उन्होंने खरीदी तो जरूर थी, मगर बहुत कम पैसों में।"[364]

संवैधानिक रूप से आदिवासी जमीन को कोई गैर आदिवासी क्रय नहीं कर सकता है, पर इसका तोड़ भी है उनके पास। 'बिल्डर जब किसी आदिवासी की जमीन लेना चाहते हैं तब किसी दूसरे आदिवासी को आगे खड़ा कर उसके नाम जमीन खरीद लेता है और उसके बाद वह उससे स्वयं के लिए दान करवा लेता है। कहानी में दयानंद श्रीवास्तव इसी तरह का पात्र है। आदिवासियों को तरह-तरह डराने-धमकाने और मुंहमांगी कीमत का लालच देने पर भी भूमाफिया और बिल्ड़र जब जमीन लेने में असफल रहते हैं तो वे मानसिक और भावनात्मक दबाव का खेल खेलते हैं-"कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि मेरे इस घर और खाली जमीन से शहर का शो खराब हो रहा है। चाँद में दाग की तरह है। वे कहते हैं कि उन्हें बेच देने पर एक हिस्से में मेरे लिए भी अच्छा सा मकान बनवा देंगे। वे यह भी कहते हैं कि दाम पूरा ले लूँ, पर बेचूं नहीं, उन्हें दान कर दूं। इससे मेरे पिता की बात भी रह जाएगी और मुझे

[363] पंकज अश्विनी कुमार : इसी सदी के असुर, आदिवासी कहानियाँ (सं.) केदार प्रसाद मीणा, पृ. सं. 92

[364] बेदिया रूपलाल : शहर के दाग का दान, पूर्वोक्त , पृ. सं. 112

जमीन बेच देने का मलाल और अफसोस भी नहीं होगा। दान के एवज में पुण्य मिलेगा सो अलग।"[365] इस तरह आदिवासियों को इमोशनली ब्लैकमेल करने का जिक्र महाश्वेता देवी ने अपने कहानी संकलन 'आदिवासी कथा' की कई कहानियों में किया है।

4.3.2 विस्थापन, बेदख़ली और पलायन

भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी पर्यावासों का विनाश और जल, जंगल-जमीन पर सत्ता प्रायोजित पूँजीपतियों का कब्जा आदिवासियों के उजड़ते जाने का प्रमुख कारण है। रोजी-रोटी की तलाश और अकाल भी पलायन के प्रमुख कारणों में से एक है। रणेन्द्र की कहानी 'बाबा, कौए और काला धुंआ' आदिवासी विस्थापन का सवाल उठाती है। यह कहानी उन स्थितियों का जिक्र करती है जिनसे त्रस्त होकर आदमी पलायन के लिए मजबूर होता है। मौसम के बदलते मिजाज के कारण पड़ने वाला अकाल और सरकारी उपेक्षा पलायन के प्रमुख कारण के रूप में कहानी में दर्ज़ है-"आषाढ़ और सावन के शुरूआत में ठीक-ठाक बारिश होती। धान का बिचड़ा डाला जाता। लेकिन जब धान में वाली फूटने और उसमें दाना लगने, दूध भरने का समय आता तो भादों में बादल बिला जाते।... मजदूरी के सिवाय कोई चारा नहीं था।... ब्लॉक ऑफिस की नज़र ढ़ीपा कुजाम के लिए टेढ़ी हो गई थी और गांवों में कोई न कोई काम तलाब-कुंआ खोदने का दिया गया, लेकिन ढ़ीपा कुजाम के ग्रामीण तरस कर रह गये। नतीजन शनिचरा काका-काकी और अन्य परिवारों को भी दूसरे गांवों में मजदूरी करने जाना पड़ता। ऐसा आज तक नहीं हुआ।"[366]

उक्त कहानी में दो लोगों का पलायन मुख्य है सुरेश काका और शनिचरा काका। एक का पलायन अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए है तो दूसरे का पेट पालने की खातिर-"विकास भगवान की राह में रोड़ा अटकाने वाले वो 'तीन तिगाड़े' ही थे जिनमें से एक तो माननीय विधायक जी की कृपा से सुधर गये थे। तीसरे शनिचरा काका जो अकाल और पेट की मार से घबड़ा कर चुपचाप अपने टोला के संग ईंट भट्ठा कमाने निकल गये।"[367] आदिवासियों का यह पलायन उनकी संस्कृति, गाँव की रौनक आदि को धीरे-धीरे निगलता जा रहा है-"गाँव उजाड़ सा हो गया। मेहनत मजदूरी करने लायक परिवार कोड़ा कमाने घर से निकल गये थे। सारे टोलों में हर दूसरे-तीसरे घर ताला लटक गया था। खाना खुराकी की कमी से लोग चिड़चिड़ाये रहते। गायब तो गाँव से हंसी-खुशी रिझरंग भी हो गई थी। सुरेश काका-शनिचरा काका के जाने के बाद गाँव का अखड़ा भी सूना हो गया था। कहां वह

---

[365] बेदिया रूपलाल : शहर के दाग का दान, पूर्वोक्त , पृ. सं. 115

[366] रणेन्द्र : बाबा कौए और काला धुआं कहानी सेhttp://pahleebar.blogspot.com/2017/10/blog-post_10.html

[367] रणेंद्र : पूर्वोक्त

भवप्रीता का गान, कहां बांसुरी की तान और कहां बाबा का झमकौआ मांदर की ताल। सबके कान तरस कर रह गये थे।"[368]

सुरेन्द्र नायक की कहानी 'समायोजन' विकास के नाम पर विस्थापन और पलायन के लिए मजबूर आदिवासियों की दर्द भरी दास्तां बयां करती है। अकाल की काली छाया से बचने और रोजी-रोटी की तलाश में यहाँ से वहाँ भटकने को मजबूर आदिवासियों का चित्रण करते हुए कहानीकार लिखते हैं-"पेट की आग से बड़ी कोई मजबूरी नहीं होती। लाखों आदिवासियों ने अपने गाँव की माटी को सिर से लगाया और कुल देवता को प्रणाम करके रेलगाड़ियों में बैठ गये।"[369] उक्त कहानी में रचनाकार ने शिक्षा की कमी को आदिवासियों के लिए सबसे बड़ा अभिशाप माना है। विस्थापित आदिवासी न तो शिक्षा प्राप्त कर सकता है और न ही शिक्षा के अभाव में अपने अधिकारों को जान समझ सकता है। अगर वह पढ़ा लिखा होता तो शायद विस्थापित होने के लिए मजबूर नहीं होता-"बेटा अगर शिक्षा होती तो आदिवासी विस्थापित ही क्यों होता।"[370]

4.3.3 आदिवासी इलाके में बाहरी घुसपैठ और शोषण

आदिवासियों का स्वाभाविक भोलापन और सांस्कृतिक खुलापन उनके शोषण का एक प्रमुख कारण भी है। बाहरी समाजों की लालची प्रवृति ने इनसे रिश्ता गांठकर अपना काम निकाला है और काम निकलने पर चुसे हुए आम की तरह फेंक दिया। रणेन्द्र की कहानी 'वह बस धूल थी' इसी सत्यता को रेखांकित करती है। यह कहानी है हाकी की खिलाड़ी 'सोमा कुजूर' की, जो कि विपरीत परिस्थितियों में अपने सपनों की दुनिया से मुंह मोड़कर समाज का हित देखती है। सोमा कुजूर एक एन.जी.ओ के माध्यम से अपने इलाके में शिक्षा के प्रसार का काम करते हुए गैर आदिवासी युवक सोमनाथ को अपना सहिया यानि जीवन साथी बना लेती है। सोमनाथ एक ईमानदार और सेवाभावी युवक है, जो आदिवासियों की भलाई के काम में मशगूल है, लेकिन जैसे ही उसके पिता को आभास होता है कि उसका बेटा बहुत बड़े ट्रस्ट का मालिक हो गया है, वह दौड़ा चला आता है, वह सोमा को बहू के रूप में स्वीकार कर लेता है। पर स्थिति तब गंभीर मोड़ लेती है जब सोमनाथ की हत्या हो जाती है। सोमनाथ का बाप ऐसी स्थिति में ट्रस्ट की सारी संपत्ति पर न केवल कब्जा करता है, सोमा और उसके बच्चे को अस्वीकार कर देता है। अंततः कोर्ट कचहरी के चक्कर लगाते-लगाते सोमा टूट जाती

---

[368] रणेंद्र : पूर्वोक्त

[369] नायक सुरेन्द्र : समायोजन, अरावली उदघोष (सं.) बी.पी वर्मा 'पथिक', अंक-87, मार्च 2010 पृ. सं. 28

[370] नायक सुरेन्द्र : समायोजन, पूर्वोक्त पृ.सं 28

है और अकाल मृत्यु का शिकार बनती है। सोमनाथ का बाप चालाकियों के सहारे सोमा की संपत्ति पर कब्जा करने में सफल रहता है।

कहानी जिन परिस्थितियों का निर्माण करती है वह समाज में प्रारंभिक वर्गीय अवधारणा के बनने को रेखांकित करती है। एक तरफ सोमनाथ और आनंद जैसे पात्र है जो गैर आदिवासी होने पर आदिवासियों के प्रति संवेदनशील है। दूसरी ओर अनिल लकड़ा जैसे भ्रष्ट अधिकारी है जो आदिवासी समाज से संबंधित है फिर भी उसी को दीमक की तरह चाट रहे हैं। सोमनाथ का बाप भी उस लालची, पुरातन ब्राह्मणवादी हिन्दू संस्कृति का प्रतीक है जो आदिवासियों को आज भी अमानवीय मानती है, पर स्वार्थी इतनी की काम पड़ने पर गधे को भी बाप बनाले। 'वह बस धूल थी' कहानी आदिवासी शोषण के कईं किस्सों को सामने रखती है

सभ्य समाज ने आदिवासियों को वेवकूफ, जाहिल, गँवार, जंगली जैसे विश्लेषणों के साथ चिन्हित किया है। आदिवासी जीवन में किसी तरह का दुराव-छिपाव नहीं है, भोलेमन की सहज प्रवृति के साथ अपने हर कर्म पर उनको विश्वास है। वे झूठ बोलने में माहिर नहीं होते, इसलिए हत्या करने के बाद भी उनका पापबोध उनसे पुलिस के सामने समर्पण करवा देता है। संजीव की कहानी 'गुफा का आदमी' में सभ्य आदमी और आदिवासी के बीच का फ़र्क स्वतः ही सिद्ध हो जाता है-"वे इस मायने में असभ्य जरूर है कि उन्हें छिपाना नहीं आता, हमें आता है।....खून करने के बाद थाने में हाजिर हो जाते है, मैंने खून किया है, मुझे सजा दो। हमारे बड़े से बड़े नेता, शरीफजादे भी आखिर तक इनकार करते रहते है और कुछ इधर-उधर का करके जांच कमीशन के फंदे से सही और साबुत निकल आते है। वेशक वे ऐसे सभ्य नहीं हुए है अभी।"[371] आदिवासियों का नैसर्गिक भोलापन आज उन्हीं के लिए खतरा बनकर उपस्थित है इसी आधार पर मुख्यधारा आदिवासियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाने का दंभ भरती है। कुल मिलाकर आदिवासी जीवन और संस्कृति को बचाने के लिए उस परिवेश को बचाना पड़ेगा, जिसमें आदिवासी रहते आ रहे है। उसमें बाहरी लोगों की घुसपैठ को प्रतिबंधित करना ही होगा।

4.3.4 आदिवासी विकास का सच्चाई

आदिवासी इलाकों में सरकारी योजनाओं में भ्रष्टाचार एक बड़ी समस्या है। इसमें बाहरी लोगों के साथ आदिवासी समाज के रसूखदार और पढ़े लिखे लोग भी शामिल है। राशन-किराना, छात्रवृति से लेकर नरेगा जैसी अनेक विकास योजनाओं में फैले भ्रष्टाचार के कईं किस्से रणेन्द्र की कहानी 'बाबा,

[371] संजीव : गुफा का आदमी, संजीव की कथा यात्रा दूसरा पड़ाव

कौए और काला धुआं' सामने रखती है। विकास के बदलते मायनों को बारीकी से उद्घाटित करने वाली यह कहानी देशज जमीन की सौंधी खुशबू बिखेरती हुई, लोकगीतों की सुरीली तान को समेटे हुए, लोक कथा का अहसास कराती है। हमारे समय और समाज की विद्रूपता को उजागर करती हुई यह कहानी भूमंडलीकरण का स्याह पक्ष उजागर करती है। फ्लैशबैक पद्धति में लिखी हुई बीस-बाईस पेजों की यह लंबी कहानी संयुक्त आदिवासी उरांव परिवार के बिखराव, उसकी शोषणकारी सत्ता से भिड़ जाने और उसके निरंतर कमजोर होने तथा राष्ट्रवादी विकास के स्वरूप को उजागर करती है। कैसे शरणागत का मान रखने वाला इलाके का सभ्रान्त और प्रतिष्ठित आदिवासी उरांव परिवार आपसी फूट और बाहरी चालबाजियों का शिकार होकर खत्म हो जाता है, इसे कहानी लोककथा की शैली में प्रस्तुत करती है। आदिवासियों के बीच सत्ता की चाटुकारिता, पद लोलुपता और भ्रष्टाचार घर कर रहा है, उसे भी कहानी उजागर करती है।

जब पढ़ी-लिखी 'आयो' अपने पति बफैया उरांव उर्फ 'बाबा' द्वारा 'बेसी' कमाई न करने के कारण उन पर भुनभुनाती तो 'आयो' यानि बाबा की मां के सामने उनकी एक भी बतकुच्चन ज्यादा देर न चलती। वह भ्रष्टाचार की इस बेसी कमाई के लिए 'आयो' के नैहर वालों में एक-एक का नाम लेकर कोसती-"आजी एकदमें भड़क जाती। मय अयो के नैहर के एक-एक जन का लच्छन उनारने लगती। खास कर बड़का मामू जिनकी सरकारी राशन की दुकान थी और तेल-चीनी ब्लैक में बेच-बेच कर दो तल्ला पक्का मकान बनवा लिये थे और जिनका मोटर साईकिल से नीचे पैर ही नहीं उतरता था।"[372] आदिवासी छात्रों को मिलने वाले वजीफा में भी हेरा-फेरी का उल्लेख कहानी में है-"भड़कल साँड जैसन उफड़ल रहे हेड मास्टर। तीनों छौड़न के कहेक रहे कि सरकार से मिले वाला वजीफा में से पैसा खात रहे हेडमास्टर। दस्तखत करवात रहे एक सौ इक्वान रूपया का हिसाब से आउर हाथ में थमावत रहे सौ रूपया। हर महीने इक्वान रूपया गायब। सैंकड़ा-सैंकड़ा छौड़ा-छौड़िन के हजार लाख कचिया कर लूट। तभिये तो ठोकले रहे तीन मंजिला मकान। कहत रहे कि एकदमे किताब वाला ताजमहल जैसन दिसेला ओकर घर।"[373]

कहानी कई जगह साबित करती है कि सरकारी योजनाओं में कमीशनखोरी आम बात है, पर वह 'राष्ट्र के विकास के लिए अनिवार्य' है- "बी.डी.ओ चैम्बर में वही विकास भगवान के ध्वजाधारी भगत लोग बैठे थे। सब एके साथ मिल कर हुंआ-हुंआ करने लगा। सबों को मेरे बाबा से दुश्मनी। दसों

[372] रणेन्द्र : बाबा कौए और काला धुआं कहानी से http://pahleebar.blogspot.com/2017/10/blog-post_10.html

[373] रणेन्द्र : पूर्वोक्त

साल से यही ब्लॉक का विकास रोक कर रखा था।"[374] भ्रष्टाचार का पूरा तंत्र व्यवस्था में घुन की तरह लगा हुआ है। जहाँ भी इसे रोकने का प्रयास किया जाता, वहीं विकास की मुंडी दूसरी ओर घूम जाती- "ढ़ीपा कुजाम में योजना नहीं दिए जाने का एक कारण मेरे बाबा भी हो सकते हैं क्योंकि बिफैया उराँव अभी भी सुरेश काका की तरह 'एडजस्ट' नहीं कर सके थे। सो न यहाँ जे.सी.बी मशीन से काम हो सकता था, न बाहरी ठेकेदार घुस सकते थे और न प्रखंड ऑफिस के पंचायत सेवक से लेकर 'ऊँपर तक' के लिए कमीशन भिंटा सकता था। फिर काम क्यों दिया जाए?"[375] कमीशनखोरी इतनी आम हो गई कि बार-बार ब्लॉक ऑफिस के चक्कर लगाने पर भी बफैया उरांव मजूरी के पैसे नहीं वसूल कर पाता। तब उसे नशेड़ी पंचायत सेवक राज की बात बताता है-"तुमरे गाँव के सब छौड़न बहुते समझदार है दादा। सबने कमीशन कटवा लिया। आराम से सबका हिसाब खाते में पहुंच गया। आप भी कमीशन पर तैयार हो जाइये दादा। का कीजिएगा ऊँपर तक पहुंचाना पड़ता है। लेन-देन नयं कीजिएगा तो सालों-साल दौड़ा के मार देगा, ई ऑफिस। लेइये-देकर काम निकालने में ही होशियारी है दादा। छोट भाई का बात मान लीजिए। थोड़ा झुकने में हरजा नयं है दादा।"[376] अंत तक बफैया उरांब उर्फ 'बाबा' झुकने से इंकार कर देते है जिसके कारण न सिर्फ़ अपने परिवार को टूटने से बचा पाते और न ही अपने सहिया शनिचरा की मिट्टी को अपने गाँव ला पाते है। हताशा और निराशा में डूबे 'बाबा' को लोग आत्मदाह के लिए मजबूर कर देते है। कहानी परत दर परत भ्रष्टाचारी सिस्टम की पोल खोलती जाती है।

4.3.5 आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता

भूमंडलीकरण के दौर की आदिवासी हिन्दी कहानी आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता के सवाल को प्रमुखता से उठाती है। 'समायोजन' कहानी में सुरेन्द्र नायक विस्थापित होकर शहर के पास बनी बस्ती में बसे मंगल के परिवार का जो चित्र खींचते है, वह आदिवासी अस्मिता के खत्म होते जाने को रेखांकित करता है। मंगल की बहन चंपा के विवाह के लिए अतिथियों की जो लिस्ट बनाई जाती है, उसमें अपनी जाति-बिरादरी के सिर्फ़ एक-दो नाम है। मंगल अपने पिता से आदिवासी संस्कृति के खत्म होने की चिंता व्यक्त करता है तो उसके पिताजी का जबाव में खोखलापन अधिक झलकता है, शायद लेखक खुद इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं ढूंढ पा रहा-"नहीं रे। आदिवासी समाज जातियों में बंटकर भी, आपस में उलझकर भी, विस्थापन की मर्मान्तक पीड़ा सहकर भी एक ऐसी मजबूत डोर से

[374] रणेन्द्र : पूर्वोक्त

[375] रणेन्द्र : पूर्वोक्त

[376] रणेन्द्र : पूर्वोक्त

बंधा है जिसका नाम आदिवासी संस्कृति है। आज भी आदिवासी इलाकों के जंगल, वृक्ष, तालाब और माटी के कण-कण में इसकी सुगंध रची बसी है ।"[377] लगातार विस्थापित होते जाने की पीढ़ा को उजागर करने वाली यह कहानी अंत में हिंसा का सहारा लेती है। जिससे लगता है कि आदिवासी समाज के पास इसके अलावा और कोई चारा नहीं है।

4.3.6 नक्सलवाद और माओवाद का प्रभाव

भारतीय शासन व्यवस्था के लिए सबसे बड़े आंतरिक खतरे के रूप में चिन्हित 'नक्सलवादी विचारधारा और माओवाद' पर हिन्दी साहित्य में काफ़ी कुछ लिखा जा रहा है। साहित्य का धर्म समाज में पहले से मौजूद न्याय-अन्याय और सामाजिक संघर्षों का एक खास परिदृश्य में चित्रण करना होता है। जिसमें वह कुछ को स्वीकार करते हुए उसके साथ एकजुटता प्रदर्शित करता है, तो कुछ को नकार देता है। नक्सलवाद एक ऐसा विषय है जिस पर बांग्ला, हिन्दी और पंजाबी तक में रचनायें लिखी गई। महाश्वेता देवी का उपन्यास 'हजार चौरासी की मां' देश-विदेश में काफ़ी चर्चित रहा। नक्सलवाड़ी विद्रोह ने हिन्दी में जनवादी विमर्श की शुरूआत कर उसे अकविता और असाहित्य की बेकाम की बहस से बाहर निकाला। धूमिल की 'संसद से सड़क' की यात्रा बढ़ती हुई जनवादी चेतना में बदलकर अदम गोंडवी की चमारों की गली तक पहुंची।

आलोक धन्वा की कवितायें 'गोली मारो पोस्टर' और 'जनता का आदमी', विष्णुचंद्र वर्मा की सर्वनाम और उग्रसेन की दस्ता कहानी के साथ नागार्जुन की 'प्रतिहिंसा ही स्थाई भाव है मेरे कवि का', गोरख पाण्डेय की जनता की आवे पलटनिया, समाजवाद के साथ सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'कुंआनो नदी' जनवादी वामपंथी धारा को मजबूती प्रदान करती है। मंगलेश डबराल, कुमार विकल, महेश्वर, नीलाभ, ज्ञानेन्द्रपति, राजेश जोशी , बल्ली सिंह चीमा, आदि ने सर्वहारा के हिरावल दस्ते के रूप में नक्सलवाड़ी विचारधारा का समर्थन किया। अदम गोंडवी ने तो यहाँ तक कहा कि-"फलसफा गांधी का मौजूं है कि नक्सलवाद है।" कथा साहित्य में विजेन्द्र अनिल और मधुकर सिह ने कई कहानियां लिखी। संजय की कहानी 'कॉमरेड का कोट' और संजीव का उपन्यास 'आकाश चंपा' नक्सलवादी विचारधारा को प्रमुखता से उभारती है।

भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी और नक्सलवाद परस्पर एक-दूसरे के पर्यायवाची हो गये। आदिवासी जिस प्राकृतिक पर्यावास में रहते है वह नक्सलियों के लिए सुरक्षा की दृष्टि से ही सही नहीं

[377] नायक सुरेन्द्र : समायोजन, अरावली उदघोष (सं.) बी.पी वर्मा 'पथिक', अंक-87, मार्च 2010 पृ. सं. 30

थी, अपितु आदिवासियों के बीच उन्हें सर्वहारा के नवीन रंगरूट मिलने की संभावनायें थी । इन्होंने आदिवासियों की विभिन्न आंतरिक और बाहरी समस्याओं को बंदूक के बल पर हल करने की चेष्टा की । भारत की राष्ट्रीय सरकारों ने इसे अपनी सत्ता के लिए चुनौती समझा । सरकार आदिवासी क्षेत्रों की प्राकृतिक संपदा के दोहन के लिए भी उतावली थी, जो नक्सलियों की उपस्थिति में संभव नहीं था । अत : सरकार ने नक्सलियों के दमन के लिए अनेक सैन्य अभियान चलाये । इन सैन्य अभियानों का खामियाज़ा ज्यादातर आदिवासियों को भुगतना पड़ा । भूमंडलीकरण की नीतियों के चलते सरकारों ने आदिवासी क्षेत्र की प्राकृतिक खनिज संसाधनों के दोहन की प्रक्रिया तेज कर दी । विरोध करने वाले आदिवासियों को नक्सलियों का तमगा देकर ठिकाने लगाया जाने लगा । शासन प्रशासन की नाकामियों को नक्सलवाद के आवरण में छिपाया जाने लगा । हिन्दी की आदिवासी विषयक कहानियों में इसे भलिभांति दर्ज़ किया गया है ।

रणेन्द्र ने अपनी कहानी 'वह बस धूल थी' में नक्सलवाद के नाम पर नौकरशाही की लूट और आदिवासियों की उपेक्षा को दर्शाया है । सरकारी योजनाओं में हेराफेरी की जाँच हेतु गठित टीम को डराने के लिए नक्सलियों की भूमिका प्रशासन के भ्रष्टाचारी अफसर कैसे खुद-ब-खुद गढ़ लेते हैं, बानगी इस तरह है-"बाघावतार को पूरा भरोसा था कि गोविन्दपुर नक्सल प्रभावित एरिया के डर से कोई टीम आएगी ही नहीं, अगर आ भी गई तो उसका भी इंतजाम-बात हो जाएगा ।'...गोविंदपुर की सीमा में घुसते ही बीच जंगल में कटहल के मोड़ पर जीप रोक दी गई जांच टीम की । रोड पर बड़ा-बड़ा बोल्डर । ठीक पुलिया के पास । कहते है उस नाले में आज भी बाघ पानी पीने उतरते है । पूरी टीम को उतारकर जंगल में । गिन गिनकर हल्की-भारी पांच-पांच लाठियों की मार । जाते-जाते मुँह पर कपड़ा लपेटे गिरोह ने कट्टे से आसमानी फायरिंग की । एम.सी.सी जिन्दावाद के नारे लगाए और घने जंगल में उतर लिए । जीप पर लद फदकर टीम वापिस जिला मुख्यालय ।"[378] नक्सलवाद के नाम पर सभी की मौज । केन्द्र और राज्य सरकार का अनाप-शनाप फंड और करना कुछ है नहीं । रणेन्द्र इसी कहानी में लिखते हैं- "गोविंदपुर में नक्सली आतंक का एक अलग फंडा ।...थाना की तो मौज हो गई । सारा बड़ा क्राइम नक्सलियों के खाते में । जाँच से छुटकारा । ड्यूटी खत्म । डॉक्टर-अफसर-स्टाफ को फील्ड में जाने से मुक्ति । बिना फोर्स कैसे जाएँ? जिंदगी की गारंटी लीजिएगा? पेशेवर अपराधियों ने खाकी वर्दी सिलवा ली । एम.सी.सी जिंदावाद करते घूमने लगे । नक्सल के नाम पर सबको आनंद ही आनंद ।"[379]

[378] रणेन्द्र : 'वह बस भूल थी, कहानी

[379] रणेन्द्र : 'वह बस भूल थी, कहानी

अश्विनी कुमार पंकज की कहानी 'इसी सदी के असुर' आदिवासी और नक्सलियों के आपसी सहयोगी रिश्ते को उजागर करती है। कथाकार मानता है कि नक्सलियों ने कभी भी आदिवासियों को प्रताड़ित नही किया, उल्टे संकट के समय में आदिवासी समाज की मदद ही की है। कहानी में एक छोटा सा प्रसंग नक्सलियों को लेकर है, जहाँ कहानी के पात्र रंथु और उसका बेटा सबन चट्टान के नीचे फंसी हुई अपनी चांदी की सिकड़ी को निकालने के लिए नक्सलियों का सहयोग लेते हैं। कहानी संपादक डॉ. केदार प्रसाद इस पर टिप्पणी करते हैं कि-" चाँदी की सिकड़ी आदिवासियों की उम्मीदों का प्रतीक है। जिसे बचाने के लिए आदिवासी असुर और सरकारों द्वारा घोषित असुर यानि नक्सली मिलकर संघर्ष कर रहे है।"[380]

4.3.7 आदिवासी स्त्री अस्मिता

1990 ई. के बाद केन्द्र और राज्य सरकारों की उदारीकरण और बाजारीकरण की नीतियों ने आदिवासी क्षेत्रों के वन और प्राकृतिक खनिज संपदा की लूट-खसोंट के लिए देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रवेश को सुगम बना दिया। जल, जंगल और जमीन के छिनते जाने से आदिवासियों को विस्थापन और पलायन के लिए मजबूर होना पड़ा। जिस तादाद में आदिवासी उजड़े, उतनी तादाद में बाहरी घुसपैठ बढ़ी। इन बाहरी घुसपैठियों में पूँजीपतियों के दलाल, विकास परियोजनाओं के ठेकेदार और उनके मातहत काम करने वाले, देशी बाज़ार को संचालित करने वाले और सूदखोरी का धंधा करने वाले सेठ-साहूकार, विभिन्न खदानों और कारखानों के मालिक और उनका तंत्र, भ्रष्ट नेता और उनके गुर्गे, मानव व्यापार करने वाले दलाल के अलावा पुलिस और प्रशासन से जुड़ा हुए नौकरशाह आदि शामिल थे ।विस्थापन और बेदख़ली के शिकार आदिवासियों में भी महिलाओं को सबसे ज्यादा प्रताड़ित होना पड़ा। न केवल उनके श्रम की चोरी बढ़ी अपितु उन्हें दैहिक और मानसिक स्तर पर भी प्रताड़ित होना पड़ा। हिन्दी की आदिवासी कहानियों में इसे प्रमुखता से उभारा है।

आदिवासी स्त्री छवि के दो रूप हिन्दी कहानियों में मिलते है। गैर आदिवासी कहानीकारों के यहाँ आदिवासी स्त्री की वही पहचान दर्ज़ है, जो कि उनके समाज की कल्पना में अंकित है-अनपढ़-देहाती, जंगली-गँवार महिला, जो कि अपनी बेढंगी पोशाक में बदसूरती और गंदेपन के सारे उपमानों को पीछे छोड़ दे। दूसरी पहचान यौन रूप से स्वछंद स्त्री की है जो प्रेम करने, वर चुनने के लिए स्वतंत्र है। आदिवासी पुरुष शराबी और नशेड़ी है, स्त्री ही परिवार का लालन पालन करती है। गैर आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी स्त्री का जो चित्र प्रस्तुत किया, उसकी समीक्षा करती हुई रोज केरकट्टा लिखती हैं-"आदिवासी शिष्ट साहित्य में स्त्री श्रम, सहिष्णुता और ममत्व से पूर्ण तो मिलती है, लेकिन अपने

[380] मीणा डॉ. केदारप्रसाद : आदिवासी कहानियाँ , संपादकीय, पृ. सं. 12

और अपने परिवार के लिए निर्णय लेती हुई कम मिलती है। वह जीने के लिए कठोर परिश्रम करती है, देश-परदेश जाती है, सेवा करती है दूसरों को प्रसन्न करने के लिए परन्तु वास्तविकता में ऐसा नहीं है।"[381]

संजीव 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' कहानी में उरांव आदिवासी महिलाओं के ऐतिहासिक संघर्ष को उजागर करते हैं। संजीव के लिए शोषण और अत्याचार का विरोध करने वाली महिला ही दुनिया की सबसे हसीन औरत है। यह कहानी प्रेमचंद की 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' कहानी की याद ताजा करती है जिसमें देश की हिफाजत के लिए गिरने वाला खून का आखिरी कतरा सबसे अनमोल होता है। उक्त कहानी का कथानक रेलयात्रा के दौरान उरांव आदिवासी महिला के प्रति शिक्षित टी.सी महिला, बिना टिकट यात्रा करने वाली आत्मविश्वास से लबरेज 'शरीफजादियां' और रेल्वे पुलिस के जवानों की हिकारत और उलाहना पूर्ण बातों से प्रारंभ होता है। कथानायक ओरांव आदिवासी महिलाओं के वीरतापूर्ण इतिहास से परिचित है। वह उस उरांव महिला की ईमानदारी और गलत बात के प्रतिरोध करने से प्रभावित होकर उसके चेहरे पर छपे तीन गोदनों का संक्षिप्त इतिहास अपने सहयात्रियों से साझा कर उस महिला के प्रति उनकी सोच को प्रभावित करने का प्रयास करता है- "रानी सिनगी देई ने महज औरतों की फौज लेकर हमलावरों को मुंह की खिलाई थी। सरहुल का पर्व था। मर्द सारे हडिया पीकर मुर्दा बने हुए थे। यह एक तरह से आजाद जातियों पर साम्राज्यवादियों का हमला था, जिसे उन मर्दानी औरतों ने नाकाम कर दिया। एक बार दो बार नहीं, पूरे तीन-तीन बार। इसी की याद में बारह वर्ष में ओरांव औरतों का पर्व मनाया जाता है जनी शिकार। मुगलों ने चौथे हमले में रानी सिनगी देई और बहादुर लड़ाकू औरतों को पकड़कर उनके चेहरों को तीन बार दाग दिया। उन दागों को कलंक न मानकर सभी औरतों द्वारा सिंगार के रूप में अपना लिया।"[382] संजीव इस कहानी के माध्यम से सिद्ध करते है कि 'जुल्म की मुखालिफत करना ही बहादुरी है और जरूरी नहीं कि बहादुरी महज जीत का ही वाइज़ बने, उसकी हार भी सिंगार है।' जिस तरह प्रेमचंद 'साहित्य की कसौटी' बदलते है, संजीव सुन्दरता की कसौटी बदल देते है।

विस्थापन और पलायन के शिकार आदिवासी आजीविका की तलाश में कल-कारखानों और शहरों की कच्ची बस्तियों में पनाह पाते है, जहाँ वे आर्थिक और सामाजिक शोषण का शिकार बन जाते है। अपनी सभ्यता और संस्कृति से कटा हुआ यह समाज जीवन संघर्ष में परास्त होने लगता है, तो इसकी महिलाओं को 'देह व्यापार' एकमात्र विकल्प के बतौर दिखाई देता है। 'धुंआता आदमी' कहानी

[381] चव्हान डॉ. मोहन : आदिवासी साहित्य विमर्श, पृ. सं. 197

[382] संजीव : संजीव की कथायात्रा, (दूसरा पड़ाव) पृ. सं. 41

का नायक विस्थापित आदिवासियों की बस्ती में देह सुख के लिए जाता है, जहाँ उसका सामना आदिवासियों की परिस्थिति और मजबूरियों से होता है। एक बाप जो कारखाने में काम करने के दौरान अपने हाथ गवां बैठा है। बेरोजगार बाप का अपनी बेटी की दलाली करना अपने आप में हृदय विदारक है और बेटी अपने बाप की मजबूरी समझते हुए जिन परिस्थितियों से गुजर रही है, वह भारत के इक्कीसवीं सदी में पहुंचने के खोखले दावे का मजाक उड़ाती है-"जब वह उस लड़की को पहले से ही नग्नावस्था में देखता है तो उसके मन में सवाल आता है ऐसा क्यों ? तब लड़की कहती है-एक ही कपड़ा था अपने पास; गंदा होने पर दिन को धो नहीं सकती, रात को ही साफ करके डाल देती हूँ, सुबह तक सूख जाता है लेकिन तुम नाराज न होना बाबू, इस अंचल में यह आम बात है। ...मिल निर्माण के दौरान पत्थर हटाते हुए उसके बाप जैसे जाने कितने लोग पंगु, बेरोजगार और विस्थापित होकर लीक से उतरने लगे थे।"[383]

संजीव आदिवासी समाज की आंतरिक समस्याओं से भी पाठक को रूबरू करवाते है। वे उन प्रचलित पुरातन परंपराओं पर चोट करते है, जिनसे सामाजिक जीवन में असंतुलन पैदा करती है। वधू मूल्य की परंपरा कुछ आदिवासी समाजों में आज भी देखने को मिलती है, वधू मूल्य चुकाने में समर्थ दुगनी उम्र के लड़के से शादी को मान्यता मिल जाती है। संजीव की कहानी 'जीवन के पार' इस प्रथा को उद्घाटित करती है। नायक मानसिंह सुंडी और बामई तिर्की परस्पर एक दूसरे को पसंद करते है। बामई तिर्की का बाप शराबी होने के कारण आर्थिक संकटों से घिरा रहता है, जिसकी भरपाई वह अपनी बेटी की शादी के लिए वधू मूल्य प्राप्त कर करना चाहता है। पर नायक वधू मूल्य चुकाने में असमर्थ है। वह खाने कमाने और वधू मूल्य चुकाने के लिए मजदूरी करने परदेश जाता है, जहाँ ठेकेदारों के यहाँ काम करते हुए कभी भी पूरी मजदूरी नहीं पाता-"यहाँ दिकू जाति के लोगों का राज है, वे ही ठेकेदार, वे ही हाकिम, देखती नहीं कितना पैसा मार लिया इन लोगों ने मेरा।"[384] नायक मानसिंह सुंडी अंत में नायिका को खो देता है। बामई तिर्की का बाप भी अवसाद से ग्रस्त होकर और ज्यादा शराब पीने लगता है और अंततः नौकरी से निकाला जाता है। सब कुछ खो देने की पीड़ा के बावजूद परंपराओं से चिपके रहने की प्रवृति पर कटाक्ष करते हुए संजीव लिखते हैं-"उमर पार हो रही हो तो हो जाए। कुमारी ही मर जाए बेटी तो मर जाए, बिना मूल्य पाए उन्हें नहीं छोड़ने वाले। ये दिकू और हम आदिवासी मूल्य के स्तर पर एक से हत्यारे है। बाघ, भालू, गीद्ध, कोए, कुत्ते और सियार से भी ज्यादा खूंखार।"[385]

---

[383] संजीव : पूर्वोक्त (पहला पड़ाव) पृ. सं. 82

[384] संजीव : पूर्वोक्त, (तीसरा पड़ाव) पृ. सं. 315

[385] संजीव : पूर्वोक्त, (तीसरा पड़ाव) पृ. सं. 316

बोंडा आदिवासियों में प्रचलित अनमेल विवाह की प्रथा पर संजीव 'गुफा का आदमी' जैसी कहानी रचते है। इस रवायत का पालन करते हुए आठ साल के लड़के शुकरा की शादी सोलह साल की सोमा से हो जाती है, फिर इसी परंपरा के हिसाब से उनके लड़के मंगरा की शादी भी सोलह साल की शुकरी से हो जाती है। उम्र के हिसाब से सोमा के पति शुकरा और पतोहू शुकरी समवयस्क है, जिसके चलते उनमें आपसी दैहिक रिश्ते पनप जाते है। मंगरा और सोमा उन दोनों को आपत्तिजनक अवस्था में देख लेते है-"तभी मंगरा कर तीर छूटा और वह (शुकरा) जानवर की तरह डकराने लगा। बेटे को चौदह साल जेल में सड़ने के डर से सोमा ने फावड़ा उठाया और खुद अपने पति को काट डाला।"[386] अनमेल विवाह के दंश को पूरी रोचकता और तन्मयता से वर्णित करने वाली यह कहानी उक्त परंपरा के पीछे शिक्षा की कमी और अंधविश्वास को मानती है।

'आप यहाँ है' कहानी में संजीव अधिकारी वर्मा के घर चौका चूल्हा करने वाली आदिवासी महिला के यौन शोषण का चित्रण करते है। एक तरफ आदिवासी महिला जबरदस्ती का शिकार होती है, वहीं मिसेज वर्मा उसी पर चोरी का झूठा आरोप लगाकर मजा चखाने को तत्पर है। 'टीस' कहानी के शिबू काका की हताशाभरी शिकायत है-"जइसे ई लोग हमारा सबकुछ छीन लिया, बइसे मताई को भी छीन लिया....साला कितना बहादुर मरद है हम लोग।"[387]आदिवासी समाज अपना सबकुछ खो रहा है जंगल, जमीन के साथ अपनी अस्मिता और स्त्रियां भी। 'टीस', 'प्रेतमुक्ति', 'आप यहाँ है', 'गुफा का आदमी', 'जीवन के पार', 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' और 'धुंआता आदमी' संजीव की आदिवासी स्त्री से संबंधित कहानियां है जिनमें आदिवासी स्त्री का शोषण, उसकी जिजीविषा और बदलते परिवेश में आदिवासी स्त्री के संकटों का संकेत कहानीकार करते हैं। मेहरूनिशा परवेज की कहानियों में आदिवासी स्त्री स्वावलंबी होने के चरित्र की रक्षा के लिए कुछ भी करने को तत्पर दिखाई देती है। उनकी कहानी 'कानीबाट', 'जंगली हिरनी', 'शिनाख्त' आदर्श गृहणी का चित्र प्रस्तुत करती हुई पारिवारिक जिम्मेदारियों का निर्वाह करती है। 'देहरी के पार' और 'शिनाख्त' कहानी में पुरूषों को पारिवारिक मर्यादा को ताक में रखने वाले और सेक्स के भूखे मनुष्य के रूप में चित्रित किया है। 'सूकी बयड़ी' कहानी पहली स्त्री की मौजूदगी में दूसरे विवाह को गलत साबित करते हुए पतिव्रता स्त्री की छवि प्रस्तुत करती है। यह आदिवासी समाज को ऊपरी तौर पर देखे जाने का नतीजा है।

विजय सिंह मीणा का कहानी संकलन 'सिसकियां' अभाव और उत्पीड़न से जूझते आदिवासी गांवों में महिलाओं की स्थिति का रेखांकन करता है। एक ओर सामाजिक बंधनों की बेड़ियों में जकड़ी

---

[386] संजीव : पूर्वोक्त, (तीसरा पड़ाव) पृ. सं. 342

[387] संजीव : संजीव की कथायात्रा, (पहला पड़ाव) पृ. सं. 6

आदिवासी स्त्री परिवार में घुटकर जीने को मजबूर है, दूसरी ओर आधुनिक जीवन की त्रासदी है। मंगल सिंह मुंडा का कहानी संग्रह 'महुआ का फूल' समाज के नग्न और कठोर यथार्थ का खुला चित्रण करता है। जहाँ 'महुआ का फूल' कहानी पुरुष अत्याचारों के विरोध और स्त्री सम्मान की खातिर हत्या को जायज ठहराती है। वहीं सिंदूर की डिबिया' कहानी दहेज प्रथा के अमानवीय सच को उजागर करती है। अनिता रश्मि का कहानी संग्रह 'सरई के फूल' आदिवासी प्रेम और झारखंड की लोककथाओं के ताने-बाने को कहानी में प्रस्तुत करता है। संकलन की कहानी 'तिकिन उपाल का छैला' नई और पुरानी पीढ़ी के अंर्तद्वंद को प्रस्तुत करने के साथ आदिवासी समाज में स्त्री संबंधी परंपराओं के तोड़ने और अंधविश्वास के नाम पर प्रताड़नाओं को दिखाती है। अशिक्षा की काली छाया और परंपराओं के प्रति अंध विश्वास समाज की महिलाओं को डायन विसाही तो पुरूषों को ओझा गुणी के नाम पर प्रताड़ित होने से नहीं बचा पाता।

बनावट के आधार पर 'दो चुटकी निमक' कन्या भ्रूण हत्या और कन्या बाल हत्या को उजागर करने वाली कहानी है। आदिवासी और गैर आदिवासी समाजों के मध्य स्त्री जन्म की सोच का अंतर उजागर किया है। मालती एक शहरी-गैर आदिवासी करेक्टर है जो इस बात के लिए चिंतित है कि उसका परिवार उसके पेट में भ्रूण के रूप में पल रही बच्ची को स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए वह चुपचाप उस बच्ची को जन्म देने के साथ आदिवासी महिला गौनी को सौंप देती है। मालती का मार्मिक आत्मालाप गैर आदिवासी समाजों को अपने गिरेवान में झांकने के लिए प्रेरित करता है-"मालती अंदर अंधेरे में आंख पर हाथ रखे लेटी थी। तभी उसके अंदर एक बेचौन आत्मा घर कर गई थी। उसे अंधेरे साये डराने लगे थे। वह अक्सर सोचती, क्या हवेली के इतने बड़-बड़ कमरों में उसके लिए तनिक जगह नहीं है? नहीं थी? जनजाति और कोल्ह, कुर्मी, तेली तो अपनी बेटियों को नहीं फेंकते है। ये लोग तो कोई फरक नहीं करते है। पर ई बड़का लोग?' कहानी में दो आदिवासी स्त्री इसे लेकर परस्पर चर्चा करती हैः-

' अरे तू इके लाइन देले। केकर हय?' स्त्री की आँखों में उत्सुकता कुलबुला रही थी। वह चुप लगा गई।
'पाप के हय?'
'नय।'
'बेटी हय?'
'हां।'
'पता नय, ई सब काहे बेटी से अनसाता है।'

'चुटकी भर निमक' कहानी आदिवासी समाज में स्त्री छवि और दहेज के उस रूप को दिखाती है जहाँ वर पक्ष को लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार लड़की पक्ष भेंट देकर शादी की रस्म अदा करते है। रणेन्द्र की कहानी 'बाबा, कौए और काला धुंआ' आदिवासी स्त्री की पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी का सवाल उठाती है-चूंकि मेरा कोई भाई नहीं था तो गोतिया-दियाद बाबा को बिना वारिस का मान रहे थे। "बेटी छऊआ का हक थोड़े सारी पुश्तैनी जमीन पर मानेंगे। हाँ! खाने पीने भर आठ-दस क्यारी पर विचार किया जा सकता है।"[388] आदिवासी स्त्री को आदिवासी परंपरा के अनुसार पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी नहीं देना, आदिवासी समाज की समानता आधारित स्त्री-पुरुष संबंधों पर सवाल खड़ा करती है।

रोज केरकट्टा की 'भंवर' कहानी भी पत्नी और बेटियों का संपत्ति में उत्तराधिकार की बात करती है। कहानी के केन्द्र में 'मालकिन' और उसकी बेटियां है जो अपने हक के लिए न्यायालय की शरण लेती हैं। मालकिन और उसकी बड़ी बेटी अपने परिवार जनों की साज़िश का शिकार होते है, पुलिस भी मामले को रफा-दफा कर देती है। लेखिका इस पर टिप्पणी करती हैं- "कानून से सामाजिक व्यवस्था बंधी नहीं है। सामाजिक व्यवस्था उनके लिए है जिनके पास बाहुबल है। इसलिए कानून को या सामाजिक व्यवस्था को जमीन पर उतारने की कोशिश की जाएगी तो उसका भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा। फिर समाज को स्त्रियों से क्या लेना-देना ? ...पर जीना है तो संघर्ष का रास्ता चुनना होगा।"[389] कथाकार हरिराम मीणा इस कहानी की समीक्षा के क्रम में लिखते हैं- "रोज केरकेट्टा की कहानी 'भंवर' नारी की दशा, विशेष रूप से पुरुष वर्चस्व को अभिव्यक्त करते हुए उसे मुक्ति के पथ पर अग्रसर होने का संकेत देती है।"[390] आदिवासी जीवन की उक्त कहानियां स्त्री जीवन के विभिन्न पहलुओं को बारीकी से उजागर करने के साथ भूमंडलीकरण के प्रभावों को स्त्री अस्मिता से जोड़ कर देखती है।

बाज़ार ने आदिवासी जीवन को कई स्तरों पर प्रभावित किया है। बाज़ार की जरूरत का अधिकांश कच्चा माल आदिवासी इलाकों में स्थित होने के कारण इसका प्रभाव पड़ना लाज़िमी था। अश्विनी कुमार पंकज ने अपनी कहानी 'इसी सदी के असुर' में बाज़ार को इस तरह व्यक्त किया है-"जैसे-जैसे खदान खुलते गये, पसरते गये पूरे असुर इलाके में...बाज़ार उनके जीने, रहन-सहन के तौर तरीकों और पर्व-त्योहारों तक पहुंच गया। लोहा बनाने का पारंपरिक पेसा तो जाने कब का टाटा जैसे कारखाने लील चुके थे।"[391] निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भूमंडलीकरण के तीन दशकों के बीच आदिवासी

---

[388] रणेन्द्र : बाबा कौए और काला धुआं कहानी से

[389] केरकट्टा रोज : भंवर कहानी, पगहा जोरी-जोरी रे घाटो, पृ. सं. 16

[390] मीणा हरिराम : आदिवासी दुनिया , आदिवासी साहित्य और मीडिया, पृ. सं. 217

[391] पंकज अश्विनी कुमार : 'इसी सदी के असुर,'डॉ. केदारप्रसाद मीणा: आदिवासी कहानियाँ (सं.) पृ.सं. 12

समाज पर आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के हमलों में तेजी आई । आधुनिक सभ्यता और संस्कृति ने आदिवासियों को दो ही विकल्प दिये है- पहला यह कि या तो वे अपनी पहचान, अपने इतिहास, अपनी संस्कृति को दरकिनार कर मुख्यधारा के भीतर अपना निम्नतम दर्जा स्वीकार कर लें या फिर इस धरती से अपना अस्तित्व को मिटता हुआ देखें। भूमंडलीकरण द्वारा आदिवासियों को विकास का जो पाठ पढ़ाया, वह आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के लिए खतरा बनकर उभरा है। हिन्दी कहानियों में आदिवासियों की इस त्रासदी को भलीभांति दर्ज़ किया है।

अध्याय: 5

भूमंडलीकरण: हिन्दी कविता और आदिवासी

5.1 हिन्दी कविता और भूमंडलीकरण की प्रवृतियाँ

5.2 हिन्दी आदिवासी कविता का विकास

5.3 भूमंडलीकरण और हिन्दी आदिवासी कविता

अध्याय: 5

भूमंडलीकरण: हिन्दी कविता और आदिवासी

5.1 हिन्दी कविता और भूमंडलीकरण की प्रवृतियां

मनुष्य के व्यक्तित्त्व, उसकी सामूहिक अस्मिता और सांस्कृतिक चेतना को उजागर करने में भाषा एवं साहित्य महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। भूमंडलीकरण के जनविरोधी रूप के विरुद्ध हिन्दी कविता प्रतिरोध की संस्कृति विकसित करती है। भूमंडलीकरण का सांस्कृतिक प्रतिरोध हिन्दी कविता का समसामयिक स्वर है, जिसका मुख्य कारण साहित्य की जनपक्षधरता है। आज जब मनुष्य के सपनों के साथ हर वस्तु की कीमत बाज़ार में तय हो रही है, तो कविता कैसे चुप रह सकती है। 1990 के बाद भारतीय परिदृश्य में आर्थिक साम्राज्यवाद, बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, सूचना प्रौद्योगिकी का बढ़ता संजाल, साम्प्रदायिकता, सांस्कृतिक विद्रूपता, स्त्री, किसान, दलित और आदिवासी जीवन की समस्यायें, पर्यावरण और भाषा का संकट, पारिवारिक संरचनाओं में टूटन और विखराव आदि अकादमिक चर्चा के केन्द्र में आ गये । हिन्दी कविता इन सबकी उपस्थिति दर्ज़ करती है । भूमंडलीकरण की प्रवृतियों के आधार पर हम हिन्दी कविता के स्वर को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से भलिभांति समझ सकते हैं-

5.1.1 पश्चिमी आर्थिक साम्राज्यवाद के खिलाफ़ प्रतिरोध का स्वर

आधुनिकता के आरंभिक दौर में साम्राज्यवादी ताकतों का मुख्य हथियार उसकी विशाल सेना और प्रचार तंत्र हुआ करता था। आज के उत्तर-आधुनिक दौर में यह काम बहुराष्ट्रीय संस्थाओं और व्यापार कंपनियों के माध्यम से हो रहा है। ईस्ट इंडिया कंपनी की तरह आज अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारत में प्रवेश कर रही है और बगैर शासक बने, अपना साम्राज्य स्थापित कर रही है। इसी नये रूप को आर्थिक साम्राज्यवाद कहा गया है। एक नयी आर्थिक व्यवस्था में ये वैश्विक कंपनियाँ उदारवादी चेहरे के साथ अपनी करतूतों को भूमंडलीय जामा पहना रही है। पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थक आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के माध्यम से दुनिया की आर्थिक खाई को पांटने का तर्क प्रस्तुत करते हैं, पर ऐसा हकीकत में होता नज़र नहीं आता है। इसका कारण यह है कि तीसरी दुनिया के बहुसंख्यक पिछड़े देश तकनीकी और आर्थिक रूप से इतने सक्षम नहीं है कि विकसित देशों के बाज़ार में अपनी पैठ बना सके। यह एकतरफा भूमंडलीकरण है, जिसमें साम्राज्यवादी अमीर देशों का ही वर्चस्व स्थापित होता है । कवि राजेश जोशी अपनी कविता में पश्चिम के नव पूँजीवाद के प्रति प्रतिरोध दर्ज़ करते हुए लिखते हैं -

"मैं कहता हूँ बहुत हानिकारक है
व्यक्ति के लिए नहीं,
पूरे देश के लिए हानिकारक है
दिनों-दिन बढ़ते जाना अमरीका का दबाव,
राष्ट्रवाद का नया उफान
वित्त-पूँजी का प्रपंच,
बजरंगियों का उत्पात,
बहुराष्ट्रीय कंपनियों का
लगातार फैलता जाल।"[392]

पश्चिमी नवसाम्राज्यवादियों का देशी विभाजक ताकतों से अलिखित समझौता है । अपने आपको राष्ट्रवाद के संरक्षक और संस्कृति के रखवाले घोषित करने वाली ये विभाजक ताकतें देश की एकता और अखंडता को खतरा पैदा कर साम्राज्यवादियों के लिए लूट का मार्ग प्रशस्त करती है, इसलिए कवि इनसे भी सावचेत रहने का संकेत देता है। भूमंडलीकरण के गहन अध्येता हेनरी किंसिंजर ने एक जगह कहा है कि-'भूमंडलीकरण संयुक्त राज्य के आधिपत्य का ही पर्यायवाची है।'

बाज़ार की पकड़ और उपभोक्ता चयन के भ्रम को हिन्दी कविता भंलिभांति उजागर करती है। कैसे उपभोक्ता को चयन की आजादी का भ्रम पूँजीवाद दिखाता है, इसे समझने के लिए भारत के स्मार्टफोन बाज़ार को समझना दिलचस्प होगा। भारतीय बाज़ार में उपलब्ध प्रमुख स्मार्टफोन ब्रान्डों में ओप्पो, वीवो, रियलमी, वनपल्स, आईक्यू की हिस्सेदारी लगभग दो तिहाई है । ये मोबाईल ब्रान्ड उपभोक्ता के सामने पसंद और चुनाव का भ्रम फैलाकर उसे उत्पाद खरीदने के लिए प्रेरित करते है, जबकि इन सभी ब्रान्ड्स की मूल कंपनी एक ही है और वह है-चीन की बी.बी.के.इलेक्ट्रोनिक्स । ज्ञानेन्द्रपति की कविता 'आजादी उर्फ गुलामी' इसी का संकेत करती हैः-

"आजादी के गोल्डन जुबली साल में
आजादी का मतलब है
बाज़ार से अपनी पसन्द की चीजें चुनने की आजादी
और आपकी पसन्द
वे तय करते हैं।"[393]

---

[392] जोशी राजेश : चाँद की वर्तनी, 2006, पृ. सं. 91

[393] ज्ञानेन्द्रपति : संशयात्मा, 2004, पृ. सं. 123

तीसरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों और सस्ते-मानवीय श्रम की लूट पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की बुरी नज़र है। इन कंपनियों के मालिक बड़ी पूँजीधारक उद्योगपति है, जिनका मकसद मुनाफ़ा कमाना और बड़े बाज़ार तैयार करना होता है। वीरेन डंगवाल इस मानसिकता को उजागर करते हुए लिखते हैं-

"अहर्निश चलते इस महासंग्राम में
हे महाजीवन चल सकूँ कम से कम
एक कदम तेरे साथ
उन बच्चों के लिए
जिन्होंने अभी चलना सीखा है
और बहुराष्ट्रीय पूँजी के कुत्ते
देखो अभी से उन पर घात लगाए हुए हैं।"[394]

भूमंडलीकरण का सबसे अमानवीय रूप आज हमारे सामने उपस्थित है। भूमंडलीकरण के उद्घोषकों ने आम-आदमी को फायदा पहुँचाने और आर्थिक विषमता को दूर करने का जो दावा किया, वह वंचना ही साबित हुआ। तैय्यब हुसैन ने इस स्थिति को निरूपित करते हुए लिखा है कि "भारत में आर्थिक उदारीकरण के परिणाम एक वर्ग विशेष के लिए सुखदायक है। यह नवधनाढ्य वर्ग ही विश्वग्राम की अवधारणा के अनुरूप चाहे तो चाय सिंगापुर में, लंच बैंकाक में और डिनर बीजिंग में लेने की क्षमता रखता है पर एक बड़ा समुदाय गोबरहा अनाज खाने पर विवश है।"[395] भूमंडलीकरण ने बहुलतावादी संस्कृति के स्थान पर जिस एकरूप संस्कृति को बढ़ावा दिया है, उसमें एक ही तरह के उपभोक्ताओं का निर्माण होना है। भूमंडलीकरण ने बाज़ार की उपभोक्ता वस्तुओं के साथ दुनियाभर की विविधताओं को हर जगह उपलब्ध करवा दिया है। न केवल पूँजीवादी व्यवस्था अपितु हिंसा और नग्नता भी वैश्विक स्तर पर निर्यात की वस्तु हो गई-

"अब न किसी गुलाब की खातिर फारस जाना
न घोड़े के लिए काबुल
न नीग्रो के लिए अफ्रीका
न पूँजीवाद के लिए अमरीका
न रक्तपात के लिए कुरुक्षेत्र
न नंगेपन के लिए किसी आदिवासी समाज में

[394] डबराल मंगलेश : मैं तुम्हारा कवि हूँ, (सं.) 2016, पृ. सं. 12
[395] हुसैन तैय्यब : वर्तमान परिदृश्य में सांस्कृतिक कर्म, अभिव्यक्ति पत्रिका मार्च-2004, पृ. सं.9

अब हर तरह के हाईब्रीड
हर देश में है।"[396]

उपभोक्तावादी बाज़ारवाद के खिलाफ़ हिन्दी कविता प्रतिरोध का स्वर बुलंद करती है। बाज़ार की गुलामी के लिए अब किसी सैन्य आक्रमण की जरूरत नहीं है-

"सिर्फ़ एक हस्ताक्षर किया जाता है
और खो देते हैं हम
अपना देश।"

वर्तमान में जब समाज के अंदर जनतांत्रिक मूल्यों पर संकट छाया हुआ है, राजनीति संगठित अपराध की शरणस्थली हो गई है, आतंकवाद और धार्मिक वर्बरता के हिंसक हमलों के बीच मनुष्यता के विकास क्रम को अवरुद्ध करने वाली घटनाओं ने जीवन के बुनियादी हकों को पीछे धकेलने का कार्य किया है। ऐसे समय में हिन्दी कविता एक बेहतर समाज की स्थापना के पक्ष में सवाल खड़ा करती है।

5.1.2 बाज़ारवाद की विभीषिका

वर्तमान समय में बाज़ारवाद का मायावी रूप और लूट-खसोट की प्रवृत्ति पूर्ण चरम पर है। भूमंडलीकरण के इस दौर में आत्मीयतापूर्ण मानवीय संवेदना खत्म होती जा रही है। बाज़ारवाद के बदलते स्वरूप के बारे में राजेश जोशी का विचार है कि-"बाज़ारवाद अपने इस उपक्रम के लिए एक किस्म की व्यावसायिक सफलता की चकाचौंध पैदा करता है। वह समाज में सफलता को एक सर्वोपरि मूल्य की तरह स्थापित करता है। वह भाषा से सबसे अधिक डराता है और भाषा जब प्रदर्शनकारी कलारूपों से जुड़ जाती है, तो वह उससे और अधिक सावधान हो जाता है।"[397] राजेश जोशी की कविता 'यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है' इस बदलती दुनिया का यथार्थ प्रस्तुत करती है-

"महानुभावों वो कुछ भी बेच सकते हैं
क्रान्तिकारी गीतों को बना सकते हैं पॉप सांग
बेच सकते है एक साथ वन्दे मातरम और कोलगेट की मुस्कान
हानिकारक है संविधान की समीक्षा, इतिहास पर मंडराता खतरा
और सबसे खतरनाक है राष्ट्रवाद।"[398]

---

[396] शुक्ल अष्टभुजा : इसी हवा में अपनी भी दो चार सांस है, पृ. सं. 14
[397] डॉ. पी. रवि : कविता का वर्तमान (सं.) 2011, पृ. सं. 80-81
[398] जोशी राजेश : चांद पर वर्तनी, 2006, पृ. सं. 92

क्रान्तिकारी गीतों का पॉप सॉंग्स में ढलते जाना, वन्दे मातरम के आवरण में कोलगेट का बेचा जाना, संविधान और इतिहास की पूँजीवादी हितों के अनुकूल व्याख्या और पुनर्लेखन, राष्ट्रवाद का कट्टर स्वरूप कवि को नामंजूर है। क्रान्तिकारी गीतों का पॉप सांग में बदलना उनकी पवित्रता, उपादेयता और महत्त्व को कमतर साबित करना है। वन्दे मातरम इस भारत भूमि से सहज प्यार को व्यक्त करता है, परन्तु जब उसे बाज़ार कोलगेट के विज्ञापन के साथ परोसता है, तो यह देशप्रेम की भावना के साथ खिलवाड़ है। देश के संविधान और इतिहास के सामने दक्षिणपंथी ताकतें लगातार खतरे उत्पन्न कर रही हैं। इन ताकतों ने अपने निहित स्वार्थ लिए संवैधानिक मान्यताओं और उसकी मूल भावनाओं से खिलवाड़ किया है। इतिहास को साम्प्रदायिकता की चादर उड़ाई जा रही है। राष्ट्रवाद महज एक नारे में तब्दील होता जा रहा है, यह कवि के साथ हर जागरूक नागरिक के लिए चिन्ता का विषय है।

बाज़ार हमारे जीवन में अनावश्यक वस्तुओं की इच्छा जागृत करता है। हिंदी कविता बाज़ार की बागडोर के किसी अदृश्य हाथ में होने और बाज़ार की चकाचौंध में खोये हुए व्यक्ति को सावधान करती है। इस बाज़ार का फायदा मुनाफाखोर व्यापारी के साथ सत्ताधारी लोग भी उठाते हैं। हम जिस समय और समाज में जी रहे है, वहाँ स्याह और सफेद को अलगाना काफ़ी मुश्किल है। सब कुछ कालेपन में बदल रहा है। वीरेन्द्र डंगवाल कहते हैं-

"किसने आखिर ऐसा समाज रच डाला
जिसमें बस वही दमकता है, जो काला है
आटे की थैली काली है
हर सांस विषैली काली है
छत्ता है काली बर्रों का
वह भव्य इमारत काली है।
बोलो तो, कुछ करना भी है
या काला शरबत पीते-पीते मरना है।"[399]

कवि न केवल बाज़ार की चमक-दमक के पीछे उपस्थित स्याह चेहरे का संकेत करता है, अपितु उसका डटकर मुकाबला करने या हार मानकर समर्पण कर देने वाले रास्तों में से किसी एक का चुनाव करने के लिए प्रेरित करता है। बाजारों के प्रति लोगों की लुब्धता और बाज़ार की पहुंच का संकेत करते हुए 'कुमार अंबुज' लिखते हैं-

"जहाँ फफूंद नहीं उग सकती

[399] श्रीवास्तव परमानंद : कविता का उत्तर जीवन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. 144

जहाँ वायरस के लिए भी सेंध लगाना नामुमकिन
देखते हैं वहाँ खड़ी हो जाती है दुकान
आँखों में, हृदय में, आत्मा में
एक दिन दिखता है दुकान का साइनबोर्ड
आत्मीयता एक मद की तरह चमकती है सूची में।"[400]

बाज़ारवाद के वर्तमान दौर में हर वस्तु बिकाऊ है। बाज़ार ने हमें मानसिक तौर पर गुलाम बना लिया है। हर वस्तु में बाज़ार की उपस्थिति मानवीयता के सामान्य संस्कारों का अतिक्रमण करती है। अष्टभुजा शुक्ल ने इस स्थिति को अपनी कविता में इस तरह ढ़ाला है-

"जो जितना बिक सकता है
उतना ही मौलिक है
और उतना ही महान
सीधा अभिप्रायः है
सब कुछ व्यवसाय है...
संवेदनात्मक
ज्ञान हैरान है
पित्रोदा परेशान है।"[401]

बाज़ारवाद जीवन की स्वाभाविकता को खत्म कर, उस आदमी में हीन भावनायें भर रहा है, जो बाज़ार का हिस्सा नहीं बन सकता। बाज़ार के चंगुल में फंसे मनुष्य की नियति यह है कि-

"चार रुपए का आँवला बिक रहा है सौ रुपए में
और चरक घूम रहे हैं बौखलाए हुए पठारों पर
पूछते हुए नीम का पता।"[402]

बाज़ारवादी संस्कृति के फैलाव ने स्थानीय संस्कृति को विलोपित करने का कार्य किया है। सांस्कृतिक शुचिता के कोई मायने नहीं हैं। वैचारिक मौलिकता का भी क्षरण हो रहा है।

5.1.3 उपभोक्तावादी संस्कृति का विस्तार

एक विचार और सिद्धान्त के रूप में उपभोक्तावाद ने 'भोग' की लालसा को तीव्र कर अदम्य बना दिया है। विज्ञापन और मीडिया ने इसे और अधिक उभारने का काम किया है। स्वप्न देखना

[400] कुमार अंबुज : एक बार फिर, वसुधा पत्रिका, अंक- 47, पृ. सं. 83
[401] शुक्ल अष्टभुजा : इसी हवा में अपनी भी दो चार साँसे हैं, 2010, पृ. सं. 113
[402] डॉ.आर. शशिधरन : भूमंडलीकरण और हिन्दी, (सं.), 2006,पृ. सं. 51

आदमी का स्वभाव है और वह उन्हें पूरा करने का जी-तोड़ प्रयास करता है। जिसमें उसे या तो सफलता मिलती या फिर असफलता। असफल सपने या तो मरा करते थे या विखर जाया करते थे, पर सपनों का बेचा जाना आज के बाज़ार की सफलता है, राजेश जोशी लिखते हैं-

"एक कवि ने कहा था कुछ बरस पहले
कि खतरनाक है सपनों का मर जाना
एक दोस्त पाठ को बदलकर कहता है
खतरनाक है सपनों का बिखर जाना
दूसरा दोस्त एक बार फिर बदलता है पाठ
सबसे खतरनाक है सपनों का बिक जाना।"[403]

इस उपभोक्तावादी संस्कृति में सभी एक-दूसरे को छल रहे हैं। अरूण कमल पूँजीवादी व्यवस्था को केवल आर्थिक विचार की प्रद्धति ही नहीं मानते, उससे बढ़कर मनुष्यता के विनाश का प्रमुख हथियार मानते है। इससे मुकाबला करने के लिए जाति, धर्म, क्षेत्र और भाषा की 'आईडेंटिटी' न तो कारगर है और न ही युक्तिपूर्ण-

"पूँजीवाद केवल आर्थिक पद्धति नहीं है
यह जीवन के विनाश की सर्वोत्तम पद्धति है।
मैं कितना सुरक्षित हूँ, अपनी जाति
अपने धर्म, अपने क्षेत्र में
और अपनी भाषा में।"[404]

उपभोक्तावाद के प्रचार-प्रसार के बीच भारत में आर्थिक स्थितियों के बदलाव से उपजे नये मध्यवर्ग ने उपभोक्ता वस्तुओं के संग्रहण में कोई कोर कसर नहीं रखी। कुमार अंबुज बताते है कि बाज़ार का उपभोक्ता प्रेम केवल छलावा है, ताकि उसकी जेब ढ़ीली की जा सके, इसलिए वे बाज़ार की उपभोक्ता संस्कृति के प्रति सावचेत होने की बात करते हैं-

"कोई आपको प्रेम करेगा
कोई सुनाएगा बांसुरी
कोई आपको घर का रास्ता बताएगा
कोई आपके दुखते कंधे पर रख देगा हाथ
कोई बताएगा मुक्ति का मार्ग

[403] जोशी राजेश : चाँद की वर्तनी, 2006, पृ. सं. 92
[404] कमल अरुण : मैं वो शंख महाशंख, आराम कुर्सी में, 2012, पृ. सं. 76

कोई करेगा आपको युद्ध के लिए तैयार
और फिर कह देगा एक दिन
यही तो है मेरा व्यापार
दुकानदारी का यही चलन है
यही रीति।"[405]

आलोचक शंभुनाथ उपभोक्तावादी मानस के संबंध में लिखते हैं-"उपभोक्तावादी समाज का आदर्श वह व्यक्ति नहीं है, जो सरल और ईमानदार है। वह है, जो खूब झूठ, कृत्रिमता और ढोंग के साथ जी सके। कुछ भी बेच सके, कुछ भी खरीद सके। कभी तर्क में न जाए।"[406] मानसिक गुलामों की भीड़ तैयार करना ही दरअसल उपभोक्तावाद का लक्ष्य है। एक ऐसी भीड़, जिसका आदर्शों, मूल्यों और विरासत से कोई सरोकर नहीं है। बाज़ारवाद की उपभोक्ता संस्कृति ने आदिवासी गांवों में भी पैर पसारना शुरू कर दिया है। निर्मला पुतुल अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी संस्कृति और अस्मिता पर पड़ने वाले बाज़ार के प्रभावों को चिन्हित करती हुई लिखती है-

"बाज़ार की तरफ भागते
सब कुछ गड्ड-मड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ
उखड़ गये है, बड़े-बड़े पुराने पेड़
और कंक्रीट के पसरते जंगल में खो गई है इनकी पहचान।"[407]

5.1.4 सूचना प्रौद्योगिकी और मीडिया का आतंक

भूमंडलीकरण की पहचान वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उन बहुराष्ट्रीय कंपनियों से होती है, जो सम्पूर्ण विश्व को बाज़ार बनाने पर तुली हुई है। इन कंपनियों का सबसे बड़ा हथियार सूचना प्रौधोगिकी आधारित तंत्र है, जिसमें मीडिया और विज्ञापनों की भूमिका प्रमुख है। विज्ञापनों ने आम आदमी को उसकी नई जरूरतों से रूबरू करवाया। मीडिया और सूचना तंत्र के संजाल ने वर्चस्ववादी सत्ता और मुनाफाखोर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों का भलिभांति संरक्षण किया है। विज्ञापनों के मायाजाल और उसमें फंसी नई पीढ़ी का चित्र कवि ज्ञानेन्द्रपति अपनी कविता में कुछ इस तरह प्रस्तुत करते है-

"विटामिनों और कीटाणुओं का देवासुर संग्राम
छिड़ा ही रहता है विज्ञापनों की दुनिया में अनवरत्
अच्छी मां वही, जो बच्चों को देती है एक खास टॉनिक

[405] कुमार अंबुज : अतिक्रमण, 2002, पृ. सं. 57
[406] शंभुनाथ : संस्कृति की उत्तरकथा, 2012 पृ. सं. 160
[407] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते शब्द, 2012, पृ सं.

महंगा हुआ तो क्या...
एक डिटर्जेन्ट जो चरित्र के धब्बों तक को मिटा दे
एक साबुन की टिकिया का जादू
जिसमें बंद है/ स्वप्न-सुन्दरियों का रहस्य
एक चुम्बन दिलाऊ टूथपेस्ट
आत्म विश्वास है, जिसकी झाग का नाम
मायावी घोषणाएँ, खयाली पोषणाएँ।"[408]

विज्ञापनों के इस मायाजाल से कुछ व्यक्ति बेहद समृद्ध हुए, परन्तु अधिकांश स्थिति बदतर ही हुई है। हिन्दी कविता इस अमानवीकरण का विरोध करती है। भूमंडलीकरण को वैश्विक संस्कृति बताने में मीडिया की अहम भूमिका है। भूमंडलीकरण के घोड़े पर सवार भारत की स्थिति को अष्टभुजा शुक्ल की यह कविता अच्छी तरह बयान करती है-

"एक हाथ में पेप्सी कोला
दूजे में कंडोम
तीजे में रमपुरिया चाकू
चौथे में हरिओम
कितना ललित ललाम यार है
भारत घोड़े पर सवार है।"[409]

वर्तमान समय में बाज़ार जहाँ किसी भी देश के आर्थिक विकास की रीढ़ है, उस पर विदेशी कंपनियों का अधिकार होते जाना देश को आर्थिक गुलामी की ओर धकेलना है। भूमंडलीय बाज़ार मानवीय संस्कृति को खत्म कर जिस उपभोक्ता संस्कृति का निर्माण करता है, उसमें विविधता धीरे-धीरे खत्म हो जाती है और एकरूपता आने लगती है। एक संस्कृति- एक विश्व का यह नारा साम्राज्यवादी शोषण को बरकरार रखने में सहायक होता है। इसलिए ऐसी विश्व व्यवस्था का प्रतिरोध आवश्यक है।

5.1.5 स्त्री छवि का भूमंडलीकरण

दुनिया की आधी आबादी का प्रतिनिधित्त्व करने वाली स्त्री की छवि वर्तमान भूमंडलीकरण में काफ़ी बदल चुकी है। ऐतिहासिक रूप से समाज और परिवार के बीच स्त्री के व्यक्तित्त्व को बहुत कमतर करके आंका गया है। पितृसत्तात्मक भारतीय समाज में उसे वह दर्जा कभी नहीं मिला, जिसकी

[408] ज्ञानेन्द्रपति : गंगातट, 2000, पृ. सं. 83
[409] आलोचना त्रैमासिक पत्रिका : सहस्त्राब्दी अंक-1, अप्रैल-जून 2000, पृ सं. 191

वह हकदार थी। इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कविता स्त्री जीवन की समस्याओं को अतीत और वर्तमान दोनों परिप्रेक्ष्य में न केवल चित्रित करती है, अपितु स्त्री मुक्ति के स्वर को पूर्ण तेवर के साथ पाठकों के समक्ष रखती है। नीलेश रघुवंशी स्त्री आजादी को यथार्थ के धरातल पर देखना चाहती है। वे स्त्रियों की अलग दुनिया की हिमायत करती हुई लिखती है -

"मिल जानी चाहिए अब मुक्ति स्त्रियों को
आखिर कब तक विमर्श में रहेगी मुक्ति
बननी चाहिए एक सड़क,
चले जिस पर सिर्फ़ स्त्रियाँ ही
मेले और हाट-बाज़ार भी अलग
किताबें भी अलग, अलग हो गाथाऐं
इतिहास तो पक्के तौर पर अलग
खिड़कियां हो अलग
झांके कभी स्त्री तो दिखे सिर्फ़ स्त्री ही।"[410]

भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में बाज़ार और उसके विज्ञापन तंत्र का सीधा हमला स्त्री अस्मिता पर है। विज्ञापनों में स्त्री स्वतंत्रता की एक अलग आभासी दुनिया प्रस्तुत की गई है, जिसका वास्तविकता से कोई लेना-देना नहीं है। स्त्री श्रम के साथ यौन शोषण का चित्रण भी इस दौर की स्त्रीवादी कविताओं का विशेष स्वर है। घरेलू हिंसा की शिकार औरतों के इंसानी हकों पर सवाल उठाती हुई अनामिका की यह कविता दृष्टव्य है-

"मैं एक दरवाजा थी
मुझे जितना पीटा गया
मैं उतना ही खुलती गई।...
चला आ रहा है एक वृहत्चक्र
चक्की रुकती है तो चरखा चलता है
चरखा रुकता है तो चलती है कैंची सुई
गरज यह कि चलता ही रहता है
अनवरत् कुछ न कुछ।"[411]

[410] रघुवंशी नीलेश : पानी का स्वाद (स्त्री विमर्श) 2004, पृ. सं. 46
[411] kavitakosh.org/kk/ दरवाजा (दूब-धान संग्रह से/ अनामिका)

प्रस्तुत कविता स्त्री के व्यक्तिगत पारिवारिक जीवन की छवि पेश करती है। निर्मला पुतुल भी इसी तरह अपनी जमीन तलाशती बेचौन स्त्री भावनाओं को अभिव्यक्त करती हूई लिखती है-

"तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के
मन की गाँठे खोल कर
कभी पढ़ा है तुमने।...
अगर नहीं
तो फिर जानते क्या हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे
एक स्त्री के बारे में।"[412]

आधुनिक विज्ञापनों में नारी को वस्तु रूप में इस्तेमाल किया है। भूमंडलीकरण के दौर की स्त्री-कविता स्त्री को मात्र देह मानने से इनकार करती है। शरीर के अतिरिक्त भावनाओं और संवेदनाओं के अपेक्षित जुड़ाव की आकांक्षी है स्त्री, जिसे कविता व्यक्त करती है। भूमंडलीकरण के दौर की स्त्री कविताओं में हाशिये पर धकेले गये स्त्री-जीवन की मुक्ति के संघर्ष का आह्वान है। यहाँ नारी मुक्ति से अधिक मानव मुक्ति का स्वर है। ये कविता मानव जीवन की विसंगतियों का चित्रण कर पाठक और श्रोता को सोचने पर विवश करती है।

5.1.6 पारिवारिक संरचना और संवेदना का बदलता रूप

भूमंडलीकरण से पूर्व ही भारतीय पारिवारिक संरचना में बिखराव देखने को मिल जाता है। इसका कारण आर्थिक उत्पादन की बदलती परिस्थितियाँ थी, लेकिन भूमंडलीकरण ने इसे और ज्यादा तीव्र बना दिया। एकल परिवार सामान्य बात हो गई। राजेश जोशी 'संयुक्त परिवार' कविता के माध्यम से परंपरा के आलोक में बदलती संवेदनाओं को उजागर करते हैं-

"इस तरह से कभी कोई नहीं
लौटा होगा
बचपन के उस पैतृक घर से
जहाँ बाबा थे, दादी थी
माँ और पिता थे
लड़ते झगड़ते भी साथ-

[412] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते शब्द, 2012, पृ. सं. 19

साथ रहते थे सारे.....
पल दो पल के लिए बिठा ही लिया
जाता था
हर आने वाले को।"[413]

1990 के बाद उदारीकरण की प्रवृतियों ने मनुष्य की सामाजिकता को चुनौती देते हुए अकेला होने पर मजबूर कर दिया। इस दुखदायी परिस्थिति के कारणों को स्पष्ट करते हुए आचार्य नरेन्द्र देव लिखते हैं कि "जिस मात्रा में सामाजिक अवस्थाएँ और पद्धतियाँ बदलती है उसी अनुपात में मानव नहीं बदलता, उसके पुराने संस्कार नहीं बदलते। इसलिए नई परिस्थिति के अनुकूल अपने को बार-बार बदलने में मनुष्य को कठिनाई प्रतीत होती है।"[414] भूमंडलीकरण ने जिस तरह समाज को तोड़ने का काम किया है, व्यक्ति से व्यक्ति को अलग किया है। हिन्दी कविता न सिर्फ़ इसकी पहचान करती है अपितु वर्तमान समय की आलोचना भी प्रस्तुत करती है। वर्तमान व्यवस्था में पूँजी के खेल को कवि अरूण कमल ने 'अपनी पीढ़ी के लिए' कविता में कुछ इस तरह व्यक्त किया हैं-

"जब भी हमारा जिक्र हो, कहा जाय
हम उस समय जिये जब
सबसे आसान था चंद्रमा पर घर
और सबसे मोहाल थी रोटी
और कहा जाय
हर पीढ़ी की तरह हमें भी लगा
कि हमारे पहले अच्छा था सब कुछ
और आगे सब अच्छा ही होगा।"[415]

बदली हुई सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों ने गाँव की परंपरा को बदल दिया। भूमंडलीकरण के दौर में भौतिकवादी जीवन शैली ने हमारे पारंपरिक मूल्यों को तहस नहस करने में कोई कमी नहीं छोड़ी। भारत में जहाँ एक ओर चाँद के बाद मंगल की उड़ान जारी है तो वहीं दूसरी ओर भूख और गरीबी से कराहती, छटपटाती जनता जैसे-तैसे दिन निकाल रही है। 'संबंधहीनता' भी इस दौर का एक मूल्य है। उम्रदराज पीढ़ी के प्रति हमारा व्यवहार जिस तरह आदरपूर्ण और सम्मानजनक होना चाहिए, वह नहीं रह गया है। इसे सहेजने की जरूरत है-

"वृद्धाएँ धरती का नमक है

---

[413] जोशी राजेश : दो पंक्तियों के बीच, संयुक्त परिवार, 2000, पृ. सं. 54
[414] नरेन्द्रदेव : भारतीय समाज ओर संस्कृति: परिवर्तन की चुनौती
[415] कमल अरुण : पुतली में संसार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. सं. 46

किसी ने कहा था
जो घर में हो कोई वृद्धा खाना ज्यादा अच्छा पकता है
पर्दे, पेटीकोट और पायजामें भी दर्जी के मोहताज नहीं रहते
सजा धजा रहता है घर का हर कमरा
बच्चे ज्यादा अच्छे पलते हैं
उनकी नन्हीं-मुन्हीं उलटियां संभालती
जगती हैं वे रातभर।" [416]

सहज स्वाभाविक जीवन की जगह पैर पसारता आधुनिकता का जीवन वर्तमान कविता की चिंता का प्रमुख विषय है। नई समाज व्यवस्था सहजता की जगह कृत्रिमता को स्थान देने वाली है। समकालीन कवि मानवीय रिश्तों पर संवेदनशील कविता रचते हैं। भूमंडलीकरण के दौर में आत्मीयता और अपनापन संकट में है। समकालीन कवि इस व्यवस्था से विरोध जताते हैं।

5.1.7 सांप्रदायिकता का फैलाव

अपने समुदाय और धर्म को श्रेष्ठ मानने और दूसरों को कमतर समझने का भाव साम्प्रदायिकता को जन्म देता है। भूमंडलीकरण के दौर में धर्म, सम्प्रदाय, संस्कृति, जातीयता, भाषा आदि ऐसे प्रत्यय है, जो सामाजिक वैमनस्य और तनाव के कारण बनते है। राजेश जोशी ने सांप्रदायिकता की दावाग्नि के विकराल स्वरूप को कुछ इस तरह व्यक्त किया है-

"जब तक मैं, एक अपील लिखता हूँ
आग लग चुकी होती है ,सारे शहर में
हिज्जे ठीक करता हूँ जब तक, अपील के
कर्फ्यू का ऐलान करते, घूमने लगती है गाड़ी
अपील छपने जाती है, जब तक प्रेस में
दुकानें जल चुकी होती हैं
मारे जा चुके होते हैं लोग
छपकर जब तक आती है अपील
अपील की जरूरत खत्म हो चुकी होती है।"[417]

---

[416] अनामिका : खुरदरी हथेलियाँ, 2004, पृ. सं. 47

[417] जोशी राजेश : दो पंक्तियों के बीच, 2000, पृ. सं. 95

1992 में बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद जिस तेजी से सांप्रदायिकता का उभार हुआ, वह संपूर्ण मानवता के लिए खतरा है। इसके फैलाव में पूँजीवादी व्यवस्था और धार्मिक उन्माद से पूर्ण राजनीति की भूमिका मुख्य है। जिस तरह आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'आध्यात्मिक रंग के सस्ते चश्मों के चलन' का जिक्र गीतगोविन्द और विद्यापति के पदों के संदर्भ में करते हैं, ठीक उसी तरह आज धार्मिक रंग के चश्में बहुत सस्ते हैं, जिन्हें चढ़ाकर लोग धरती और आकाश का रंग भी अपनी धार्मिक मान्यताओं के बरक्स ढूंढ लेते हैं। इतिहास को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने और उसकी मन मुताबिक व्याख्या ने सांप्रदायिकता को और अधिक बढ़ावा दिया है। कवि असद जैदी लिखते हैं-

"मैं दंगाइयों का शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ
कि उन्होंने वली की मजार की मिट्टी को
सारे मुल्क की मिट्टी, हवा और पानी का
हिस्सा बना दिया।"[418]

आज जब सांप्रदायिकता का उभार अपने चरम पर है, तब प्रतिरोध की आवाजों का कुचला जाना, आने वाले समय की भयावहता को रेखांकित करता है। सामूहिक प्रतिरोध के निस्तेज होते जाने पर निजी प्रतिरोध के रूप में हिन्दी कविता पूर्ण रूप से सक्रिय है। एकांत श्रीवास्तव की कविता 'दंगे के बाद' की स्थिति का बयान करती है-

"एक नुचा हुआ फूल है यह शहर
जिसे रौंद गये है आतातायी
यह शहर
लाखों-लाख कंठो में
एक रुकी हुई रुलाई है
एक उड़ा हुआ रंग
एक रौंदा हुआ जंगल है यह शहर।"[419]

हिन्दी कविता के प्रतिरोध का स्वर भूमंडलीकरण के समय में उसकी उपादेयता को सिद्ध करता है।

5.1.8 किसान जीवन की त्रासदी

[418] जैदी असद : दस बरस, 2002, पृ. सं 107

[419] kavitakosh.org/kk/ दंगे के बाद/एकांत श्रीवास्तव

भारत गांवों का देश है और बगैर किसान के गाँव की कल्पना नहीं की जा सकती। वर्तमान भूमंडलीकरण के समय में किसानों की हालत बहुत दयनीय हुई है। सरकारों के पास खेती-किसानी को बचाने का न तो माद्दा है और न ही इच्छाशक्ति। गरीबी और कर्ज के दलदल में फंसा हुआ किसान आत्महत्या को ही अपनी नियति मान बैठा है। हिन्दी कविता बगैर किसान त्रासदी से गुजरे अपने मुकम्मल रूप को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। भूमंडलीकरण के दौर में खेती एक घाटे का सौदा बनकर रह गई है। राजेश जोशी की कविता 'इस आत्महत्या को अब कहाँ जोड़ू' की निम्न पंक्तियां गौर करने योग्य है-

"देश के बारे में लिखे गए हजारों निबंधों में लिखा गया
पहला अमर वाक्य, एक बार फिर दोहराता हूँ
भारत एक कृषि प्रधान देश है!
दुबारा उसे पढ़ने को जैसे आँखें झुकाता हूँ
तो लिखा पाता हूँ
कि पिछले कुछ वर्षों में डेढ़ लाख से अधिक किसानों ने
आत्महत्या की है इस देश में
भयभीत होकर कागजों पर से अपनी आँखे उठाता हूँ
तो मुस्कुराती दिखती है हमारी सरकार
कोई शर्म नहीं किसी की आँख में
दुःख या पश्चाताप की एक झांई तक नहीं चेहरे पर।"[420]

बढ़ती हुई किसान आत्महत्याओं के बीच बहुराष्ट्रीय खाद्य उत्पाद कंपनियों ने फसलों के खाद-बीजों पर कब्जा कर किसानों के लिए संकट पैदा कर दिया है। कॉर्पोरेट खेती के दौर में छोटे किसानों का वजूद मिटता जा रहा है। सरकार किसान की जो छवि दिखा रही है, वह वास्तविक किसान की स्थिति को बयां करने में सक्षम नहीं है-

लहलहाते खेत- आसमान को छूते....
खड़ी फसलें... मायके आई लड़कियों की तरह खिलखिलाती
लिपे पुते घर, जिनके भीतर से
दही मथने और गेहूँ फटकने का सुरीला शोर
ट्रैक्टर पर हाथ में मोबाइल लिए किसान
ट्राली अनाज के बोरों से लदी

[420] जोशी राजेश : जिद, पृ. सं. 82

मण्डी में मिलते अनाज के सही दाम
खिल-खिल जाती बाछें घर घर की
कितना खुशहाल जीवन, विज्ञापन में किसान।"[421]

लोगों के बीच मीडिया के माध्यम से किसान की यही छवि पेश करती है सरकार। भूमि अधिग्रहण और कर्ज के जाल में फँसे किसान आज अपनी जमीन से हाथ धोते जा रहे हैं। महानगर केन्द्रित नीतियों ने आज गाँव और किसान को राष्ट्रीय चेतना से छिटका दिया गया है। गाँधी और नेहरू का सपना भारतमाता ग्रामवासिनी से बदलकर 'भारत माता महानगर वासिनी' हो गया। गोदान उपन्यास में वर्णित होरी की संतानें आज बदलाव के दौर से गुजर रही है- "होरियों की हजारों-हजार संतानों का रेलगाड़ी की छत पर सवार होकर शहरों में पलायन आज का दारुण दृश्य है। प्रेमचंद का किसान जहाँ जमींदारी और महाजनी का शिकार था, वहीं आज का किसान कॉर्पोरेट फार्मिंग और कॉर्पोरेट बैंकिंग का शिकार है।"[422] साल 2020-21 में पंजाब और हरियाणा के किसानों ने न्यूनतम समर्थन मूल्य की माँग के साथ दिल्ली की घेराबंदी कर दी, जिस पर सरकार को अंतत: झुकने पर मजबूर कर दिया। ऐसे में रमाशंकर यादव 'विद्रोही' की कविता की ये चंद पंक्तियाँ किसानों की संघर्ष की जिजीविषा को व्यक्त करती है-

"मैं किसान हूँ
आसमान में धान बो रहा हूँ
लोग कहते है कि पगले
आसमान में धान नहीं उगा करता
मैं कहता हूँ पगले-गोगले
अगर जमीन पर भगवान जम सकता हैं
तो आसमान में भी धान उग सकता है।"

5.1.9 दलित प्रतिरोध का स्वर

भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री, दलित और आदिवासी अस्मिता का उभार एक साथ देखा जा सकता है। बढ़ते शहरीकरण और पूँजीवादी व्यवस्था ने गाँव की परंपरागत सामन्ती अर्थव्यवस्था को समाप्त करने और दलितों की मुक्ति के संदर्भ में सकारात्मक भूमिका निभाई। दलितों का रोजगार और बेहतर मानवीय जीवन की तलाश में शहरों की ओर पलायन हितकर साबित हुआ। सुदृढ़ होती

[421] kavitakosh.org/kk/ विज्ञापन में किसान (पानी का स्वाद संग्रह से)/ नीलेश रघुवंशी
[422] यादव वीरेन्द्र : प्रगतिशीलता के पक्ष में, 2014, पृ. सं. 25-26

आर्थिक स्थिति ने उन्हें अपने मानवीय अधिकारों की आवाज बुलंद करने के लिए प्रेरित किया। वामपंथी विचारकों ने अभी तक सर्वहारा के रूप में इन्हें चिन्हित किया, पर अब ये एक नई पहचान 'दलित' के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुके है। साहित्य में भी इन्होंने न केवल अपनी उपस्थिति दर्ज़ करवाई, अपितु दलित साहित्य के अलग सौन्दर्यशास्त्र की माँग की। साहित्य की अनेकानेक विधाओं जैसे-कविता, निबंध, जीवनी, आत्मकथा, आलोचना आदि के माध्यम से साहित्य को एक नई दृष्टि और दिशा देने का काम दलित साहित्य ने किया। जाति का ऐतिहासिक बोध दलित साहित्य की विशेष पहचान है, कवि मलखान सिंह के शब्दों में-

"मैं इस देश में जहाँ रहता हूँ
आदमी मुझे नाम से नहीं जाति से पहचानता है
और जाति से सलूक करता है।"[423]

दलित कविता में सदियों से जमा हुआ दर्द अभिव्यक्ति पाने लगा। दलित कविता का पाठक भी संवेदनशील होने के नाते उसे आत्मसात करता जाता है-

"क्या होता है
दलित होने का दर्द
कितना विकट होता है...
भूख के गणित से जाति का व्याकरण।"[424]

हिन्दी कविता में शोषण और दमन के प्रतिरोध की परंपरा बहुत पुरानी है। नागार्जुन, मुक्तिबोध, धूमिल, आलोक धन्वा, राजेश जोशी, गोरख पाण्डेय, पंकज सिंह, अरुण कमल, मंगलेश डबराल, आदि सैंकड़ो कवि हैं, जो व्यवस्था परिवर्तन की माँग करते हैं, परन्तु सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था पर जितनी तल्ख़ी दलित कवियों की है, उतनी किसी और की नहीं। दलित समाज की पीड़ा दलित कविता भलिभांति व्यक्त करती है-

"ब्राह्मण का मान
ठाकुर की शान
सेठ की तिजोरी
खेत खलिहान
मिल कारखाने
कोठी और हवेली

[423] सिंह मलखान : सुनो ब्राह्मण, 2018, पृ. सं. 20
[424] कर्दम जयप्रकाश : तिनका-तिनका आग, जाति का व्याकरण, 2012, पृ. सं. 26

मेरे श्रम और शोषण से
फले फूले हैं।"[425]

दलित कविता वर्णव्यवस्था के जातिवादी रूप को अस्वीकार करती है। और समतामूलक समाज का आदर्श प्रस्तुत करती है। अस्पृश्यता और जाति दंश के साथ दलित सामाजिक- आर्थिक शोषण और शारीरिक-मानसिक प्रताड़ना के शिकार हैं। इसलिए गाँव का चित्र उनकी आँखों में मनुष्यता के अहसास को दूर करने वाला होता है। ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविता 'ठाकुर का कुँआ' इसकी अभिव्यक्ति करती है।

"चूल्हा मिट्टी का
मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का
भूख रोटी की
रोटी बाजरे की
बाजरा खेत का
खेत ठाकुर का
बैल ठाकुर का
हल ठाकुर का
हल की मूंठ पर हथेली अपनी
फसल ठाकुर की
खेत खलिहान ठाकुर के
गली-मुहल्ले ठाकुर के
फिर अपना क्या?
गाँव?
देश?"[426]

सौम्यता और आक्रोश दोनों की सहभागिता हिन्दी दलित कविता में देखी जा सकती है। इतिहास, मिथक और परंपराओं की नये संदर्भ में प्रस्तुति दलित साहित्य की विशेष पहचान है। दलित अस्मिता की खोज वर्तमान हिन्दी दलित कविता का मुख्य स्वर है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, जयप्रकाश

[425] कर्दम जयप्रकाश : गूंगा नहीं था मैं, 2015, पृ. सं. 30
[426] वाल्मीकि ओमप्रकाश : सदियों का संताप, पृ. सं. 3

कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, कंवल भारती, नामदेव ढ़साल, मलखान सिंह, रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे आदि हिन्दी दलित कविता के प्रमुख हस्ताक्षर है।

निष्कर्ष रूप में भूमंडलीकरण के समय की हिन्दी कविता कथ्य और शिल्प की दृष्टि से काफ़ी परिवर्तित हुई है। पश्चिमी पूँजीवाद के वर्चस्व तले संचालित बाज़ारवाद और उसकी उपभोक्ता संस्कृति की पहुंच को हिन्दी कविता उजागर करती है। पश्चिमी साम्राज्यवाद के पैरोकार अमरीका की आर्थिक नीतियों की आलोचना करने के साथ देशी संस्कृति के खत्म होते जाने की चिंता भी हिन्दी कविता में है। मानवीय संवेदनाओं के विकृत होने एवं पारिवारिक संरचना के विखरने का दर्द हिन्दी कवि रेखांकित करते है। किसान, दलितों, आदिवासियों के साथ महिलाओं पर भूमंडलीकरण के प्रभावों का मूल्यांकन हिन्दी कविता करती है। यहाँ राष्ट्रवाद और धार्मिक संकीर्णता की चाशनी में छनकर भी ग्लोबल पूँजीवाद अपने स्वरूप को छिपाने में नाकाम रहा है। हिन्दी कविता की परिधि में राष्ट्र राज्य की कुटिल नीतियों के साथ वैश्विक साम्राज्यवादी चालें भी समाहित है। सीधी और सपाटबयानी के साथ हिन्दी कविता शोषितों के साथ अपनी पक्षधरता सिद्ध करती है।

हिन्दी कविता के आकाश में राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, अरूण कमल, असद जैदी, निर्मला पुतुल, ओमप्रकाश वाल्मिकी, जयप्रकाश कर्दम, अनामिका, अरूण कमल, ज्ञानेन्द्रपति, परमानंद श्रीवास्तव, नीलेश रघुवंशी, अष्टभुजा शुक्ल आदि ऐसे नक्षत्र है जिन्होंने भूमंडलीकरण की प्रवृतियों को चिहिन्त करने के साथ उसकी विभीषिका को दर्ज़ किया है। वस्तुतः इन कवियों का रचना संसार मध्यमवर्गीय आकांक्षाओं और उनके जीवन पर विशेष रूप से केन्द्रित रहा है, हाशिए के समाज पर भूमंडलीकरण के प्रभावों को उस वर्ग के कवियों की कविताओं से समझ सकते है। दलित और आदिवासी ऐसी ही अस्मितायें है।

5.2 हिन्दी आदिवासी कविता का विकास

हिन्दी साहित्य में आदिवासी विषय पर कविता लेखन की शुरूआत छायावादी दौर में हो चुकी थी, हालांकि छायावादी कवियों या साहित्यालोचकों ने कभी इसका जिक्र नहीं किया। तत्कालीन अखबारों और पत्रिकाओं में इन कविताओं की उपस्थिति देखी जा सकती है। आजादी से पहले और बाद की इन कविताओं में आदिवासी जागरण, आदिवासियों की विशिष्ट पहचान और उनकी समस्याओं को दर्ज़ किया गया है। गांधीवादी विचारधारा से प्रेरित ये कवितायें आदिवासी सहअस्तित्व और सामूहिकता की भावना को उकेरने के साथ आपसी सद्भाव और प्रेम को अभिव्यंजित करती है।

भूमंडलीकरण से पहले की हिन्दी आदिवासी कविता के क्षेत्र में सुशीला सामद और आशा सुशमा किस्कू का उल्लेख प्रमुखता से किया जाता है

5.2.1 प्रमुख हिन्दी आदिवासी कवि और उनकी कविता

सुशीला सामद

हिन्दी आदिवासी कविता के आदि हस्ताक्षरों में पहला नाम सुशीला सामद का है। सुशीला सामद हिन्दी की पहली आदिवासी कवियत्री और संपादक थी, इसलिए इनके बारे में विस्तार से चर्चा करना निहायत ही जरूरी हो जाती है। सुशीला सामद का जन्म तत्कालीन बिहार प्रान्त के चाईबासा और वर्तमान सिंहभूमि जिले के लउजोड़ा गाँव में 07 जून 1906 को हुआ। आदिवासी मुंडा परिवार में जन्मी सुशीला सामद ने अपने पहले संस्करण 'प्रलाप' की भूमिका में अपने बारे में विस्तार से लिखा है। इनकी प्राथमिक शिक्षा घर पर और स्थानीय प्राइमरी स्कूल के साथ एस.पी.जी मिशन स्कूल से हुई। 11 वर्ष की अवस्था में स्कूल छोड़ने के बाद अपने बहनोई के सहयोग से स्वाध्याय के बल पर 1931 में प्रयाग महिला विद्यापीठ से प्रवेशिका, 1932 में विनोदिनी और 1934 में विदुषी की परीक्षा पास की। अपनी शिक्षा-दीक्षा के बारे में उन्होंने लिखा कि "मुझे अपने अध्ययन में किसी विद्वान अथवा अध्यापक से सहायता नहीं मिली। मैंने जो कुछ सीखा, एक मात्र अपने अध्यवसाय के द्वारा ही सीखा और जाना।"[427] सुशीला सामद के बहनोई देवेन्द्रनाथ सामद 'चाँदनी' पत्रिका के संपादक थे। इनके बिहार विधान परिषद के सदस्य चुने जाने के बाद उक्त पत्रिका के संचालन और संपादन की जिम्मेदारी कुछ समय तक सुशीला सामद ने उठाई। इस रूप में उन्हें भारत की पहली आदिवासी महिला संपादक कहा जा सकता है।

साहित्य के इतिहास में सुशीला सामद की अनुपस्थिति को वंदना टेटे ने जानबूझकर की गई उपेक्षा माना है-"सुशीला सामद को हिन्दी साहित्य के इतिहास से मठाधीशों ने फाड़कर फेंक दिया गया है, इसलिए कि आदिवासी हिन्दी के आरंभिक काल से ही लिख रहे थे। हिन्दी भाषी न होते हुए भी अपनी पहली कविता संकलन से तत्कालीन कविता के शीर्ष को छू लेने वाली इस आदिवासी कवियत्री को ये स्वीकार नहीं करना चाहते, क्योंकि ये महिलाओं को साहित्य लेखन का श्रेय देने को तैयार नहीं थे।... सुशीला सामद की जानबूझ कर की गई उपेक्षा और अनुपस्थिति यही दर्शाती है।"[428] सीमोन द बोऊआ ने एक जगह लिखा है कि 'आज तक का सारा साहित्य इतिहास पुरूषों के द्वारा लिखा गया है,

[427] सामद सुशीला : प्रलाप (1932) वंदना टेटे (सं.) पृ. सं. 8

[428] सामद सुशीला : पूर्वोक्त पृ. सं. 22

इसलिए उसमें स्त्रियों को या तो स्थान नहीं दिया गया अथवा चलते-चलते उल्लेख मात्र ही कर दिया गया है।'

'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' लिखने वाली सुमन राजे राष्ट्रीय आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में महिलाओं की भागीदारी के विस्मृत किये जाने को उत्तरदायित्वहीनता से जोड़कर देखती है-"आज की स्मृतिहीनता इतिहासहीनता की ओर ले जाने वाली यात्रा है। यदि ऐसा न होता तो राष्ट्रीय आंदोलन के कई पक्ष नेपथ्य में न पहुँच गये होते।.... उत्सुक राष्ट्र को अपनी दृष्टि साफ करनी चाहिए और अपनी परंपराएँ शुद्ध।...सच तो यह है कि न तो शोध ने अपना कर्तव्य निभाया और न ही साहित्यकार ने अपना उत्तरदायित्व पूरा किया। महिला लेखन के राष्ट्रीय स्वरूप को लगभग भुला ही दिया गया है।"[429] सुशीला सामद ऐसी ही आदिवासी महिला कवयित्री थी, जिसकी रचनात्मकता को समय की मोटी चादर ने ढ़क लिया। गांधी के विचारों से प्रभावित सुशीला सामद कांग्रेसी 'सुराजी' स्वतंत्रता सेनानी और बिहार विधानसभा की सदस्य भी रही। अभी तक हुए शोध के अनुसार इनके दो कविता संग्रह प्रकाशित हुए। पहला 'प्रलाप' जो कि 1934 में प्रकाशित हुआ और वंदना टेटे ने इसे पुनः प्रकाशित करवाया। इसके अतिरिक्त 'सपने का संसार' भी रांची से प्रकाशित कविता संग्रह था, जिसके बारे में कोई पुख़्ता जानकारी नहीं है।

'प्रलाप' कविता संकलन में कुल 43 कवितायें संकलित थी। सुशीला सामद और महादेवी वर्मा एक साथ काव्य रचना कर रही थी। दोनों की कविताओं पर छायावाद का साफ प्रभाव देखा जा सकता है, फिर भी एक साहित्य जगत के शीर्ष पर पहुंची, तो दूसरी गुमनामी के जंगल में खो गई। स्त्री अस्मिता और उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को जिस ढंग से सुशीला सामद व्यक्त करती है, वह महादेवी से ज्यादा तीक्ष्ण और मारक है। महादेवी वर्मा अपने एक आलेख 'स्त्री: दान ही नहीं आदान भी' में पतिहीन स्त्रियों का जिक्र करती हुई लिखती हैं कि "वे शून्य के समान पुरुष की इकाई के साथ सब कुछ हैं, परन्तु उससे रहित कुछ नहीं।"[430] वहीं सुशीला सामद की कविताओं में छायावादी रहस्य चेतना की भरमार होने पर भी दृष्टि साफ हैं, वे लिखती हैं-

"प्राणों का भी करके होम,

करूंगी नष्ट तुझे तम-तोम।

जगाऊंगी अपनी शक्ति,

[429] राजे सुमन : रचना की कार्यशाला, पृ. सं. 48

[430] www.hindisamay.com/content/1122/1/लेखक भी-आदान-नहीं-ही-दान-स्त्री-अन्य-की-वर्मा-महादेवी-

सुना-सुना अमृतमय उक्ति ।"[431]

सुशीला सामद की कविताओं में उनके निजी जीवन छाप तो है ही, भाव और कथ्य की संवेदना भी अद्वितीय है-

"रहा घोर उठ नभ-मंडल से

झंझावत आज साकार।

निराधार हो नयन-वारि यह

बरस रहा है मूसलाधार ।"[432]

सुशीला सामद की कविताऐं मजबूती के साथ अपनी बात रखती है। शिक्षा, सत्ता और संपत्ति से विहीन स्त्री को मुक्ति की राह दिखाने में महिला आंदोलनकारियों, समाज सेवियों और वैचारिक चिंतकों का महत्वपूर्ण योगदान है। सुशीला जी स्वयं स्वतंत्रता सेनानी थी, इसलिए जनमानस में जागृति लाने का काम अपनी कविताओं के माध्यम से करती हैं-

"उठो उठो अब मत सोओ,

यों जीवन को मत खोओ।

मादकता से मुख धो लो,

एक बार बस जय बोलो ।"[433]

सुशीला सामद हिन्दी कविता की भावभूमि से जुड़ी थी, फिर भी काव्य प्रतीकों और बिंबों के धरातल पर वह बार-बार आदिवासी जीवन और प्रकृति के सानिध्य में चली जाती है । आदिवासी समुदाय को जगाने का भाव उनकी कविताओं में है-

"सुन पड़ता खग-दल का गान,

चलाते तम पर है घन बाण ।"[434]

---

[431] सामद सुशीला : पूर्वोक्त पृ. सं. 109
[432] सामद सुशीला : पूर्वोक्त पृ. सं. 112
[433] सामद सुशीला : पूर्वोक्त पृ. सं. 115
[434] सामद सुशीला : पूर्वोक्त पृ. सं. 115

प्रकृति का तज के सारा स्नेह,

किया है उससे भारी द्रोह।"[435]

निःसन्देह सुशीला सामद ऐसे दौर में आदिवासी महिलाओं का प्रतिनिधित्व हिन्दी साहित्य में कर रही थी, जब किसी भी वर्ग की महिलाओं को घर की चार दिवारी से निकलने की आजादी भी नहीं थी। उनका लेखन हिन्दी में आदिवासियत को सामने रखता है। विडंबना यह है कि इतना सब होने के बावजूद हिन्दी साहित्य और इतिहास में उन्हें कोई नोटिस नहीं किया गया।

आशा सुशमा किस्कू

संताल परगना क्षेत्र की प्रथम आदिवासी कवयित्री होने का गौरव प्राप्त करने वाली आशा सुशमा किस्कू का जन्म तत्कालीन बिहार प्रान्त के पाकुड़ जिले में 07 अगस्त 1952 को हुआ। इनका पहला काव्य संकलन 'आदिवासियों का संसार' 1990 में प्रकाशित हुआ, जिसका पुनः मुद्रण वंदना टेटे ने 2020 में प्रकाशित करवाया। 15 कविताओं के इस लघु संस्करण में आदिवासी अस्मिता और जीवन संघर्ष का चित्रण करने के साथ आदिवासी स्थितियों का रेखांकन किया है। आशा सुशमा किस्कू की रचनाओं के माध्यम से वंदना टेटे आदिवासी साहित्य के अलगाव को रेखांकित करती हुई लिखती हैं कि-"आदिवासी काव्य परंपरा की अपनी विशेषताएँ, मूल्यबोध और सौन्दर्य है। आदिवासियों का जीवन संसार गैर आदिवासी दुनिया से भिन्न है। उसकी शब्दावलियां, वाक्य संरचना, कथ्य, प्रतीक और साहित्य के प्रतिमान वही नहीं है जो हमें साहित्य के जरिए बताया और पढ़ाया जाता रहा है।...आशा सुशमा किस्कू की कविताएँ इसका सटीक उदाहरण हैं। जो सत्य है, गेय है और आदिवासियत के दर्शन की वास्तविक अभिव्यक्ति है। आदिवासी काव्य परंपरा से संबद्ध, उसका निर्वाह करती हुई उसे और आगे ले जाती है।"[436]

आशा सुशमा किस्कू की कवितायें उस दौर की है जब हिन्दी में आदिवासी विमर्श की कोई सुगबुगाहट नहीं थी। आदिवासी कहन परंपरा का गेय तत्त्व की मौजूदगी इनकी कविता को नये आयाम देती है-

"तीर, धनुष, बाँसुरी व फूलों के श्रंगार में

[435] सामद सुशीला : पूर्वोक्त पृ. सं. 102

[436] किस्कू आशा सुषमा : आदिवासियों का संसार (2020) पृ. सं. 8

रहते मस्त आदिवासी अपने ही संसार में

कीमत इनकी कौन आंके, दुनिया के बाज़ार में

रहते मस्त आदिवासी अपने ही संसार में ।"[437]

आशा सुशमा किस्कू की कविताओं में आदिवासी संस्कृति की 'नाची तें बाँची' परंपरा दिखाई देती है। वह अपने गीतों के माध्यम से अपने क्रान्तिकारी पुरखों को याद करने और आपसी मतभेदों को भुलाने का संकेत देती है-

" इस जगह आइये, क्रान्ति गीत गाईये

हूल दिवस भेदभाव भूल कर मनाईये

मारटोला एक गवाह है, क्रान्ति के सपूतों का

इन्हें न भुलाईये, क्रान्ति गीत गाईये।

हूल दिवस भेदभाव भूलकर...

दोनों भाई सिदो-कान्हू, भारत माँ के लाल थे

शूर-वीर, शोषण विरूद्ध क्रान्ति की मशाल थे

शोषण को मिटाईये, क्रान्ति गीत गाईये

हूल दिवस, भेदभाव ...।" [438]

हरिराम मीणा

भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी रहे हरिराम मीणा का आदिवासी हिन्दी साहित्य में जाना पहचाना नाम है। 1999 ई. में इनका पहला कविता संग्रह 'हाँ चाँद मेरा है' प्रकाशित हुआ। जिस पर इन्हें 2003 ई. में राजस्थान का प्रतिष्ठित मीरा साहित्य पुरस्कार मिला। इनका दूसरा कविता संग्रह 'रोया नहीं था यक्ष' 2003 ई. में और 'सुबह के इंतजार में' 2008 ई. में प्रकाशित हुआ । इनकी अन्य रचनाओं में दो यात्रा वृतांत 'साइबर सिटी से नंगे आदिवासियों तक' और 'जंगल-जंगल जलियावाला' दो

[437] किस्कू आशा सुषमा : पूर्वोक्त पृ. सं. 19

[438] किस्कू आशा सुषमा : पूर्वोक्त पृ. सं. 29

उपन्यास 'धूणी तपे तीर' और 'डांग' के साथ सैंकड़ों शोध आलेख प्रकाशित हो चुके है। 'आदिवासी विमर्श' इनकी हिन्दी आदिवासी साहित्य आलोचना की महत्वपूर्ण पुस्तक है।

हरिराम मीणा की कविता संबंधी समझ को उनके पहले संकलन 'हाँ चाँद मेरा है' की भूमिका से जाना जा सकता है-"जब कोई एकांती मन अपने भीतर के तहखानों को परत दर परत उघाड़ता चला जाता है और अँधेरों में भटकते हुए किसी अनजान प्रकाश कण से टकराता है तो शायद कविता होती है। जग परिवेश में घटित हो रही असंख्य घटनाओं में से कोई एक स्वयं से मेल खाती है तो शायद कविता होती है।"[439] हरिराम मीणा की ज्यादातर कवितायें प्रबंध शैली में लिखी हुई लंबी कवितायें है फिर भी कवि ने अपनी लय को खोने नहीं दिया। उनकी कवितायें आदिवासी जीवन की बारीकियों का रेखांकन करने के साथ आदिवासी मिथकों का 'डिकोडीकरण' करती है। उनके कविता संकलन कविता के क्षेत्र में नवीन प्रतिमान रचते हैं। स्त्री सौन्दर्य की आदिवासी कसौटी और आदिवासियत उनकी रचनाओं का प्रमुख वर्ण्य विषय है'-

"उतरो कवि;

लड़की की पुष्ट जंघाओं से नीचे

देखो पैरों के तलुओं को

विबाइयों भरी खाल पर

छाले-फफोलों से रिसते स्त्राव को देखो

कैसा काव्य बिंब बनता है कवि।"[440]

महादेव टोप्पो

रांची में 1954 ई. को जन्में महादेव टोप्पो का फिल्म, कला और संस्कृति से गहरा जुड़ाव रहा है। हिन्दी में अभी तक उनका एक कविता संग्रह प्रकाशित है-'जंगल पहाड़ के पाठ (2017ई)।' महादेव टोप्पो को यह बात बहुत कचोटती है कि देश की आबादी का बहुत बड़ा भाग होने पर भी आदिवासी सवालों को मुख्यधारा के मीडिया और जन संचार माध्यमों में जगह नहीं दी जाती। गैर आदिवासियों द्वारा रचित इतिहास में भी आदिवासियों का सही चित्रण नहीं है, इसलिए वे आदिवासियों से स्वयं अपना इतिहास लिखने और आदिवासी संस्कृति को प्रस्तुत करने का आह्वान करते है-

[439] मीणा हरिराम : हाँ चाँद मेरा है, पृ. सं. 5

[440] मीणा हरिराम : सुबह के इंतजार में, पृ. सं 19

"तुम्हें अपने आदमी होने की, खोजनी होगी परिभाषा

उनके सिद्धान्तों, स्थापनाओं, मंतव्यों के विरूद्ध

बर्बर वैचारिक हमलों के खिलाफ़

रचने होंगे, स्वयं ग्रंथ ।"[441]

वंदना टेटे

सिमडेगा, झारखंड के असुर आदिवासी समाज में सितंबर 1969 को जन्मी वंदना टेटे का हिन्दी आदिवासी साहित्य में जाना पहचाना नाम है । आदिवासी साहित्यालोचना के प्रतिमान गढ़ने के साथ आदिवासी जीवन दर्शन और सौंदर्य बोध से हिन्दी पाठकों का परिचय कराने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है । वंदना टेटे मानती है कि 'आदिवासी साहित्य 'प्रतिरोध का साहित्य'नहीं है अपितु सारी समष्टि के प्रति 'रचाव और बचाव' का दर्शन प्रस्तुत करने वाला जीवनवादी साहित्य है। वे मानती है कि आदिवासी समाज में समानता सबसे बड़ा मूल्य है इसलिए उनके साहित्य में किसी तरह का विभाजन नहीं है। उनका इशारा हिन्दी और अन्य भाषाओं में स्वीकृत 'लोक' और 'शिष्ट' साहित्य के विभाजन की ओर है । वे आदिवासियों के पुराने साहित्य को 'ऑरेचर' यानि पुरखा साहित्य मानती है । वे गैर आदिवासी रचनाकारों की आदिवासी विषयक रचनाओं को शोध साहित्य का हिस्सा मानती है न कि आदिवासी साहित्य का । उनका स्पष्ट मानना है कि आदिवासियत की समझ से हीन रचनाकार आदिवासी साहित्य नहीं लिख सकता ।' हिन्दी भाषा में अभी तक इनका एक कविता संग्रह प्रकाशित है- 'कोनजोगा' (2015ई) । 96 हिन्दी आदिवासी कविताओं के संकलन 'कोनजोगा' में वंदना टेटे आदिवासी प्रतिरोध और स्त्री अस्मिता से जुड़े मुद्दों को बड़ी बेबाकी से उठाती है। उनकी कविताओं में पुरखों की विरासत को भूलने का दर्द और अपना संस्कृति की श्रेष्ठ परंपराओं के प्रति सम्मान देखने को मिलता है। वे लिखती हैं कि -

"सच में

मैं चिंतित और उदास हूँ

कि नहीं जान पाएंगे मेरे बच्चे

डोरी कुसुम से तेल निकालने की

[441] टोप्पो महादेव : जंगल पहाड़ के पाठ, 2017, पृ. सं. 14

मछली और चिड़िया पकड़ने की

देशज तकनीक।

महुआ लट्ठा और इमली के बीज के साथ

औटाये गए खाने का स्वाद।"[442]

वंदना टेटे की कविताओं में आदिवासी स्त्रियों के कई रूप दिखाई देते है। सदियों से अन्याय और शोषण का विरोध करने वाली स्त्रियाँ आज लड़ ही नहीं रही है, अपितु अपनी व्यथा और संघर्ष को रचनात्मकता के साथ प्रस्तुत कर रही है-

"तुम्हारी खींची लक्ष्मणरेखा

के खिलाफ़

उसने बो दिये हैं संघर्ष के बीज

और पिरो दिए है मधुर गीत

हताश होती और उलाहने देती

तुम्हारी नफ़रत भरी आवाज को

बना लिया है उसने अपनी ताकत।" [443]

निर्मला पुतुल

झारखंड के संताली आदिवासी परिवार में मार्च 1972 ई. को जन्मी निर्मला पुतुल अपनी कविताओं में आदिवासी समाज और संस्कृति के विभिन्न पक्षों को उजागर कर रही है। संताली और हिन्दी में समान पकड़ रखने वाली निर्मला पुतुल के प्रकाशित कविता संग्रहों में 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' (2005), 'अपने घर की तलाश में', 'बेघर सपने' (2014ई.) और 'फूटेगा एक नया विद्रोह' शामिल है। निर्मला पुतुल की कवितायें उस दौर की है, जब भारत में विकास के नाम पर आदिवासियों को उनकी जमीन और जंगलों से मानवीयता के समस्त मापदंडों को ताक पर रखकर बेदख़ल किया जा रहा

[442] टेटे वंदना : कोनजोगा, 2015, पृ. सं. 12

[443] टेटे वंदना : पूर्वोक्त पृ. सं. 35

है। आधुनिक विकास के नाम पर आदिवासी समाज की चिंता और असहमति दोनों निर्मला पुतुल की कविताओं का प्रमुख कथ्य है-

" अगर विकास का मतलब

हमारी बस्तियों को उजाड़कर कल-कारखाने बनाने है

तालाबों को भोथकर राजमार्ग

जंगलों का सफाया कर ऑफिसर्स कोलोनियाँ बसानी है

और पुनर्वास के नाम पर हमें

हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिये पर धकेलना है

तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में

शामिल होने के लिए

सौ बार सोचना पड़ेगा हमें।"[444]

निर्मला पुतुल की कवितायें आदिवासी समुदाय की समृद्ध विरासत से अपने शब्द और भाव चुनती है। उनकी कविताओं में एक ओर स्त्री जीवन के संघर्षों और चेतना को उकेरा गया है तो दूसरी ओर शहरी संस्कृति के फैलाव की चिंता व्यक्त की गई है। उनके शब्द दरांती बन मानवता के दुश्मनों पर प्रहार करते है। इनकी कवितायें शोषितों के पक्ष में अत्याचारियों के खिलाफ़ लोहा लेती है, साथ ही संस्कृति के कथित संरक्षकों की पोल-पट्टी खोलकर सबके सामने नंगा कर देती है। कवयित्री निर्मला पुतुल अपनी कविता 'संथाली लड़कियों के बारे में' लिखती है-

"ये वे लोग है/जो हमारे ही बिस्तर पर करते हैं

हमारी बस्ती का बलात्कार

और हमारी ही जमीन पर खड़े हो

पूछते हैं हमसे हमारी औकात। "[445]

[444] पुतुल निर्मला : बेघर सपने, 2014 पृ. सं. 40

[445] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते है शब्द, 2005, पृ. सं. 54

विश्वासी एक्का

सरगुजा, छत्तीसगढ़ से संबंध रखने वाली विश्वासी एक्का की 60 कविताओं का संग्रह 'लक्ष्मणिया का चूल्हा' (2018 ई.) प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन रांची से प्रकाशित हुआ है। आदिवासी ग्रामीण संस्कृति और परंपराओं को कविता का कथ्य बनने वाली विश्वासी एक्का आदिवासी परंपरा के मूल को अपनी कविताओं में अभिव्यक्त करती है। आदिवासी शब्दावली के साथ पक्षियों के कलरव और तितली की आहट को इनकी कविताओं में सुना जा सकता है। मानव की प्रकृति को नियंत्रण करने की कुचेष्टा का विरोध इनकी कविताओं में है। सरकारों के विकास संबंधी तमाम दावों के बीच आदिवासियों के घटते जा रहे जनसंख्या घनत्व पर सवाल उठाती हुई लिखती हैं-

" शोध होते है आदिवासियों पर

बातें होती हैं उनके विकास की

संरक्षण और संवर्धन की

दस वर्ष बाद जनगणना में

फिर भी कम हो जाती है संख्या।"[446]

विश्वासी एक्का की कवितायें आदिवासी ग्रामीण इलाके के विभिन्न पहलुओं को सामने लाने के साथ आदिवासी स्त्री के श्रम की महत्ता स्थापित करने और प्रकृति को बचाने का संदेश देती है।

आदित्य कुमार मांडी

संताली भाषा और साहित्य के प्रमुख लेखक आदित्य कुमार मांडी के हिन्दी में दो काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं-'जंगल महल की पुकार' और 'पहाड़ पर हूल-फूल'। इन दोनों कविता संकलनों का प्रकाशन वर्ष 2015 और प्रकाशक प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची है। आदित्य कुमार मांडी की रचनाओं का मूल स्वर वर्तमान हालात में मनुष्य की स्वार्थी प्रवृति, आदिवासी समाज के प्रति सरकारों की उपेक्षा और इस पर अन्य समाजों की चुप्पी है। उनका मानना है कि वैचारिकी का होना आपके अस्तित्व की गारंटी है।

जसिन्ता केरकेट्टा

[446] एक्का विश्वासी : लक्ष्मनिया का चूल्हा, 2018, पृ. सं. 57

झारखंड के पश्चिमी सिंहभूमि जिले से आने वाली जसिन्ता केरकेट्टा मूल रूप से पत्रकार है। इनकी कविताओं का एक हिन्दी संकलन भी प्रकाशित हुआ है- 'अंगोर', जो काफ़ी चर्चित रहा। आदिवासी विकास और विस्थापन पर केन्द्रित इनकी कविताओं ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। जिसकी एक बानगी दृष्टव्य है-

"भागते हुए छोड़कर अपना घर

पुआल, मिट्टी और खपरे

पूछते हैं अक्सर

ओ शहर!

क्या तुम भी उजड़ते हो

किसी विकास के नाम पर?"[447]

जसिन्ता केरकेट्टा मानती है कि कविता सिर्फ़ शब्दों के बाहरी आवरण को ध्यान में रखकर नहीं बनाई जाती, कभी भूख भी आग में तपकर कविता का रूप ले लेती है-

"कविता, भूख की आग पर

पकती हुई गुनगुनाती है,

और उठने लगती है एक साथ

कई घरों की आग

भूख के समस्त कारणों के खिलाफ़।"[448]

अनुज लुगुन

हिन्दी आदिवासी कविता के युवा हस्ताक्षर अनुज लुगुन का संबंध वर्तमान में 'ग्लोबल गाँव के देवताओं' का चरागाह बने झारखंड प्रान्त के सिमडेगा से है। मुंडारी भाषा-साहित्य और लोकगीतों के अध्येता अनुज लुगुन के हिन्दी में दो कविता संकलन अभी तक प्रकाशित हुए है- 'बाघ और सुगना मुंडा

[447] केरकेट्टा जसिन्ता : अंगोर, पृ. सं. 30

[448] केरकेट्टा जसिन्ता : पूर्वोक्त पृ. सं. 42

की बेटी' (2017ई.) तथा 'पत्थलगढ़ी' (2021ई.) । 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' हिन्दी कविता के क्षेत्र में नवीन सौन्दर्यशास्त्र रचती है । यह कविता वर्तमान समय की कुछ चुनिंदा लंबी कविताओं की फेहरिस्त में अपना नाम दर्ज़ करती है । आदिवासी सहजीविता और कविता के लोकतंत्र की बात अनुज लुगुन करते है । आज आदिवासी समाज जिस तरह के बाहरी और आंतरिक संकटों का सामना कर रहा है, उनके कारणों को उजागर करने के साथ बचाव के उपाय भी कवि बताते है । सामूहिकता और आपसी संवाद के माध्यम से हम बेहतर दुनिया की कामना कर सकते है और यह संवाद मानवीय ही नहीं प्रकृति में स्थित सभी मानवेत्तर जगत से बनाना पड़ेगा-

"संवाद और सम्मान
सहजीविता के लिए अनिवार्य शर्त है
जंगलों से, नदियों से
पेड़ों से, जुगनुओं से, तितलियों से
दृश्य-अदृश्य, बोले-अबोले प्राणियों से
विश्व कल्याण के लिए ।"[449]

भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में आदिवासियों से उनके होने का सरकारी सबूत मांगा जा रहा है । ये सबूत औपनिवेशिक ताकतों द्वारा भी गुलामी के दौर में मांगे गये थे, तब आदिवासियों ने परंपरागत रूप से, पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही परंपरा के अनुसार दर्ज़ इतिहास यानि 'पत्थलगढ़ी' को उन्हें दिखाया । आज फिर से आदिवासियों को बेदख़ल किया जा रहा है, साक्ष्य के रूप में उस जमीन का पट्टा मांगा जा रहा है, जिस पर वे हैं । आज पतथलगढ़ियों के साथ हिन्दी आदिवासी कविता भी उनकी गवाही दे रही है । अनुज लुगुन का दूसरा कविता संग्रह 'पत्थलगढ़ी' आदिवासियों के खिलाफ़ 'अघोषित उलगुलान' में संघर्षरत् आदिवासियों के चेहरे ही नहीं दिखाता अपितु देश की शोषित अस्मिताओं को एकजुट होने का संदेश देते है । भूमंडलीकरण के दानव का शिकार, अपने को शिकारी समझने वाली शोषणकारी क्षेत्रीय ताकतें भी हैं । कवि अनुज लुगुन लिखते हैं-

"कुछ तोतों ने ठान लिया था
सब फल हो जायें अमरूद
कुछ बगुलों ने जिद की

[449] लुगुन अनुज : बाघ और सुगना मुंडा की बेटी, 2017, पृ. सं. 74

सब मेंढ़क हो जायें मछली

कुछ बाजों ने दम ठोका

सब मुर्गी हो जायें चूजें

सबको अपने स्वाद का मान था

सबको अपने धर्म का अभिमान था...

खाने को जो लड़ रहे थे सपना हुआ चूर

बहेलिए का खेल था वह तोता लेकर भागा

बगुला लेकर दौड़ा

बाज लेकर फुर्र

फुर्र फुर्र फुर्र फुर्र फुर्र फुर्र।"[450]

भूमंडलीकरण में बहेलिया पूँजीवादी ताकतें हैं जिनके सामने राष्ट्र-राज्य भी पानी भरता है, धर्म, राजनीति और आर्थिक तंत्र उसी के प्यादे भर हैं। नागरिकता के सीमांत पर खड़े लोगों की हिमायत ही नहीं, अनुज लुगुन कविता के हथियार के साथ उनके पक्ष में खड़े हैं-

"तुम चाहते हो

मैं तुम्हारी भाषा के व्याकरण को

हर किसी की जुबान पर टाँक दूँ

लेकिन मैं तुम्हारी भाषा की टूटी वर्तनी पर उंगली रख देता हूँ...

तुम कहते हो सब दाहिने मुड़ कर चलें

लेकिन मैं उल्टा घूम जाता हूँ

मैंने अपनी वफादारी नहीं चुनी है

अनाज के गोदामों के लिए

[450] लुगुन अनुज : बहेलिया का खेल कविता, पत्थलगढ़ी, 2021, पृ. सं.

चर्बी से लिथड़े अय्याश देहों के लिए तो बिल्कुल नहीं

कविता की उस भाषा के लिए भी नहीं

जो किसी भूखे की कब्र पर राष्ट्रगान के लिए खड़ी हो।"[451]

अनुज लुगुन की कविताओं में असहमति और प्रतिरोध का स्वर, नागरिकता के हाशिए पर खड़े लोगों की पीड़ा, विलुप्ति के कगार पर खड़ी आदिवासी भाषाओं और जीव-जंतुओं का दर्द, लोकतंत्र का नवीन दलाल चरित्र और बौद्धिक जमात की प्रतिबद्धता का सवाल सभी इनकी कविताओं के केन्द्र में है। अनुज लुगुन कविता के माध्यम से बताते है कि प्रकृति के साथ नाभिनालबद्ध आदिवासी समाज इसके हर संकट को अपना संकट मानता है-

" मैं सुअरों, बैलों, भैंसों और गिलहरियों के

अचानक खो जाने से सदमें में हूँ

वह इन सबको अलग-अलग कर देखेगा

वह गाय के जीवन को अलग बांट देगा

और वह हिंसा का कारण बन जायेगी

वह 'गंगा' कहेगा और दूसरी नदियां सड़ जायेंगी।...

जबकि हम इनके साथ ही

बेहतर दुनिया बसाना चाहते हैं।"[452]

आदिवासी जीवन दर्शन और बाहरी जीवन दर्शन का फ़र्क मात्र ही इस कविता में नहीं है, यह कविता उस क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थ को भी रेखांकित करती है जिसने देश की आबो-हवा को जहरीला बना दिया है।

डॉ. हीरा मीणा

राजस्थानी मीना आदिवासियों की सभ्यता और संस्कृति को अपनी कविताओं में उकेरने वाली डॉ. हीरा मीणा के दो कविता संग्रह अभी तक प्रकाशित हुए है- 'लोक की पुकार'(2019ई.) और 'सार्वभौमिक जन्मस्थली'(2019ई.)। 'लोक की पुकार' 95 कविताओं का संकलन है, जिनके माध्यम से

[451] लुगुन अनुज : मेरी वफादारी तुम्हारे लिए नहीं' कविता,

[452] https://pahleebar.blogspot.com/2022/01/blog-post_17.html

कवयित्री ने भूमंडलीकरण के फलस्वरूप समाज में आ रही एकरूपता और खत्म होती सामूहिकता की प्रवृति को सामने रखा है। इनका दूसरा संकलन 'सार्वभौमिक जन्मस्थली' 32 कविताओं का संग्रह है। प्रो. हेमराज मीणा ने इस संकलन के बारे में लिखा है कि "आदिवासी मन को रेखांकित करने वाली कवयित्री डॉ. हीरा मीणा एक ऐसी उपेक्षित बंजर जमीन को हरियाली के रूप में विकसित करने का प्रयास कर रही है जो समकालीन कविता में नयी सोच, नये विचार और नये प्रश्नों को जन्म देगा।"[453]

जमुना बीनी तादर

पूर्वोत्तर भारत के आदिवासी समाज की खूबसूरती को उसके प्राकृतिक परिवेश के साथ प्रस्तुत करने वाली जमुना बीनी तादर अरूणाचल प्रदेश में हिन्दी की आरंभिक कवयित्री है। ये राजीव गांधी विश्वविद्यालय, ईटानगर में हिन्दी की प्राध्यापिका है। 'जब आदिवासी गाता है' (2018ई.) इनका पहला और बहुचर्चित हिन्दी काव्य संग्रह है। पूर्वोत्तर भारत का आदिवासी समाज जीवन यापन के लिए पूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर है, इसलिए इनकी कविताओं में प्रकृति हिन्दी की परंपरागत नायिका छवि से इतर है। वह आदिवासी समाज की मुखिया है। आदिवासियों के खोती जा रही अस्मिता और बाहरी घुसपैठ की चिन्ता के साथ आन्तरिक जीवन में आ रहे परिवर्तन जमुना बीना तादर की कविताओं का मुख्य कथ्य है। आदिवासी जिस आत्मीयता के साथ बाहरी लोगों और उनकी संस्कृति को सहज स्वीकारते हैं वैसा बाहरी लोग आदिवासियों को नहीं। सांस्कृतिक शोषण की इस प्रक्रिया से कवयित्री आहत है-

"हमने अपना लिया तुम्हारा पहनावा

खान-पान बोली

सवाल यह है

तुमने कितना हमें अपनाया।"[454]

अरूणाचली आदिवासियों की कथा व्यथा को प्रस्तुत करने वाला यह संकलन पूर्वोत्तर भारत के आदिवासी समुदायों को समझने में मदद करता है। आदिवासी और गैर आदिवासी लेखन के फ़र्क को स्पष्ट करती हुई जमुना बीनी तादर इस तरह व्यक्त करती है-

"कितना अंतर

[453] मीणा डॉ. हीरा : सार्वभौमिक जन्मस्थली, पृ. सं. 7

[454] तादर जमुना बीनी : जब आदिवासी गाता है, 2018, पृ. सं. 40

तुम्हारी और हमारी लेखनी में

तुम्हारा लेखन सहानुभूति से भरा

और हमारा लेखन

आत्मसम्मान से मदमाता ।"[455]

भगवान गव्हाड़े

भगवान गव्हाड़े महाराष्ट्र के रहने वाले मराठी भाषी हिन्दी लेखक है । हिन्दी में इनका एक कविता संकलन 'आदिवासी मोर्चा' नाम से 2015 में प्रकाशित हुआ । 88 कविताओं का यह संकलन मराठी आदिवासियों की दशा और दिशा बताता है । आज जब वैश्विक स्तर पर भूमंडलीकरण ने काफ़ी उथल-पुथल मचा रखी है, ऐसें में शोषित अस्मिताओं के सामूहिक संघर्ष की माँग और उलगुलान की चाह कवि का सपना भी है और सुझाया गया रास्ता भी-

'उलगुलान अभी खत्म नहीं हुआ

लड़ना होगा हमें भी

दलित, आदिवासी, बहुजन और शोषितों की

मुक्ति के लिए

वैश्वीकरण के इस अग्निगर्भ का कुचक्र

भेदना होगा हमें भी ।"[456]

भगवान गव्हाड़े जिस दलित, आदिवासी, बहुजन के साथ शोषितों की वृहद एकता की बात करते हैं वह मराठी के अस्मिता आंदोलनों का प्रभाव रेखांकित करती है । वैश्वीकरण का प्रभाव सभी अस्मिताओं पर एक जैसा नहीं है, ऐसे मे सामूहिक मुक्ति की कामना उनकी कवि दृष्टि को रेखांकित करती है । आदिवासियों के मूल निवासी होने और न होने के बीच आदिवासी धर्म का सवाल भी इनकी कविताओं में प्रमुख रूप से उजागर हुआ है ।

सरिता बड़ाईक

[455] तादर जमुना बीनी : पूर्वोक्त पृ. सं. 40

[456] गव्हाडे भगवान : आदिवासी मोर्चा, 2015, पृ. सं. 7

झारखंड के चिकबड़ाईक समुदाय से आने वाली सरिता बड़ाईक की मूल भाषा नागपुरी है। इनका कविता संग्रह 'नन्हें सपनों का सुख' हिन्दी के साथ नागपुरी भाषा में भी प्रकाशित है। मातृभाषा और साहित्य के प्रति इनका प्रेम इनकी कविताओं से अभिव्यंजित होता है। कविता संकलन की भूमिका में वे स्वयं इस बात का संकेत देती है-"भाषा से ही साहित्य जीवित है और जब तक साहित्य है, तब तक मानवता है। ऐसी मेरी सोच है। मातृभाषा राष्ट्रप्रेम का आधार है और अधिकार भी। इसे सुरक्षित करने का उपाय करना चाहिए।"[457]

निष्कर्षः रूप में कहा जा सकता है कि आदिवासी हिन्दी कविता के विकास में भूमंडलीकरण की मुख्य भूमिका है। हिन्दी में आदिवासी कविता लेखन की जो शुरूआत सुशीला सामद ने छायावादी दौर में शुरू की थी, वह परंपरा भूमंडलीकरण के दौर में फिर से दिखाई देती है। ऐसा नहीं है कि इस लंबे अंतराल पर हिन्दी में आदिवासी विषयक कवितायें लिखी ही न गई हो, यह खोज का विषय है। भूमंडलीकरण के दूसरे और तीसरे दशक के बीच हिन्दी आदिवासी कविता संख्यात्मक और रचनात्मक दोनों ही दृष्टियों से समृद्ध हुई। भूमंडलीकरण ने बाज़ार की वैश्विक ताकतों को प्राकृतिक खनिज संसाधनों से 'लैस' आदिवासी क्षेत्रों को लूटने की खुली छूट दे दी। आदिवासियों की जीविका के आधार जल, जंगल और जमीन पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कब्जा होता चला गया। बेदख़ली, विस्थापन और पलायन आदिवासियों की नियति हो गई। प्राकृतिक पर्यावासों के विनाश ने वन्य जीवन पर नकारात्मक प्रभाव डाला। पर्यावरण के इस संकट ने अनावृष्टि- अतिवृष्टि अकाल और ग्लोबल वार्मिंग से जुड़ी समस्याओं को जन्म दिया। आदिवासियों ने साहित्य को भी प्रतिरोध का हथियार बनाकर आदिवासी समाज की समस्याओं और आदिवासी विश्व दर्शन से लोगों को अवगत कराया। इन कवियों में से ज्यादातर कवियों की मातृभाषा हिन्दी नहीं है, फिर भी उन्हें हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक दुनिया को अपनी चिंताओं से वाकिफ़ कराना अपना फर्ज समझा।

हिन्दी के आदिवासी कवियों की कविताओं में भले ही भाषिक त्रुटियां हो, उनमें प्रस्तुति का ढंग भी सौन्दर्य के कलात्मक प्रतिमानों को पूरा नहीं करता हो, फिर भी उनकी कविताओं में आदिवासी जीवन की सादा और निश्छल झलक मिलती है। अभिव्यक्ति और अभिव्यंजना के स्तर पर आदिवासी हिन्दी कविता हिन्दी भाषा और उसके साहित्य को निःसंदेह समृद्ध बना रही है।

[457] बड़ाईक सरिता : नन्हें सपनों का सुख, 2013, पृ. सं. 10

5.3 भूमंडलीकरण और हिन्दी आदिवासी कविता

बीसवीं सदी के अंतिम दशक यानि भूमंडलीकरण की शुरूआत के साथ ही हिन्दी में कईं अस्मितावादी विमर्शों का उभार हुआ। इनमें आदिवासी समाज को अपनी संपूर्णता में प्रस्तुत करने वाले आदिवासी साहित्य विमर्श की एक अलग पहचान है। आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता के सवाल को सामने रखने वाला यह विमर्श भूमंडलीकरण और पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति नकार का भाव व्यक्त करता है। कविता इस विमर्श की सबसे सशक्त विधा है। इस विधा के माध्यम से आदिवासी हिन्दी कवियों ने भाषा, संस्कृति और इतिहास से जुड़े सवालों को अलग-अलग दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत किया है। आदिवासी अत्याचार, अपमान और शोषण की त्रासदी को अभिव्यक्त करने के साथ इन कवियों ने 'आदिवासी दर्शन' केन्द्रित शोषण मुक्त समाज का स्वप्न दिखाया है।

भूमंडलीकरण की उपस्थिति 'हिन्दी कविता' और 'हिन्दी आदिवासी कविता' में एक जैसी नहीं है। आदिवासी कवि अनुज लुगुन इस अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि-"जब भूमंडलीकरण की शक्तियाँ यानि नव साम्राज्यवादी ताकतें हावी हुई, तो हिन्दी में आपको इसके खिलाफ़ सशक्त प्रतिरोध की कवितायें दिखाई दे जायेंगी, लेकिन इसी मापदण्ड़ पर हम आदिवासी कविताओं को नहीं समझ सकते है। आदिवासी समाज के साथ औपनिवेशीकरण की यह प्रक्रिया भूमंडलीकरण के कईं दशक पूर्व शुरू हो चुकी थी और यह दबाव भूमंडलीकरण के बाद बहुत तेजी से बढ़ा है।"[458] यानि भूमंडलीकरण ने जिस नव औपनिवेशिकता की धारणा को बल दिया, वह आदिवासियों के संदर्भ में आजादी के साथ ही प्रारंभ हो गई। राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में 'देशहित' को ध्यान में रखकर जो विकास के मंदिर बनाये गये, उनकी नींव आदिवासी हितों की अनदेखी कर रखी गई।

आदिवासी संदर्भ में औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को कवि अनुज लुगुन भूमंडलीकरण से जोड़कर नहीं देखते हैं, वे इसे पूर्व में चली आ रही व्यवस्था का विस्तार ही मानते है-"आजादी के बाद से भारतीय आदिवासी समाज के संदर्भ में फिर से औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू होती है। हम सोचते हैं कि अंग्रेज आए, विदेशी आए, उन्होंने हमें अपना उपनिवेश बनाया। वे चले गए तो हम आजाद हो गए, लेकिन आदिवासी समाज के साथ यह नहीं रहा है। वे हमेंशा से आंतरिक उपनिवेशवाद का शिकार रहे है।"[459] कवि अनुज लुगुन का यह कथन आदिवासी समाज का सच

[458] टेटे वंदना : आदिवासी दर्शन और साहित्य, पृ. सं. 105

[459] टेटे वंदना : पूर्वोक्त पृ. सं. 105

उजागर करता है। भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी सभ्यता और संस्कृति में व्यापक बदलाव देखने को मिलता है। हिन्दी आदिवासी कविता के उदय और विकास पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ता है, जिसे निम्न बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है-

5.3.1 भूमंडलीकरण और हिन्दी आदिवासी कविता के सरोकार

भूमंडलीकरण के साथ आदिवासी समाज पर देशी-विदेशी साम्राज्यवादी ताकतों का दबाव तेजी से बढ़ने लगा। आदिवासी समाज ने अपनी स्वभाविक रीति नीति के अनुसार इसका प्रतिरोध किया। शीतयुद्ध के दौर में जिस तरह साहित्य विचारधारा के प्रचार-प्रसार और प्रतिरोध का माध्यम बना, आदिवासी समाज का पढ़ा-लिखा मध्यम वर्ग इससे अनजान नहीं था। साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ़ विरोध के विविध माध्यमों के बीच साहित्य भी एक माध्यम बनकर उभरा। हिन्दी आदिवासी कविता न केवल गैर आदिवासियों के सामने आदिवासी पीड़ा को उद्घाटित करती है, अपितु अपने समाज को जगाने के लिए भी प्रतिबद्ध होती है। आदिवासी कविता के प्रयोजन को लेकर कवयित्री निर्मला पुतुल लिखती है-

"मैं चाहती हूँ
आँख रहते अंधे आदमी की
आँख बने मेरे शब्द।
उनकी जुबान बने
जो जुबान रहते, गूंगे बने
देख रहे है तमाशा
चाहती हूँ मैं
नगाड़े की तरह बजे मेरे शब्द
और निकल पड़े लोग
अपने-अपने घरों से सड़कों पर।"[460]

[460] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते है शब्द, 2012, पृ. सं. 93

इस तरह आदिवासी कविता उन लोगों को जगाने और सड़क पर आने के लिए प्रेरित करती है, जो अभी तक शोषण की प्रक्रिया को जानते-समझते हुए भी चुपचाप तमाशा देखने वाली भीड़ में शामिल है। आदिवासी हिन्दी कविता आदिवासी इतिहास का सही मूल्यांकन करने और नये सिरे से लिखे जाने की माँग करती है। महादेव टोप्पो अपनी कविता 'रचने होंगे ग्रंथ' में कहते हैं-

"इससे पहले की पुनः तुम्हारा

अपने ग्रंथों में

बन्दर-भालू या अन्य किसी जानवर के रूप में

करे वर्णन/तुम्हें अपने आदमी होने की

खोजनी होगी परिभाषा

अपने सिद्धान्तों, स्थापनाओं और मंतव्यों के विरूद्ध

उनके बर्बर वैचारिक हमलों के विरूद्ध

रचने होंगे स्वयं ग्रंथ।"[461]

हिन्दी आदिवासी कविता आदिवासियों का सही चित्रण प्रस्तुत करने के साथ उन सांस्कृतिक मिथकों की पुर्नव्याख्या करती है, जिनमें उनके आदमी होने को नजरंदाज किया गया। आदिवासियों के बारे में बाहरी लोगों का अनुभव जगत बहुत छोटा है। इसके साथ उनकी उद्धारक प्रवृति ने आदिवासी समाज और संस्कृति के प्रति घोर उपेक्षा के भाव को जन्म दिया है। बाहरू सोनवणे की कविता 'मंच' इसको कुछ इस तरह प्रकट करती है-

"हम मंच पर गये ही नहीं

और हमें बुलाया भी नहीं

उँगली के इशारे से

हमें हमारी जगह दिखाई गई

हम वहीं बैठ गए, हमें शाबाशी मिली

[461] गुप्ता रमणिका : कलम को तीर होने दो, झारखंड के आदिवासी कवि, 2015 पृ. सं. 119

और वे मंच पर खड़े होकर

हमारा दुःख हमसे ही कहते रहे

हमारा दुःख हमारा ही रहा

कभी उनका नहीं हो पाया ।"[462]

प्रगतिशीलता के नाम पर आदिवासी हितैषी बनने वाले छद्मसमाज सुधारकों, राजनेताओं और मसीहा बनने के इच्छुक बाले लोगों पर भी आदिवासी हिन्दी कविता व्यंग्य करती है-

"तुम्हारे ही दुख दर्द और पीड़ा को

बयान कर अपने शब्दों में

बटोरेंगे हम दुनियां में

सारा का सारा यश

मसीहा तुम्हारे

हम ही बनेंगे ।"[463]

आज का आदिवासी समाज भूमंडलीकरण के हमलों से आहत और घायल है । ऐसे में आदिवासी कवि अगर असहमति और विरोध के गीत गाकर अपने अस्तित्व के खत्म होते जाने को अपनी कविता में दर्ज़ करता है तो इसे स्वाभाविक गति ही मानना चाहिए। अनुज लुगुन 'मैं गीत गाना चाहता हूं' कविता में खत्म होते जा रहे आदिवासी अस्तित्व को निम्न पंक्तियों में दर्ज़ करते है-

"मैं एक बूढ़ा शिकारी

घायल और आहत

लेकिन हौंसला मेरी मुटिठयों में है और

उम्मीद हर हमले में

मैं एक आखिरी गीत

[462] सोनवणे बाहरू : पहाड़ हिलने लगा है, 2009, पृ. सं.18

[463] गुप्ता रमणिका : कलम को तीर होने दो, झारखंड के आदिवासी कवि, 2015 पृ. सं. 272

अपनी धरती के लिए गाना चाहता हूँ।"[464]

उम्मीद और विश्वास के साथ अंतिम हदों तक लड़ने का ज़ज्बा आदिवासी समाज और उसके कवियों में देखा जा सकता है। आदिवासी कविता अपने समाज के संघर्ष में कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी है, वह अगर इसके माध्यम से आदिवासी समाज की सच्ची तस्वीर पेश करने और विरोधी संस्कृति के मानने वालों के दिल में आदिवासी समाज के लिए जगह दिलाने में कामयाब रहती है, तो यह आदिवासी हिन्दी कविता और साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी।

आदिवासी हिन्दी कविता को भूमंडलीकरण की उपज कहा जा सकता है। यह वह दौर है, जब उदारीकरण और बाजारीकरण के चलते देश के प्राकृतिक खनिज संसाधनों को देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सौंपे जाने की नीतियाँ सरकारों द्वारा बनाई गई। चूंकि भारत की अधिकांश खनिज संपदा उन्हीं क्षेत्रों में है, जहाँ भारत की अधिसंख्य आदिवासी जनजातियां रहती है। अतः उक्त संसाधनों को प्राप्त करने के लिए हर प्रकार की तिकड़म का सहारा लिया गया, जिसका आदिवासियों ने विरोध किया। यह विरोध जब राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय स्तर पर उभरने लगा, तो गैर आदिवासियों ने आदिवासी जीवन और उनकी समस्याओं में रूचि लेना प्रारंभ किया। प्रतिरोध के बहुत से रूपों में से साहित्य भी एक माध्यम बना। अब तक आदिवासी समाजों के भीतर एक मध्यवर्ग पनप चुका था, जो हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य से परिचित था। अतः इस वर्ग द्वारा अपने समाज और उसकी समस्याओं को स्वयं प्रकट करना प्रारंभ किया। भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी आदिवासी कविता जिन सवालों को सामने रखती है, वे इस प्रकार है-

आदिवासी भविष्य की अनिश्चितता

आदिवासियों के खिलाफ़ व्यवस्था और बाहरी लोगों ने जो अघोषित युद्ध छेड़ रखा है, उसमें अपने अस्तित्व को बचाये रखना आदिवासी समुदायों की सबसे बड़ी चुनौती है। ऐतिहासिक रूप से जब-जब आदिवासियों पर बहिरागतों ने हमला किया, तब-तब वे जंगल की गहराई में उतरते गये, पर आज वह जंगल भी नहीं रहा, जो उनको अपने आगोश में छिपा ले। अगर वह शहरों का रूख करता है, तो अपनी अस्मिता को बचाये रखने का संकट उसके सामने होगा। ऐसे में वह करे तो क्या करे? कवि अनुज लुगुन आदिवासियों के अनिश्चित भविष्य को कविता के रूप में कुछ इस तरह से व्यक्त करते हैं -

"लड़ रहे है आदिवासी

[464] https://www.hindwi.org/kavita/main-giit-gaana-chaahata-huun-anuj-lugun-kavita

अघोषित उलगुलान में

कट रहे है वृक्ष

माफियाओं की कुल्हाड़ी से और बढ रहे है

कंक्रीटों के जंगल

दांडू जाए तो कहाँ जाए

कटते जंगल में या बढ़ते जंगल में ।"[465]

कवयित्री निर्मला पुतुल भी इस बात को कुछ इस ढंग से कहती है-

"शिकारी शिकार बने फिर रहे

शहर में

अघोषित उलगुलान में

लड़ रहे है जंगल

लड़ रहे है ये

नक़्शे में घटते अपने घनत्व के खिलाफ़

मतगणना में घटती जनसंख्या के खिलाफ़ ।"[466]

परंपरागत रूप से शिकार करना आदिवासी जीवन का अंग रहा है, पर वर्तमान शहरी सभ्यता में वे खुद शिकार बनते जा रहे है, जहाँ उनके होने तक का कोई महत्त्व नहीं । भाषा, संस्कृति और परंपराओं से दूर होते जा रहे शहरी आदिवासी अपनी अस्मिता के अभाव में अस्तित्व को मिटते देखने के लिए अभिशप्त है। परस्पर एक दूसरे का संबल रहे जंगल और आदिवासी आज अपने अस्तित्व को बचाये रखने की लड़ाई लड़ रहे हैं। पर सवाल है कब तक? भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी समाज के साथ कवि और कविता भी उजड़ रहे है। उजड़ने की यह प्रक्रिया अनायास ही नहीं है, हिन्दी कवि विनोद कुमार शुक्ल ने इसे रेखांकित करते हुए लिखा हैं-

[465] लुगुन अनुज : प्रगतिशील वसुधा, अंक 85, अप्रैल-जून 2010

[466] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते है शब्द,

"जो प्रकृति के निकट है

जंगल उनका है।

आदिवासी जंगल के सबसे निकट है

इसीलिए जंगल उन्हीं का है

पर अब उनके बेदख़ल होने का समय है

यह वहीं समय है जब आकाश से पहले

एक तारा बेदख़ल होगा

एक पेड़ से

पक्षी बेदख़ल होगा

आकाश से चांदनी बेदख़ल होगी

जंगल से आदिवासी बेदख़ल होंगे

जब कविता से एक-एक शब्द बेदख़ल होंगे।"[467]

हिन्दी आदिवासी कविता इस बेदख़ली के खिलाफ़ 'उलगुलान' का उद्घोश करती है। भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी भविष्य की अनिश्चितता सोचने के लिए मजबूर करती है। जहाँ एक ओर आदिवासियों को उनके प्राकृतिक पर्यावास से दूर किया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक विकास के नाम पर शहरों के बेलगाम विस्तार ने उनकी जमीन छीन ली है। ऐसे में आदिवासी क्या करे? कहाँ जाये? क्योंकि जंगल तो बचा नहीं है और शहर में उनकी या उनके कार्य की कोई खास उपयोगिता नहीं है। आदिवासियों के भविष्य की अनिश्चितता और नियति को रेखांकित करते हुए 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में रणेन्द्र की ये मार्मिक पंक्तियां बहुत कुछ कहती है-

"हमारी रात

भरपूर काली रात होने का

आश्वासन हमें दे रही

[467] शुक्ल डॉ. विनोद कुमार : वागार्थ, दिसम्बर 2010, अंक 185

उदास हवायें

दूर कहीं विलाप कर रहा एक जख्मी हिरण

अपने पीछे आते हुए

शिकारी की आवाज सुनकर

अपने आप को

अपनी पूर्ण मृत्यु के लिए

तैयार कर रहा है...

अपनी पूर्ण मृत्यु ।"[468]

ऐसे में निर्मला पुतुल की कवितायें रचाव और बचाव का दर्शन प्रस्तुत करती है। वे आदिवासी समाज पर छाये भयंकर संकट में भी आशा और उम्मीद का दामन नहीं छोड़ती। जो कुछ बच सकता है, उसे बचाया जाना चाहिए, ऐसा उनका मानना है-

"आओ मिलकर बचाये

कि इस दौर में भी बचाने को,

बहुत कुछ बचा है

अब भी हमारे पास ।"[469]

सरकारी विकास योजनाओं पर सवाल

आदिवासी समुदायों के उजड़ते जाने का एक बड़ा कारण सरकारों की विकास नीति है। विकास के नाम पर मुख्यधारा की मौन स्वीकृति सरकारों को प्राप्त हो जाती है। सरकारें घोषित करती है कि विकास के लिए आदिवासियों की कुर्बानी अनिवार्य है। हिन्दी आदिवासी कविता इस पर सवाल खड़ा करती है-

"अगर विकास का मतलब

हमारी बस्तियों को उजाड़कर कल-कारखाने बनाने है

तालाबों को भोथ कर राजमार्ग

[468] रणेन्द्र : ग्लोबल गांव का देवता, 2016 पृ. सं. 91

[469] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते है शब्द, 2012

जंगलों का सफाया कर ऑफिसर्स कॉलोनियां बनानी है

और पुनर्वास के नाम पर हमें

हमारे ही शहर की सीमा से बाहर, हाशिये पर धकेलना है

तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में

शामिल होने के लिए

सौ बार सोचना पड़ेगा हमें।"[470]

आदिवासी कविता विकास के उन दावों को खारिज़ करती है, जो पर्यावरण के विनाश पर केन्द्रित है। पूरे आदिवासी समाज के साथ पर्यावरण के वजूद को खत्म कर पूँजीपतियों का हित साधने वाला विकास आदिवासी समाज और उसके रचनाकारों को मंजूर नहीं है। इसलिए ग्लैडसन डुंगडुंग लिखते हैं-

"हमें नहीं चाहिए तुम्हारी विकास नीति

जो दूसरों का हक छीनने का

पाठ पढ़ाती है

हमें नहीं चाहिए तुम्हारी आर्थिक तरक्की

जो पूँजीपतियों का

लालची पेट भरती है

प्रकृति का सौदा करती है।"[471]

दरअसल भूमंडलीकरण के दौर में आम जन के नाम पर जो विकास हुआ, वह पूँजीपतियों, राजनेताओं और अफसरशाही के गठजोड़ का विकास है। इस पर ग्लैडसन डुंगडुंग ने कटाक्ष करते हुए लिखा है कि-

"विकास की बयार तेजी से बहाने को

[470] अरावली उदघोष : अंक 93

[471] गुप्ता रमणिका : कलम को तीर होने दोः झारखंड के आदिवासी कवि, 2015, पृ.सं 261

करोड़ों-करोड़ की राशि है स्वीकृत

विकास की बयार तेजी से बहती है

अफसर, बाबू के घर में....

बहती नहीं है विकास की बयार

गाँव में

विकास के मोटे दस्तावेज

दफ्तर की शोभा बढ़ाते है

विकास की बयार बदलकर दिशा

अफसरों की बड़ी बड़ी

अट्टालिकाओं में प्रवेश कर जाती है।"[472]

आदिवासी विकास का नारा कोई नया नहीं है, भारतीय लोकतंत्र की स्थापना के समय से ही इस नारे को उत्तरोत्तर तेजी से उछाला गया। विकास' के नाम पर आदिवासी क्षेत्रों में चलने वाली परियोजनाओं ने आदिवासियों को उनके परंपरागत जल, जंगल और जमीन से दूर किया है। भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी विकास की पोल खोलती कविता की ये चंद पंक्तियां दृष्टव्य है-

"थर्मल पावर के दूधिया प्रकाश

और जादूगोड़ा के जादुई चिराग तले

करंज तेल की ढ़िबरी लिए

मन के किस अंधेरे में भटक रहे हो संगी ?

चुप क्यों हो संगी ?

कुछ तो बोलो।"[473]

[472] गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, पृ. 281

[473] गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, पृ. 113

आदिवासी विकास के इस रूप को स्वीकार करने में असफल है । जिन औद्योगिक कल कारखानों का निर्माण आदिवासी क्षेत्र के प्राकृतिक पर्यावासों का विनाश कर हुआ, उनकी आदिवासियों के लिए कोई उपयोगिता नहीं है। आज भी 'करंज के तेल की ढिबरी' ही उसका आसरा है । 'थर्मल पावर का दुधिया प्रकाश' और 'न्यूक्लियर प्लांट की जादुई रोशनी' उसके घावों पर नमक छिड़कने के समान है। आज भी लगातार आदिवासियों के घावों पर नमक छिड़का जा रहा है। 'नदी और लाल पानी' कविता में जसिन्ता केरकट्टा लिखती है-

"कोका-कोला बनाकर

तुमने उसे ठंड़ा का मतलब बताया

तो अब दुनियां को भी बताओ

सारंड़ा के नदी-नालों में बहते

लाल पानी का मतलब क्या है ?..

जो ठोक रहे है सारंड़ा के विकास का दावा ।"[474]

आदिवासियों के जीवन स्तर में सुधार हेतु सरकारों द्वारा समय-समय पर अनेक विकास परियोजना चलाई गई, बगैर इसकी समीक्षा करते हुए कि इन योजनाओं के वास्तविक लाभार्थी कौन है? जिन आदिवासियों के लिए ये योजनायें बन रही है, वे उन तक कितना पहुँच पा रही है। आदिवासियों के नाम पर बनने वाली योजनाओं की असफलता तब ही तय हो जाती है, जब इन्हें उन लोगों द्वारा क्रियान्वित करना होता है जिनका आदिवासियों से दूर-दूर का नाता नहीं है। निर्मला पुतुल लिखती हैं-

"इनकी बेहतरी के लिए

कुकुरमुत्तों की तरह उगी संस्थाओं में

तथाकथित समाज सेवक है

अफसर है, चमचे है, ठेकेदार है, बिचौलिया है

और वे सबके सब

हाथों में खुली रंगीन बोतले लिए

[474] गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, पृ. 187-188

बना रहे है राउंड़-टेबल पर योजनाएं।"[475]

सत्तापक्ष और मुख्यधारा का मीडिया आदिवासी विकास के नाम पर चलने वाली योजनाओं और उन पर होने वाले व्यय को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर जनता के सामने प्रस्तुत करता है ताकि जन सामान्य को लगे कि सरकार आदिवासियों की हितैषी है और आदिवासियों के आंदोलन सरकार को 'ब्लैकमेल' करने की साज़िश है । सत्ता चाहती है कि आदिवासी उसके हर सही और गलत कार्य को बगैर आलोचना किए स्वीकार कर ले । आदिवासी हिन्दी कविता विकास के इस वर्चस्ववादी रूप को अस्वीकार करती है। निर्मला पुतुल अपनी कविता "खून को पानी कैसे लिख दे" में लिखती हैं-

"अगर वे चाहते है कि अपनी थोड़ी भलाई के लिए

हम उनकी हजार बुराईयों पर पर्दा ड़ाले

अहसान माने उनका

हाँ में हाँ मिलाये

बिछ जाये जब तब

उनके इशारों पर उनकी खातिर

तो नहीं चाहिए हमें उनका अहसान

उठा ले जाए वे अपनी व्यवस्था

ऐसा विकास नहीं चाहिए हमें

नहीं चाहिए ऐसा बदलाव

नहीं चाहिए।"[476]

निर्मला पुतुल विकास की बदलती परिभाषाओं के बीच गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासियों के हकों और अधिकारों के छिनते जाने को 'आखिर कब तक' कविता में दर्ज़ करती है-

"कब तक हमारे हिस्से का समुद्र

[475] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते है शब्द, 2005, पृ. सं. 26-27

[476] पुतुल निर्मला : पूर्वोक्त पृ. सं. 34-35

लील कर बुझाते रहोगे

अपनी-अपनी प्यास...

आखिर कब तक

विकास की नई-नई परिभाषाएं गढ़कर

सपने दिखा-दिखाकर

यूं ही साधते रहेंगे

निशाना हम पर

आखिर कब तक..."

बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा खुले में छोड़े गये अवशिष्ट जंगली जानवरों के साथ आदिवासी जिंदगी को नर्क बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे है। आदिवासियों के सपनों और उनकी इच्छाओं का चित्रण करते हुए हुए अनुज लुगुन लिखते हैं-

"हमने चाहा है कि

फसलों की नस्ल बची रहे

खेतों के आसमान के साथ

हमने चाहा कि जंगल बचा रहे

अपने कुल गोत्र के साथ...

हमने चाहा कि

पेड़ की जगह पेड़ ही दिखे

नदी की जगह नदी

समुद्र की जगह समुद्र

और

पहाड़ की जगह पहाड़ ।"[477]

आदिवासी समाज का यह सपना वर्तमान व्यवस्था के लिए घातक है । सहज और नैसर्गिक प्राकृतिक परिवेश से काटकर आदिवासी समाज को व्यवस्था ने तोड़ कर रख दिया है । संस्कृति, भाषा, परंपरा और परिवेश से कटा हुआ आदिवासी समाज विस्थापन या पलायन का दर्द लिए हुए मुख्यधारा की भीड़ में गुम होता जा रहा है । आदिवासी समाज का सबकुछ 'धन पशुओं' के हाथ में चला जा रहा है । हरिराम मीणा के अनुसार-

"वह कुबेर चर रहा था

जंगलों को

वनस्पतियों को

जीवों को

पी रहा था नदियों को

झरनों को

सरोवर को

झीलों को

समुद्रों को ।"[478]

विस्थापन और बेदख़ली

वर्तमान समय में आदिवासियों को उनकी जमीन और प्राकृतिक पर्यावास से बेदख़ल किया जा रहा है । व्यवस्था द्वारा जारी कोई कागजी दस्तावेज आदिवासियों के पास नहीं है, जिससे कि वे अपनी जमीन की मिल्कीयत साबित कर सकते है । इसलिए वे सत्ता के आसान शिकार है । हालांकि आदिवासी समुदाय परंपरागत रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी उन जंगलों, नदियों, झरनों के साथ उस सम्पूर्ण परिवेश को अपना मानकर चल रहा है, जो उनके पुरखों की विरासत के रूप में उसे मिले । पर लिखित दस्तावेजों के अभाव में उसके कोई मायने नहीं है । पूँजीवादी बाज़ार के लिए आदिवासियों की

[477] लुगुन अनुज : हमारी अर्थी शाही नहीं हो सकती, समकालीन आदिवासी कविता : हरिराम मीणा (सं.) 2013, पृ. 15
[478] मीणा हरिराम : रोया नहीं था यक्ष, 2003, पृ. सं. 26

परंपरागत जमीन का अधिग्रहण किया जा रहा है । ऐसे में जीवन निर्वाह और पुनर्भरण के दावे हेतुआवश्यक दस्तावेजों के अभाव में आदिवासी समाज यह साबित करने में नाकाम रहता है कि उक्त संसाधनों पर उसका हक और अधिकार है। हरिराम मीणा इस पर लिखते हैं-

"सभ्यता के नाम पर

आखिर कर ही दिये जाओगे बेदख़ल

हजारों सालों की तुम्हारी पुश्तैनी भौम से

कोई और होंगे अब कानूनी हकदार

नारियल के इन दरख्तों के.....

चूंकि तुम्हारे पास कोई

पट्टा

कोई खातेदारी

कोई वसीयत

कोई वख्शीश नहीं

नहीं कोई दस्तावेजी सबूत

चश्मदीद गवाह भी तो नहीं होगा।

फिर कैसे करोगे साबित

सभ्यता की इस अदालत में

कि- यह भौम तुम्हारी थी।"[479]

प्राकृतिक संसाधनों की लूट और आदिवासी नियति

आदिवासियों के वर्तमान संकट के मूल में आधुनिक पूँजीवादी विकास के साथ आदिवासी क्षेत्रों में प्राकृतिक खनिज संसाधनों की उपलब्धता भी है। वैश्विक कंपनियों से लेकर निजी स्वदेशी कंपनियां

[479] मीणा हरिराम : खत्म होती हुई नस्ल- सुबह के इंतजार में, 2006, पृ. सं. 35-36

भी आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक संसाधनों पर नज़र गढ़ाकर बैठी है। ये कंपनियां कानूनी और गैर कानूनी दोनों ही तरीकों से इन संसाधनों पर कब्जा करना चाहती है। सत्ता इनके हितों को संरक्षण देने में अपनी ताकत का इस्तेमाल करती है। अनुज लुगुन 'शहर के दोस्त के नाम पत्र' कविता में इस स्थिति का जिक्र कुछ इस प्रकार करते हैं-

"हमारे जंगल में लोहे के फूल खिले है

बॉक्साइट के गुलदस्ते सजे है

अभ्रक और कोयला तो

थोक और खुदरा दोनों भावों से

मंड़ियों में रोज सजाये जाते है

यहाँ बड़े-बड़े बांध भी

फूल की तरह खिलते है

इन्हें बेचने के लिए

सैनिकों के स्कूल खुले है।"[480]

खनिज संसाधनों की समृद्धि आदिवासियों के लिए अभिशाप सिद्ध हुई। वह उनके विस्थापन और पलायन का कारण बनी। आज बड़े शहरों के फुटपाथ और ईंट भट्टों की कालिमा में इनकी जिन्दगी कहीं बिला गई। आलोक कुजूर के शब्दों में -

"दिल्ली में

ठोकर खा रहा

फुटपाथ पर

झारखंड़ का भविष्य.....

गुम हो रहे है सपने

[480] लुगुन अनुज : शहर के दोस्त के नाम पत्र, रमणिका गुप्ता : कलम को तीर होने दो (सं.) पृ. सं. 77-78

दिल्ली की गलियों में

लुट रहे है अपने ही लोग

संस्कृति और परंपरा खो गयी है कहीं

नगर में

बेचते है अपना श्रम

बीच बाज़ार में ।"[481]

निर्मला पुतुल भी अपनी कविता 'कलम को तीर होने दो' में आदिवासी नियति को सामने रखने के साथ बुद्धिजीवियों से अपनी कलम का इस्तेमाल आदिवासी पक्ष में करने की गुजारिश करती है । सत्ता के षड्यंत्र को उजागर करने और प्रतिकार हेतु कलम ही सबसे ज्यादा उपयुक्त हथियार है, ऐसा कवयित्री का मानना है-

"वे लूटने लुटानें आए

हम गये परदेश

धरती उजड़ी, जंगल उजड़े

रह गया क्या शेष

बाँहे हो गयी कमान, सब बिरवे तीर

देखना बाकी है कलम को तीर होने दो...

ईंट के भट्टों में

सीझ गयी जिंदगी

रोटी की खोज में कहां नहीं भागी

बाँहे हो गयी कमान, सब उँगलियां तीर

देखना बाकी है कलम को तीर होने दो ।"[482]

[481] कुजुर आलोका : दिल्ली में है झारखंड, रमणिका गुप्ता : कलम को तीर होने दो : झारखंड के आदिवासी हिन्दी कवि (सं.) पृ. 181

कलम और किताब ही वह माध्यम है जिनसे वैश्विक साम्राज्यवादी ताकतों के साथ देशी सत्ता खौफ़ खाती है। आदिवासी कवि इस बात को जानते समझते है, इसलिए बार-बार इनका जिक्र भी करते हैं-

"मित्र है पुस्तक

आंखे खोलती है

साहस बढ़ाती है

वजूद को पहचान दिलाती है

इसलिए

बार-बार पुस्तक पढ़ना।"

आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है, जिससे इंकार नहीं किया जा सकता। जब परिवर्तन सहज रूप में न होकर मानवजनित होता है, तो चिंता का कारण बनता है। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व पर आने वाला संकट सत्ता और बाहरी समाज ने खड़ा किया है। बाहरी गैर आदिवासी समाज अपने हर आचार-विचार को आदिवासियों पर थोपना चाहता है, पर खुद उसे आदिवासियों के भीतर कुछ भी स्वीकार करने लायक नहीं लगता। निर्मला पुतुल के शब्दों में-

"वे नहीं चाहते सीखना

हमारे बीच रहते

हमारी भाषा

चाहते हैं, उनकी भाषा सीखे हम

और उन्हीं की भाषा में बात करे उनसे

उनका तर्क है कि

सभ्य होने के लिए जरूरी है, उनकी भाषा सीखना

[482] पुतुल निर्मला : कलम को तीर होने दो, रमणिका गुप्ता (सं.) पृ.सं. 102

उनकी तरह बोलना-बतियाना

उठना-बैठना

जरूरी है सभ्य होने के लिए

उनकी तरह पहनना-ओड़ना।"[483]

आदिवासी सभ्यता-संस्कृति की हर बात बाहरी लोगों की दृष्टि में हेय है। भारतीय हिन्दू संस्कृति हमेंशा से विजेता संस्कृति के उन मानकों को श्रेष्ठ समझती आयी है, जो उसके लिए आर्थिक दृष्टिकोण से लाभकारी हो। औपनिवेशिक काल में पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण की प्रवृति में इस प्रभाव को देखा व समझा जा सकता है। पाश्चात्य भाषा-साहित्य, प्रशासनिक व्यवस्था के साथ रहन-सहनके तरीके से लेकर समूची जीवन शैली पर औपनिवेशिक संस्कृति की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। विजेता संस्कृति होने के इस सिद्धान्त को गैर आदिवासियों ने आदिवासियों पर लागू किया। आजादी से पहले और बाद में आदिवासियों को मूलधारा की इस प्रवृति का सामना किया। भूमंडलीकरण के दौर में बाज़ार की ताकतें देशी बहुसंख्यक हिन्दू संस्कृति से मिलकर आदिवासी समुदाय का सर्वस्व हरण करने लगी। इस तथ्य को चिन्हित करती हुई निर्मला पुतुल अपनी कविता 'संथाल परगना' में लिखती है -

"संथाल परगना

अब नहीं रह गया संथाल परगना

बहुत कम बचे रह गये हैं

अपनी भाषा और वेशभूषा में यहाँ के लोग

बाज़ार की तरफ भागते

सबकुछ गड्डमड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ

उखड़ गये है बड़े-बड़े पुराने पेड़

और कंक्रीट के पसरते जंगल में

खो गई है पहचान इसकी

[483] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते है शब्द ,2012, पृ. सं. 73

काया पलट हो रही है इसकी

तीर-धनुष-मांदल-नगाड़ा-बांसुरी

सब बटोर लिए जा रहे है लोक संग्रहालय

समय की मुर्दागाड़ी में लादकर।"[484]

आदिवासी अस्मिता का सबसे बड़ा संकट इसी दौर खड़ा हुआ है। हिन्दी आदिवासी कविता इसकी पहचान कर समाज को सचेत् करने का प्रयास करती है। पहचान को मिटाने के क्रम में सबसे पहले आदिवासी जमीन को लूटा गया, तदोपरांत आदिवासी समाज की बहन-बेटियों पर बुरी निगाह डाली। जमीन से कटा हुआ आदिवासी समाज लंबे समय तक अपनी भाषा और अन्य सांस्कृतिक परंपराओं को जिन्दा रखने में असमर्थ हो गया। आदिवासी समाज की मजबूरी को रेखांकित करती कविता की निम्न पंक्तियां दृष्टव्य है-

"इतना मजबूर क्यों हो मंगरा'

क्या तुम यह जानते हो मंगरा

वे तुम्हारी पहचान मिटाने आये है

उन्होंने लूटी है तुम्हारी जमीन

तुम्हारी बेटियों को भी छोड़ा नहीं है उन्होंने

अब वे तुम्हारी भाषा

संस्कृति और परंपरा मिटा रहे है।"[485]

आदिवासी हिन्दी कविता शोषणकारी व्यवस्था का प्रतिरोध करती हुई कहीं भी समर्पण नहीं करती है। वह लगातार संघर्ष का आह्वान करती है। आदिवासी समाज की विद्रोही चेतना को मुख्यधारा और सरकारों ने गलत नजरिये से देखा है। जब आदिवासी अपने हकों की बात करते हुए अपने अधिकारों के लिए आंदोलित होता है, तभी वे औरों की नज़र में बुरे हो जाते है। महादेव टोप्पो की कविता 'रूपान्तरण' इसे उजागर करती है-

[484] पुतुल निर्मला : पूर्वोक्त, पृ. सं. 26

[485] गुप्ता रमणिका : कलम को तीर होने दो : झारखंड के आदिवासी कवि, 2015, पृ. सं. 265

"जब तक थे वे

जंगलों में

मांदर और बांसुरी बजाते

करते जानवरों का शिकार

अधनंगे शरीर

वे बहुत भले थे

तब तक उनसे अच्छा नहीं था दूसरा कोई...

परन्तु अब वे

तुम्हारी नजरों में हो गये है बुरे

हां उनमें आ गई है अब एक बुराई

वे कुछ-कुछ सोचने लगे है

कुछ-कुछ बोलने लगे है

कुछ-कुछ माँगने लगे है।"[486]

बगैर आदिवासी अस्मिता के आदिवासी अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। अस्मिता का निर्माण भाषा, परंपरा, जीवन शैली और परिवेश के समुच्चय से होता है। अगर इनमें से कोई एक तत्त्व भी छूटता है, तो आदिवासी पहचान का खतरा बढ़ जाता है। वर्तमान भूमंडलीकरण में आदिवासी रोजी-रोटी की तलाश में जहाँ-तहाँ भटकने लगे, और इस भटकन ने उनकी पहचान को निगलना शुरू कर दिया। आदिवासियों की इस गुम होती 'पहचान' को रेखांकित करते हुए शिशिर टूडू अपनी कविता 'जान देंगे-जमीन नहीं' में लिखते हैं-

"न इमली की छांव, न महुआ की ड़ार

न झूमर की ताने, न आपस का प्यार

[486] गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त पृ. सं. 119-120

सब छीन लिया है, इसी कारखानें ने

लगा दी आग हमारे आशियाने में

बिखर गये है हम, बिसर गये है हम

कौन हूं मैं, कहाँ है मेरा गाँव

कभी थे जमीन के भूईंहर और जोतदार

अब बेवस है रहने को झोपड़ पट्टी में।"[487]

आदिवासी स्त्री छवि का चित्रण

हिन्दी आदिवासी कविता में आदिवासी स्त्री के जीवन संघर्ष और चेतना को सामने लाने का प्रयास किया है। आदिवासी समाज में स्त्री पारिवारिक संरचना की मुख्य धुरी है। वह अपने परिवार के लिए घर और घर से बाहर की दुनिया में हाड़तोड़ मेहनत करती है, किन्तु जब उसके अस्तित्व और अस्मिता को स्वीकार नहीं किया जाता, तो वह सामाजिक व्यवस्था के ठेकेदारों से सवाल करने में नहीं हिचकिचाती-

"धरती के इस छोर से उस छोर तक

मुटठी भर सवाल लिए मैं

दौड़ती-हांफती-भागती

तलाश रही हूं सदियों से

निरंतर

अपनी जमीन, अपना घर

अपने होने का अर्थ।"[488]

आदिवासी स्त्री जीवन की हर सांस को आदिवासी कविता वाणी देती है। आदिवासी स्त्री जीवन के अनुभव का बारीक़ संसार इन कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है। आदिवासी स्त्री के उपेक्षित

[487] गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त पृ. सं. 233

[488] पुतुल निर्मला : अपने घर की तलाश में, 2004, पृ. 3

हृदय और उसके सुलगते प्रश्नों को हिन्दी आदिवासी कविता में जगह दी गई है। कवि अनुज लुगुन अपनी कविता 'उलगुलान की औरतें' के माध्यम से आदिवासी स्त्री सौन्दर्य का जो चित्र खींचते है, वह हिन्दी कविता की थाती है। जिन प्रतीक और उपमानों का वे प्रयोग करते हैं वह हिन्दी कविता को नये मायने देता है-

"धरती को सर पर घड़े की तरह ढोए

लचकती हुई चली जा रही है

उलगुलान की औंरते

धरती से प्यार करने वालों के लिए

उतनी ही खूबसूरत

और उतनी ही खतरनाक

धरती के दुश्मनों के लिए।"[489]

'ग्रेस कुजूर' आदिवासी समाज में स्त्री की स्थिति और उसके विद्रोही स्वरूप को सामने रखती है। आदिवासी समाज में स्त्री के लिए कुछ काम वर्जित है, जैसे हल चलाना और छप्पर छाना। ग्रेस कुजूर अपनी कविता 'धार के विपरीत' में इस वर्जना को तोड़ने का प्रयास करती है-

"ऐसा क्यों होता है

कि गाँव की

काकी के खेतों में

कोई हल नहीं चलाता

और घर में उसके

टूटे छप्पर से

बारिश के दिनों मे

[489] लुगुन अनुज : उलगुलान की औंरते, गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 57

झरता है पानी

झर झर झर...

लेकिन कल जोरदार

बारिश हुई है

नदी नालों में बहते

पानी की तेज

धार के विपरीत

चढ़ आई है मछलियां

उसके आंगन तक

छत चढ़ने का अधिकार नहीं

यह जानते हुए भी

चढ़ जाती है काकी

छत झाड़ने ।"[490]

मछली का धार के विपरीत तैरना संकेत करता है कि आदिवासी स्त्री अपने परिवार की खातिर समाज के ठेकेदारों से भी भिड़ सकती है। ग्रेस कुजूर मानती है कि स्त्री अधिकारों के हनन से समाज के लिए हितकारी नहीं है, फिर भी पुरुष वर्चस्ववादी समाज अपनेझूठे अहं भाव की संतुष्टि के लिए स्त्री को सामाजिक बंधनों की बेड़ियों में जकड़ देता है। 'बौना संसार' कविता में कवयित्री लिखती हैं-

"जब-जब औरत को

धरती के नीचे तक दबना पड़ा है

तब-तब अंकुरित हुई है वह....

जब भी कभी तुम थके-हारे

[490] कुजूर ग्रेस : धार के विपरीत, गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 84

पथिक की तरह

आगोश में आये हो उसके

तब-तब बरगद सी हुई है वह...

लेकिन तुम्हें

उसका बरगद होना

अच्छा नहीं लगता

तुम

कैद कर देते हो उसे

गमले में किसी बोनसाई की तरह।"[491]

उक्त कविता स्वतंत्र स्त्री अस्तित्व को बरगद की तरह विशाल मानती है जिसे पितृसत्तात्मक समाज बंधनों में जकड़कर बोनसाई बना देना चाहता है। यह पुरुषवादी समाज के खोखलेपन को उजागर करता है। पारिवारिक संरचना में महिलाओं का योगदान सबसे अधिक होता है, परन्तु उसका आकलन नहीं किया जाता। ऐसे में अपमान, तिरस्कार और शोषण से छुब्ध आदिवासी स्त्री पुरुषसत्ता को सावचेत करती है। आदिवासी कवयित्री ज्योति लकड़ा 'तुम्हारा डर' कविता में लिखती है-

"अब भी वक्त है सम्भल जाओ तुम

कि तुम्हारी तरह क्रूर न हो जाऊं मैं

अगर अब भी नहीं चेते तुम

तो भूल जाउंगी मैं

कि तुम कौन हो/कौन थे।"[492]

[491] कुजूर ग्रेस : धार के विपरीत, गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 8

[492] लकड़ा ज्योति : तुम्हारा डर गुप्ता, रमणिका : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 169

रोज केरकट्टा अपनी कविता 'स्त्री' में औरत की परंपरागत छवि से भिन्न विद्रोही तस्वीर पेश करती है। स्त्री अस्तित्व पानी की तरह है। हर किसी की जरूरत है, जीवन का आधार है। सबसे नाजुक भी है तो सबसे कठोर भी, इसलिए पानी से खेलना आसान नहीं है। कवयित्री के शब्दों में -

"स्त्री पानी है

उसे पानी-पानी मत करो

बिन पानी सब सून है

वह पानी पिलाती है

सबकी प्यास बुझाती है

उसे मत छेड़ो

वह सबको

पानी पिला सकती है

यदि ठान ले तो "[493]

हिन्दी की आदिवासी कविता में स्त्री की छवि हर रूप में उपस्थित है। 'क्या हूँ मैं' कविता में सरिता सिंह बड़ाईक अपनी पहचान और अस्मिता को तलाशती स्त्री का स्वर बुलंद करती है-

"क्या हूँ मैं

दीर्घ-अंतराल पर

पुराने पते पर भेजी हुई चिट्ठी ?

उदासियों की बिछी परत पर

बैरंग लौटा लिफाफा ?

आधे-अधूरे लिखे

मुड़े-तुड़े कागजों का ढ़ेर

[493] केरकट्टा रोज : 'स्त्री' गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 248

कटे-छटे शब्द

पुरानी किताबों की तहें

या कोई खुली डायरी

दर्द की देहरी पर

सिंगार से विरक्त औरत

या सधन्यबाद लौटाई गयी रचना

क्या हूँ मैं

क्या हूं मैं।"[494]

स्त्री होने का अभिशाप मरने तक उसका पीछा नहीं छोड़ता है। 'बेटी और नागफनी' कविता में प्रसव वेदना से अकाल मौत की शिकार बुधनी के अंतिम संस्कार में जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है, वे आदिवासी स्त्रियों की अपेक्षाकृत सुदृढ़ स्थिति पर सवाल खड़ा करती है। ज्योति लकड़ा अपनी कविताओं के माध्यम से बार-बार आदिवासी अंधविश्वासों और उस अमानवीयता पर सवाल करती है, जो आदिवासी स्त्री को बंधनों में जकड़ने का कार्य करती है- 'पर क्यों नहीं पूछता कोई सवाल/क्यों इंसाफ के एक पलड़े में/हमेंशा ही पत्थर हुआ करता है?' इस तरह हिन्दी की आदिवासी कविता स्त्री छवि को सम्पूर्णता में चिन्हित करती है।

भारतीय लोकतंत्र में आदिवासी

आदिवासी समाज एक लोकतांत्रिक समाज है जो श्रम की संस्कृति को महत्त्व देता है। आजादी के बाद आदिवासियों को लगा कि लोकतंत्र की स्थापना से सामंतवाद और राजशाही का तिलस्म टूट जायेगा। रामदयाल मुंडा की कविता 'राजा ठाकुर होते थे' लोकतांत्रिक परिवर्तन को चिन्हित करती है-

"राजा ठाकुर होते थे

अब वे चुप है किसी कोने में

धूल उड़ने लगी है घोड़साल से

[494] बडाईक सरिता सिंह : क्या हूँ मैं, गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 288

नहीं अब नर-बलि गढ़ के भीतर

ठेंपी लग गयी षुद्ध शराब की बोतलों में

वे चुप है किसी कोने में।

लाज शरम छोड़कर

जोतने-कोड़ने चलना ही होगा

कुछ नहीं है लम्बी पगड़ी में

जो काम करेगा वहीं खायेगा।"[495]

पर हकीकत में कुछ नहीं बदला। भारतीय सामंतवाद ने अपना रूप बदलकर पूँजीवादी व्यवस्था से सांठ-गांठ कर ली। रामदयाल मुंडा भारतीय लोकतंत्र में आदिवासियों के उपेक्षित होने को रेखांकित करते हुए अपनी कविता 'अनमेल' में लिखते हैं-

"लोगों के कहने से

कह तो दिया कि साथ बहेंगे

पर मन नहीं मिल पाया

गंगा का पानी अलग है

अलग यमुना का पानी।"[496]

हिन्दी आदिवासी कविता भारतीय लोकतंत्र में आदिवासियों की स्थिति और आदिवासियों के भविष्य पर सवाल करती है। आज भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी संस्कृति और कलाएँ सिर्फ़ म्यूजियम की वस्तु बनकर रह गई है। इन कलाओं को सरकारी और गैर सरकारी, किसी भी प्रकार का कोई संरक्षण प्राप्त नहीं है। अगर इन कलाओं को बचाना है तो पहले आदिवासियों को बचाना पड़ेगा। आदिवासियों के संवैधानिक अधिकारों की रक्षा करनी पड़ेगी और लोकतंत्र को साकार रूप में प्रस्तुत करना पड़ेगा, तब जाकर इनका संरक्षण होगा। लोकतंत्र की झांकियों में आदिवासियों को दिखाने से उनका भला नहीं होगा। 'नगाड़े की तरह बजते है शब्द' कविता में निर्मला पुतुल सवाल करती है-

[495] मुंडा रामदयाल : राजा ठाकुर होते थे, गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 51

[496] मुंडा रामदयाल : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 33

"दिल्ली के गणतंत्र की झाँकियों में

अपनी टोली के साथ

नुमाइश बनाकर कई-कई बार

पेश किए गए तुम।

पर गणतंत्र नाम की कोई चिड़िया

कभी आ कर बैठी है

तुम्हारे घर की मुंड़ेर पर ?"[497]

आदिवासी समुदायों के लिए लोकतंत्र का क्या मायने है? महज एक वोट! आज भी दो जून की रोटी का सपना पाले इन आदिवासियों के यहाँ उस वोट की कीमत चंद रूपयों और शराब की बोतल के अलावा कुछ नहीं है। मतदाता कार्ड यानि पहचान पत्र के उपयोग पर कटाक्ष करते हुए हरिचरण अहरवार अपनी कविता 'समाज के हाशिये पर' में लिखते हैं-

"दो जून की रोटी ही इक्कीसवीं सदी का सपना

हाँ डिग्री के नाम पर उनके पास मतदाता फोटो पहचान पत्र बने है

जब कुछ युवा मोटर साईकिल पर बिठाकर

ले जाते है वोट ड़ालने

कहते है मतदान के बाद

लो, अब इसे रख देना

बहुत काम आता है।"[498]

आजादी के बाद भारत ने लोकतांत्रिक-समाजवाद की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया, जिसे भूमंडलीकरण के दौर में भुला दिया गया। स्वतंत्रता सेनानियों के बलिदान और सपनों से उलट आज

[497] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते है शब्द,2012 पृ. सं. 20

[498] अहरवार हरिचरण : समाज के हाशिए पर, हरिराम मीणाः समकालीन आदिवासी कविता,(सं.) 2013

भारतीय राष्ट्रवाद जिस जगह पहुंचा है, वहाँ आदिवासियों और उनकी असहमति का कोई मूल्य नहीं है । आलोका कुजुर अपनी कविता 'पहाड़ पर पहाड़' में लिखती हैं-

"बताया गया

कोशिश चल रही थी

समाजवाद लाने की

बिगुल बजे

अश्व सजे

मार्च और फ्रंट हुए

कदम मिलने पर

तालियाँ बजी

पर आंखे खुली

तो बस बाज़ार थे

दुःखों के पहाड़

दो-दूनी चार थे ।"[499]

अपने परिवेश से उजड़े हुए आदिवासी आज अपना जीवन काटने के लिए कैसे मुख्यधारा की जूठन पर आश्रित है, इसकी बानगी सरोज केरकट्टा ने अपनी कविता 'उस्ताद' में प्रस्तुत की है-

"इनुस मियाँ के गैराज में

धाधु उस्ताद दिखाई देता है

बारह वर्ष का धाधु....

बड़े सबेरे लगाता झाड़ू

[499] कुजुर आलोका : पहाड़ पर पहाड़, गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 181-182

मुट्ठी भर मुरही और

एक गिलास लाल चाय पर

दोपहर तक खटता

ग्राहकों के लिए

बीड़ी-सिगरेट लाता

फेंके गये बीड़ी-सिगरेट

चुरा-चुरा कर पीता

चाय लाता

गिलास में बची झूंठी चाय

स्वयं पी जाता

हर आने वाला उसे

धाधु उस्ताद बुलाता।"[500]

मुख्यधारा की छल-कपटपूर्ण संस्कृति

ऐतिहासिक रूप से आदिवासी क्षेत्र कभी भी भारतीय शासन व्यवस्था के अंग नहीं रहे। मुगलकाल तक किसी भी शासक ने उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया। अंग्रेजों का लक्ष्य दूसरा था, उन्हें वनोपज हासिल करने के साथ आदिवासियों में अपने धर्म का प्रचार करना था। आजादी के बाद भारतीय शासन की नीतियों में आदिवासी इलाके की प्राकृतिक खनिज संपदा का दोहन शामिल हो गया, पर भूमंडलीकरण ने बहुत तीव्रता के साथ आदिवासी जीवन में प्रवेश किया। इससे पहले की आदिवासी समझ पाते, इसने आदिवासी जीवन की दशा और दिशा को बदल कर रख दिया। बाहरी लोगों की घुसपैठ में भी उतनी तीव्रता देखी गई। इन बाहरी 'दिकूओं' ने आदिवासी संस्कृति और सभ्यता को तिरस्कारपूर्ण हेय दृष्टि से देखा। कवयित्री निर्मला पुतुल इस पीड़ा को अपनी कविता 'संथाली लड़कियों के बारे में' दर्ज़ करती है-

[500] केरकट्टा सरोज : 'उस्ताद', गुप्ता रमणिका : पूर्वोक्त, 2015, पृ. सं. 257

"ये वे लोग है

जो हमारे ही बिस्तर पर करते है

हमारी बस्ती का बलात्कार

और हमारी ही जमीन पर

खड़े हो कर पूछते है

हमसे हमारी औकात।"[501]

भूमंडलीकरण के इस दौर में आदिवासी जमीन को किस तरह बाज़ार निगलता जा रहा है और किस तरह आदिवासी अपने ही इलाके में सिमटते जा रहे है, इस तथ्य को भी रेखांकित करते हुए निर्मला पुतुल लिखती है-

"वैसे तो आजकल

धंसते आ रहे हैं वे लोग

बस्ती की तरफ

सड़क किनारे वाली जमीन तो बिक ही गई

धीरे-धीरे कर सबकी।"[502]

आदिवासियों ने जिस निस्वार्थ और निश्चल भाव से बाहरी दिकूओं का स्वागत किया, जिसका बदला उन्होंने आदिवासियों के जल-जंगल और जमीन पर कब्जा कर चुकाया। आदिवासियों को अपनी ही जमीन से बेदख़ल होना पड़ा। महादेव टोप्पो अपनी कविता 'फिर भी हम करते रहे हैं, तुम्हें जोहार' में लिखते हैं-

"हम बियाबानों में

जोहार कहते

करते रहे तुम्हारा स्वागत

[501] पुतुल निर्मला : संथाली लड़कियों के बारे में कविता से

[502] पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते है शब्द, 2012 पृ. सं. 43

तुम नमक की टोकरी लिए

जीतते रहे हमारा दिल

दिल जीतते-जीतते

आखिर तुम जीत गये बहुत कुछ ।"[503]

आदिवासियों के प्रति दोहरा मापदंड

भारतीय समाज की मूलधारा आदिवासियों के प्रति दोहरे मापदंड अपनाती है । एक ओर वह उन्हें सभ्यता और संस्कृति से विहीन मानते हूए किसी भी सफेदपोश काम के लिए अक्षम मानती है । वहीं जब दूसरी ओर कोई व्यक्ति व्यवस्था को जानते समझते हुए अपनी योग्यता के आधार पर कोई पद या सरकारी नौकरी पाने में सफल रहता है, तो उस पर यह मुख्यधारा 'सरकारी दामाद/कोटे का व्यक्ति' का ठप्पा भी चिपका देती है। महादेव टोप्पो अपनी कविता 'तुमसे आदमी कहाने के गुर नहीं सीखूंगा' में कहते है-

"वैसे यह रीति कैसी है तुम्हारी ?

जब सीख लेता हूँ

आजादी के वर्षों वाद तुम्हारे हुनर

तो वह होता नहीं तुम्हें बर्दाश्त

नहीं सीखता तो कोटे का आदमी होने का

झेलता रहता हूँ अपमान

गर्वनमेंट-सन-इन-लॉ कहलाता ।"[504]

मुख्यधारा अपनी संवेदनाओं के वैश्विक होने का स्वांग रचती है । एक ओर वह अमरीकी बमवर्षक विमानों का शिकार होने वाले 'अफगानी गडरिया और उसकी भेड़ों के लिए' अपनी संवेदना जाहिर करती है किन्तु वहीं दूसरी ओर दिन- प्रतिदिन पेड़, नदी, पहाड़ और हवा को बचाने का संघर्ष

[503] टोप्पो महादेव : 'फिर भी हम करते रहे हैं, तुम्हें जोहार', हरिराम मीणा : समकालीन आदिवासी कविता, 2013, पृ. सं 78

[504] टोप्पो महादेव : 'तुमसे आदमी कहाने के गुर नहीं सीखूंगा', रमणिका गुप्ता : झारखंड के आदिवासी कवि, 2015,पृ. सं. 130

करते आदिवासी उनकी संवेदना को नहीं जगा पाते । महादेव टोप्पो की कविता 'विरजित खान, राबर्ट फिस्क और हम' इसको सही साबित करती है-

"वह चीख रहा था

चिल्ला रहा था

पागलों की तरह

भाग-भागकर लहूलुहान भेड़ों को

बचा रहा था अमेरिकी बमवर्षकों से

हां! वह बिरजित खांन था

एक अफगानी गड़रिया...

मेरे मित्र बताते तो है

भेड़ों के बारे में

बिरजित खान के बारे में

अमेरिकी साम्राज्यवाद के बारे में

फांसीवादी ताकतों के बारे में

मगर मेरे मित्र नहीं बताते-

पेड़ों को बचाते, नदियों को बचाते

देश के जल-जंगल-जमीन और हवा को बचाते

पहाड़ और जंगल के लोगों के बारे में

क्योंकि हमारे मित्रों को किसी राबर्ट फिस्क ने

दी नहीं है इसकी जानकारी ।"[505]

[505] टोप्पो महादेव : 'विरजित खान, राबर्ट फिस्क और हम', रमणिका गुप्ता : पूर्वोक्त पृ. सं. 136

मुख्यधारा की संस्कृति के बारें में मैनेजर पाण्डेय बताते हैं कि 'मुख्यधारा सबकुछ निगलने में विश्वास करती है। पहले वह विरोधी सभ्यता और संस्कृति का विरोध करती है, अगर इससे काम नहीं चलता तो वह उसे विकृत करने का प्रयास करती है और तीसरे रूप में उसे स्वीकार कर लेती है।' आज भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी नायकों और उनकी संस्कृति को इसी रूप में गैर-आदिवासी समाज स्वीकार कर रहा है। शिशिर टूडू की कविता 'फिर होगा उलगुलान' इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है-

"मेरे शहर में

बिगत कुछ वर्षों से कमाल हो गया

एयरपोर्ट, बंदीग्रह से लेकर

होटल, जूते की दुकान तक से

शहीद बिरसा मुंडा का नाम जुड़ना

मेरे लिए एक बड़ा सवाल हो गया है

जिन्होंने दुकानों, होटलों के रखे नाम

उन्होंने शहीद का नाम ही सुना होगा

न उन्होंने पढ़ा होगा उनका इतिहास

न उन्हें जाना होगा।"[506]

आन्तरिक उपनिवेशवाद और बाज़ारवाद के खिलाफ़ प्रतिरोध

भूमंडलीकरण के दौर में बाज़ार की घुसपैठ आदिवासी जीवन संस्कृति में गहराई तक हो चुकी है। आत्मालोचना करते हुए कवयित्री निर्मला पुतुल बताती है कि बाज़ार का विरोध करने के क्रम में कैसे हम बाज़ार की संस्कृति को अपनाते जा रहे है-

"यह कहते हुए

शर्मिंदा महसूस करती हूँ

कि बाज़ार में घूमते

[506] टूडू शिशिर : 'फिर होगा उलगुलान' रमणिका गुप्ता : पूर्वोक्त पृ. सं. 113

जब प्यास लगती है।

तो पानी से ज्यादा

पेप्सी और स्प्राइट की तलब होती है।"[507]

बाज़ार ने आदिवासी युवाओं को रोजगार की तलाश में शहर जाने के लिए प्रेरित किया। ऐसे में बहुत कुछ पीछे छूट गया। सरिता सिंह बड़ाइक की कविता 'आजी' आदिवासी जीवन में आ रहे परिवर्तनों को रेखांकित करती है-

"छोटी उम्र में ब्याही गयी, आजी

एक-एक कर सब छोड़ गये

बेटा-बहु शहर जा कर

गाँव का रास्ता भूल गये

आँसू पोंछती आंचल के कोर से

गीत गाती है आजी।"[508]

रामदयाल मुंडा की कविता 'गुलामी' आजाद भारत में आंतरिक उपनिवेशवाद को रेखांकित करती है-

"गुलामी/चोलियां बदलती है

उसका अंत नहीं होता

विदेशी को भगाया हमने

खुद के गुलाम बन बैठे।"[509]

हिन्दी आदिवासी कविता प्रतिरोध की आदिवासी संस्कृति को सामने रखती है। किसी समाज को जिस मात्रा में कुचला और दबाया जाता है या कहे कि उत्पीड़न और शोषण किया जाता है, उसी

[507] Samalochanblogspot.in 6 मार्च 2014

[508] बडाइक सरिता सिंह : 'आजी' कविता, रमणिका गुप्ता : पूर्वोक्त पृ. सं. 287

[509] मुंडा रामदयाल : 'गुलामी' कविता, रमणिका गुप्ता : पूर्वोक्त पृ. सं. 41

मात्रा में प्रतिरोध भी जन्म लेता है। आदिवासी प्रतिरोध का तरीका संवैधानिक और जन भावनाओं के अनुकूल होता है। निर्मला पुतुल लिखती हैं-

"गिरेंगी जितनी बूंदे लहू की धरती पर

उतनी ही जनमेंगी-निर्मला पुतुल

हवा में मुट्ठी बांधे

हाथ लहराते हुए।"[510]

प्रकृति के साथ रचाव-बचाव का रिश्ता

आदिवासी संस्कृति 'प्रकृति के साथ रचाव-बचाव' की संस्कृति है। इसलिए जब कोई प्रकृति के साथ छेड़छाड़ करता है तो आदिवासी कवि मन व्यथित हो उठता है, वह प्रकृति से छेड़छाड़ करने वाले का विरोध करता है। 'हे समय के पहरेदारों' कविता में ग्रेस कुजुर कहती हैं-

"न छेड़ों प्रकृति को

अन्यथा यही प्रकृति

एक दिन मांगेगी

हमसे-तुमसे अपनी तरूणाई का

एक-एक क्षण और करेगी

भयंकर बगावत और तब

न तुम होंगे

न हम होंगे।"[511]

प्रकृति के साथ खिलवाड़ कर मनुष्य अपने पैरों पर खुद कुल्हाड़ी मार रहा है, क्योंकि जिस मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर रहा है, वह असमय ही कईं आपदाओं को आमंत्रित कर रहा है-

[510] रमणिका गुप्ता : कलम को तीर होने दो, झारखंड के आदिवासी कवि, 2015, पृ. सं. 91

[511] कुजुर ग्रेस : 'हे समय के पहरेदारों' कविता, हरिराम मीणा : समकालीन आदिवासी कविता, 2013, पृ. सं 25-26

बाढ़, सूखा, अकाल, सुनामी, भूकंप, भूस्खलन आदि । कवयित्री ओली मिंज अपनी कविता में न केवल इसे रेखांकित करती हैं, अपितु मानव समुदाय के लिए चेतावनी भी देती है-

'पेड़-पौधों को रौंदकर

जंगली जानवरों की खाल पर

पक्षियों के पंखों को टाँककर

निःसंदेह आदमी

सम्पूर्ण मानव समुदाय के लिए

एक खूबसूरत कफ़न बना रहा है ।'

प्राकृतिक संसाधनों से लैस देश के आदिवासी इलाकों में होने वाले विरोध प्रदर्शन और संघर्ष अपने प्राकृतिक पर्यावासों को बचाने के लिए ही है । अगर ऐसा नहीं हुआ तो आदिवासी ही नहीं, पूरा वन्य जीवन और उस पर आधारित जीव जगत भी खत्म हो जायेगा । 'गुरिल्ले का आत्मकथन' कविता में कवि अनुज लुगुन आदिवासी रचाव-बचाव के जीवन दर्शन को सामने रखते हूए लिखते हैं कि-

"एक दिन एक चिड़ी ने मुझसे आकर पूछा-

तुम अपने कंधे पर बंदूक टाँगे

रात-दिन, भूखे-प्यासे

जंगली पगडंडियों में भटकते हो

क्या तुम्हें इस तरह खुशी मिलती है

जैसे मैं खुश रहती हूँ गीत गाते हुए

तब मैंने उसे हल्की मुस्कान दी और कहा-

मैं तुम्हारे ही तो गीत गाता हूँ ।"[512]

[512] लुगुन अनुज : 'गुरिल्ले का आत्मकथन' कविता रमणिका गुप्ता : झारखंड के आदिवासी कवि, 2015, पृ. सं. 72

वर्तमान भूमंडलीकरण बाज़ार केन्द्रित है। इसकी ख़ासियत यह है कि यह न केवल संबंधों से परे है, अदृश्य भी है। इसका आकर्षण और मोह इतना तीव्र है कि यह आदमियों को ही नहीं, अपितु प्रकृति के स्थिर अवयवों को भी अपनी ओर खींच रहा है। अनुज लुगुन लिखते हैं-

"बाज़ार भी बहुत बड़ा हो गया है

मगर कोई अपना सगा दिखाई नहीं देता

यहाँ से सबका रूख शहर की ओर कर दिया गया है

कल एक पहाड़ को ट्रक पर जाते हुए देखा

उससे पहले नदी गयी

अब खबर फैल रही है कि

मेरा गाँव भी यहाँ से जाने वाला है।"[513]

उक्त कविता के माध्यम से अनुज लुगुन आदिवासियों की उस नियति को रेखांकित करते है जिसमें प्राकृतिक पर्यावासों के अभाव में उनका खत्म होना तय है। पहाड़ों का टूटकर खत्म होते जाने का मतलब आदिवासियों की जिन्दगी का टूटना भी है-

"पहाड़ के पहाड़ दे दिये जाते है

यहाँ लीज पर/लीज मिले पहाड़ों के सीने पर

होता है हर रोज विस्फोट

और एक पहाड़ बन जाता है

खंड़हर... ।"

सवाल पहाड़ों के टूटने का तो है ही, पर उससे ज्यादा सवाल उस चुप्पी का है, जो यह सब देखने समझने के बाद भी खामोश है-

"पहाड़ टूटते है

[513] लुगुन अनुज : 'शहर के दोस्त के नाम पत्र', रमणिका गुप्ता : पूर्वोक्त 2015 पृ. सं 77-78

पर कुछ बोल नहीं सकते

जो बोल सकते है

वे अपना मुंह नहीं खोलते

बस देखते है टुकुर-टुकुर

इन जंगलों पहाड़ों की खूबसूरती देकर

किसी गैर को हाथ हिलाते हुए

निकल जाते है हर साल

देश के दूसरे भागों में। "[514]

आदिवासियों का अपने परिवेश से लगातार उखड़ना और रोजगार की तलाश में देश के दूसरे भागों में पलायन को मजबूर होना भूमंडलीकरण के दौर की कड़वी सच्चाई है। आदिवासी संस्कृति के फल-फूलने के लिए जिस प्राकृतिक पर्यावास की जरूरत होती है, उसका अभाव उनकी अस्मिता को निगल जाता है।

सभ्यता' का पाठ पढ़ाने वालों से सवाल

आदिवासी संस्कृति को हमेंशा से गैर आदिवासियों ने हीन भाव से देखा है । उन्होंने आदिवासियों को असभ्य मानकर सभ्यता का पाठ पढ़ाने का 'ठेका' लिया हुआ है, जिससे आदिवासी कवि सहमत नहीं है । प्रकृति को संरक्षित करने की सहज आदिवासी भावना के बरक्स जब गैर आदिवासी समाज अपने पैसे के रौब-दाब से प्रकृति को संरक्षित करने का दावा करता है तो इसे कवि महादेव टोप्पो आदमियत की नासमझी करार देते है-

"लेकिन तुम

इस धरती को चिथड़ों में लपेटकर

पवित्र नदियों को गंदे नाले में बदलकर

इसे बचाने का जब करते हो नाटक

[514] गुप्ता रमणिका : कलम को तीर होने दो, झारखंड के आदिवासी कवि, 2015 पृ. सं 196-197

तब आता है गुस्सा

देखता हूं जब तुम्हारी हर कोशिश

हरियाली के खिलाफ़ है

हवा में ऑक्सीजन कम, धूल-धुंआ कुछ ज्यादा है

जेब में रूपयें कुछ और ज्यादा

लेकिन आदमी होने की समझ और तमीज कम है।"[515]

आदिवासी संस्कृति में आदमियत इससे तय होती है कि आने वाली पीढ़ी के लिए हम कैसा प्राकृतिक पर्यावास देंगे। गैर आदिवासी संस्कृति में रूपया-पैसा, धन-दौलत और जायदाद का जो महत्त्व है, वैसा आदिवासियों में नहीं। 'पहाड़ की नजरों में' कविता की ये पंक्तियां आदिवासियों के संबंध में गैर आदिवासी धारणा का नकार ही नहीं करती, अपितु उसकी श्रेष्ठता की ग्रंथि पर सवाल करती है-

"तुम चाहे जो कुछ कहों मेरे बारे मे

मान लूंगा माई-बाप

सिवा इसके की कहो तुम-

स्वयं को मनुष्य।"[516]

आदिवासी कवि मुख्यधारा की भेदभावपूर्ण संस्कृति का तिरस्कार करते है। वे संस्कृतियों के बीच पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करने के उपरांत पाते है कि मुख्यधारा की संस्कृति में अस्वीकार किये जाने वाले बहुत से तत्त्व है, जो आदिवासी दर्शन और संस्कृति के प्रतिकूल होने के साथ मानवता के लिए कलंक है।कवि- एक्टिविस्ट ग्लैड़सन डुंगडुग अपनी कविता 'हमें नहीं चाहिए तुम्हारा रंगीन चश्मा' में लिखते हैं-

"हमें नहीं चाहिए तुम्हारा रंगीन चश्मा

जो दूसरों से भेदभाव सिखाता है

[515] रमणिका गुप्ता : पूर्वोक्त, 2015 दिल्ली, पृ. सं. 131

[516] रमणिका गुप्ता : पूर्वोक्त, 2015 दिल्ली, पृ. सं. 138

हमें नहीं चाहिए तुम्हारा दर्शनशास्त्र

जो आदिवासी, दलितों और महिलाओं से

भेदभाव सिखाता है

हमें नहीं चाहिए तुम्हारी मुख्यधारा

जहाँ भूख, हत्या और महिलाओं को

जिंदा जलाने का चलन है।"[517]

आदिवासी जानते है कि परिवर्तन जीवन का शाश्वत नियम है, जिसे रोकना संभव नहीं। 'सीख' कविता में रामदयाल मुंडा इस सत्य को नदी के रूपक द्वारा समझाते है-

"नहीं जब रूकी

गंदला गयी

समझने वालों को बात

कुछ बतला गयी

चलना ही है जीवन की निशानी

बहने दो पानी।"[518]

अतीत का मोह और भविष्य का स्वप्न

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जेा वर्तमान को अतीत के संदर्भ में देखना पसंद करता है। मनुष्य का भौतिक परिवेश जितनी तेजी से बदलता है मानसिक परिवर्तन की गति उतनी ही धीमी होती है, इसलिए अतीत के प्रति सहज मोह उसके मन और आत्मा में होता है। आदिवासी कवि इसे भी रेखांकित करता है-

"ढूँढती है सूनी आंखे

धुंधली पड़ी यादों में अपना गाँव

[517] डुंगडुग ग्लैड़सन : 'हमें नहीं चाहिए तुम्हारा रंगीन चश्मा' कविता, रमणिका गुप्ता: पूर्वोक्त, 2015 दिल्ली, पृ. सं. 261
[518] मुंडा रामदयाल : सीख' कविता, रमणिका गुप्ता: पूर्वोक्त, 2015 दिल्ली, पृ. सं. 34

जहाँ अब नहीं है आम के बगीचे

शाल वृक्ष के जंगल

कटहल, नीम और बरगद की छांव ।"

कईं आदिवासी कवियों ने अपने गुजरे जमाने को उसी तरह याद किया है, जिस तरह चौपाल पर बैठे बड़े बुजुर्ग करते है । उनकी यादों का जमाना ही इस दुनिया का सबसे बेहतरीन जमाना होता है । आदिवासी जमाना कुछ ज्यादा ही तेजी से बदल गया है जिसकी कसक उनके मन है । शिशिर टुडू की कविता 'बरसात और पानी' दृष्टव्य है-

"शाम ढलती है, होती है भोर

लेकिन

न आवाज देता है पपीहा

न नाचता है मोर

बीती बरसात में सभी तौर पर

मेंढकों ने शोर बहुत मचाया था

लेकिन सच कहूं यारों

बचपन सा मजा नहीं आया था।"

आदिवासी कवयित्री ग्रेस कुजूर 'एक और जनी शिकार' कविता के माध्यम से न केवल उन साजिशों का पर्दाफ़ाश करती हैं, जो आदिवासियों के खिलाफ़ सैंकड़ों सालों से अनवरत चली आ रही है, अपितु वह अपने समुदायों के पुरूषों से उसका मुकाबला करने के लिए कहती है-

"हे संगी!

क्यों घूमते हो तुम,

झुलाते हुए खाली गुलेल...

क्या तुम्हें अपनी धरती की

सेंधमारी नहीं सुनाई दे रही...

/हे संगी!

तानों अपना तरकस

नहीं हुआ है भोथरा अब तक

बिरसा आबा का तीर...।

कविता यहीं नहीं खत्म होती, वह इतिहास के उन पन्नों को भी उलेटती-पलटती है जहाँ आदिवासी महिलाओं ने अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हुए मुगलों को 'नाकों के चने चबवा दिये' । आदिवासी स्त्री की यह दुत्कार किसी गैर आदिवासी लेखन में नहीं मिलती-

"और अगर अब भी तुम्हारे हाथों की

उंगलियां थरथराई

तो जान लो

मैं बनूंगी एक बार और

सिनगी देई

बाधूंगी फेटा

और कसेगी फिर से

बेतरा की गांठ

नहीं छुपेगी अब

किसी ग्वालिन की कोई सांठ-गाठ

सच! बहुत जरूरत है झारखंड़ में

फिर एक बार

एक जबरदस्त जनी शिकार।"[519]

निष्कर्षः-

हिन्दी आदिवासी कविता के विभिन्न पक्षों पर समग्रता से विचार करने पर पाते है कि भूमंडलीकरण की प्रवृतियों के साथ आदिवासी जीवन के सम्पूर्ण परिवेश को उजागर करने में हिन्दी कविता सफल रही है। इन कविताओं में आदिम जीवन का राग भी है तो वर्तमान के संकट भी। भविष्य की चुनौतियों के उल्लेख के साथ आशा और उम्मीद की किरण इन कविताओं में दिखाई देती है। ये कवितायें आदिवासी समाज के आंतरिक और बाहरी खतरों का संकेत देती है, साथ ही उन खतरों से निपटने की तरकीब भी प्रस्तुत करती है। कुल मिलाकर आदिवासी हिन्दी कविता एक विमर्श के बतौर आदिवासी जीवन से जुड़े सवालों से हिन्दी पाठक को रूबरू करवाती है। आदिवासी जीवन की विशेष भाव भंगिमा के साथ अनुपम प्रस्तुति इन कविताओं को ख़ास बनाती है।

[519] कुजूर ग्रेस : 'एक और जनी शिकार' रमणिका गुप्ता : पूर्वोक्त, 2015 दिल्ली, पृ. सं. 100

उपसंहार

भूमंडलीकरण बीसवीं सदी के अंतिम दशक में उभरी वह आर्थिक संकल्पना है, जिसने समूची मानवता को न्यूनाधिक रूप से प्रभावित किया। भारतीय आदिवासी समुदायों पर भूमंडलीकरण का सबसे अधिक नकारात्मक प्रभाव पड़ा। हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श के उभार और आदिवासी विषयक लेखन की समृद्धता में इसकी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। भूमंडलीकरण ने भारत की दमित अस्मिताओं को मंच प्रदान किया। भूमंडलीकरण ने जिस पूँजीवादी व्यवस्था को आगे बढ़ाया, उसने सामंतवादी व्यवस्था को बाज़ार के लिए हानिकारक मानते हुए उसके खात्में पर जोर दिया। इसने लोकतंत्र और स्वतंत्रता की बाज़ार अनुकूल व्याख्या प्रस्तुत की। कुछ अस्मिताओं का निर्माण पूँजीवादी व्यवस्था ने अपने वर्चस्व को बनाये रखने और विरोध की एकजुटता को खत्म करने के लिए किया, वहीं कुछ ऐसी भी अस्मितायें थी जिनका जन्म भूमंडलीकरण के विरोध की चेतना के फलस्वरूप हुआ। आदिवासी अस्मिता के निर्माण में भूमंडलीकरण विरोधी चेतना की अहम भूमिका थी।

भूमंडलीकरण द्वारा पोषित पूँजीवादी व्यवस्था के केन्द्र में बाज़ार है और इस बाज़ार के लिए जिन प्राकृतिक खनिज संसाधनों की आवश्यकता थी, वे भारत के उस भू-भाग में पाए जाते है, जहाँ भारत की सबसे आदिम जनजातियां निवास करती है। बाज़ार इन प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए अपनी लालच भरी नज़र गढ़ाए हुए है, पर उन इलाकों में रहने वाले आदिवासी इसके विरोध में है, इसलिए बाज़ार शासन सत्ता को भागीदार बनाकर, उसकी सैन्य शक्ति का इस्तेमाल करके भी उस संपदा को हासिल करने का प्रयास करता है। बाज़ार की बहुराष्ट्रीय कंपनियां साम, दाम, दंड और भेद के साथ सभी प्रकार के छल-कपट का सहारा लेती है। भारतीय आदिवासी समुदाय वर्तमान में आर्थिक विकास के अलग-अलग चरणों से गुजर रहे हैं, वे कहीं आखेटक और संग्रहण की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं, तो कहीं खेती किसानी से जुड़कर अपने जीवन की गाड़ी को खींच रहे है। आदिवासियों के लिए उस प्राकृतिक पर्यावास का होना भी आवश्यक है, जिसमें वे पले-बढ़े है। भूमंडलीकरण वह सब छीनता जा रहा है जो आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व को बनाये रखने के लिए अविनार्य है। ऐसे में प्रतिरोध की संस्कृति का पनपना स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी है। हिन्दी आदिवासी साहित्य उसी प्रतिरोध की संस्कृति का परिणाम है, इसमें कुछ गैर आदिवासियों ने सहानुभूतिपूर्वक अपने लेखकीय दायित्व को समझते हुए अपना योगदान दिया है।

शोध प्रबंध के पहले अध्याय में भूमंडलीकरण की अवधारणा, भारत में भूमंडलीकरण के उदय की पृष्टभमि और उसके विकास को रेखांकित करने के साथ आदिवासियों पर भूमंडलीकरण के प्रभावों

का विश्लेषण किया है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण का जन्म शीतयुद्ध की कोख से हुआ। इसने तीसरी दुनिया के देशों को पश्चिमी सभ्यता संस्कृति का गुलाम बनाकर आर्थिक शोषण को अंजाम दिया। बाज़ार की तानाशाही पर केन्द्रित भूमंडलीकरण ने अमेरिकी वर्चस्व को दुनियाभर में कायम किया। भूमंडलीकरण ने उपभोक्तावादी संस्कृति की नींव रखी, जिसने भारतीय सामंतवाद को खत्म करने में मुख्य भूमिका निभाई। दलित और महिला विमर्श के संदर्भ में इसे भलिभांति समझा जा सकता है। साक्षरता और जीवन प्रत्याशा दर को बढ़ाने, ऐतिहासिक धरोहरों को बचाने, पर्यावरणीय समस्याओं को सुलझाने में भूमंडलीकरण की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता है, पर समाज की बढ़ती आर्थिक खाईं को पाटने, दुनिया की संस्कृतियों में परस्पर बराबरी का भाव जगाने, गरीब- अविकसित देशों की स्वायत्तता पर भूमंडलीकरण की भूमिका संदिग्ध ही रही है। भूमंडलीकरण ने मानवीय सरोकार और संवेदनाओं के ऊँपर पूँजी की सत्ता स्थापित की है।

भारत में भूमंडलीकरण का उदय आर्थिक संकट की मजबूरी को दर्शाने के साथ नेहरूवियन समाजवाद के राग का कमतर होते जाना सिद्ध करता है। गांधी के विश्वग्राम की अवधारणा के उलट जिस बाजारू संस्कृति का पदार्पण हुआ, उसमें उपभोक्ता भगवान बनकर उभरा। भाषा और साहित्य के नजरिये से हिन्दी का विस्तार हुआ। साहित्य के बाजारू होते जाने पर पुरानी पीढ़ी ने अफसोस जाहिर किया। भूमंडलीकरण ने भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सांमाजिक और सांस्कृतिक संरचना को बदल कर रख दिया।

भूमंडलीकरण का आदिवासी संदर्भ में मूल्यांकन करने पर पाते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण मध्य भारत के आदिवासियों पर यह कहर बनकर टूटा है। सत्ता चाहे विदेशी अंग्रेजों की रही हो, चाहे देशी परवर्ती शासकों की, आदिवासियों को फुसलाने से लेकर डराने-धमकाने का प्रयास आज भी जारी है। अग्रेजों के जमाने में आदिवासी असंतोष ने जोर पकड़ा, तो विल्किंसन रूल्स, संथाल परगना एक्ट, छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम के माध्यम से आदिवासियों को खुश करने का प्रयास किया गया। छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम में आदिवासी जमीन, संस्कृति और परंपराओं की रक्षा को स्वीकृति तो दी पर आदिवासी क्षेत्र की जमीन का मालिक जिला उपायुक्त को बनाया गया, जिसका आदिवासी समाज से कोई संबंध भी नहीं था, ना किसी जिम्मेदारी या सहानुभूति का अहसास। 1938 में आदिवासी महासभा के गठन के बाद जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में आदिवासी स्वायत्ता की माँग उठी तो उसे दरकिनार कर संविधान के अन्तर्गत पांचवीं-छठवीं अनुसूची के साथ आरक्षण का पासा फेंका गया।

1980-90 के बीच जब आदिवासी स्वशासन की माँग ने जोर पकड़ा, तो 1996 में पेसा कानून का चारा आदिवासियों के सामने फेंका गया। आदिवासियों के जंगल अधिकार की माँग तेज हुई तो वनाधिकार कानून 2006 के नाम पर 1 डिसिमिल से लेकर 2 एकड़ जमीन का पट्टा आदिवासियों को दिया गया। सरकार ने देखा कि वन अधिकार अधिनियम 2006 आदिवासियों के भूमि अधिकारों को मजबूत कर रहा है, जिससे आदिवासी भूमि का हस्तांतरण बहुदेशीय कंपनियों को होने में बाधा आ रही है तो उसने भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास एवं पुनर्स्थापना कानून 2016 लाकर इस बाधा से पार लिया। आदिवासी समाज के साथ सरकार और पूँजीपति एक ऐसा खेल खेल रहे है जिससे आदिवासी समाज का पार पाना मुश्किल दिखाई देता है।

शोध प्रबंध का द्वितीय अध्याय 'हिन्दी आदिवासी साहित्य और विमर्श' को समझने का एक प्रयास है। आदिवासी समाज और साहित्य के परस्पर संबंधों पर विचार करने पर पाया कि साहित्य की गैर आदिवासी परंपरा में आदिवासियों की खलनायक छवि ने उनके पंरंपरागत शोषण को वैधता प्रदान की है जिसके प्रति वर्तमान आदिवासी साहित्य में नकार का भाव है। वह उन मिथकों को खारिज़ करता है जो विजेता संस्कृति की दर्प को बढ़ाने के साथ आदिवासियों को हतोत्साहित करते है। भूमंडलीकरण के दौर में रचित आदिवासी साहित्य को तीन भागों में बांट सकते है। पहला आदिवासी समाज से आने वाले लेखकों का साहित्य, जो कि आदिवासी जीवन दर्शन ओर चेतना को सामने रखता है। दूसरे प्रकार के लेखक वे हैं जो आदिवासी जीवन की विचित्रता और अनोखेपन पर मोहित है, इनका उद्देश्य साहित्य के माध्यम से पैसा बनाना है। तीसरे प्रकार के लेखक वे हैं जो मार्क्सवादी विचारधारा पोषित सर्वहारा की सत्ता कायम करना चाहते है। इनके लिए आदिवासी क्रांति के हिरावल दस्ते है। इन लोगों की सृजनात्मक ईमानदारी पर सवाल खड़ा नहीं किया जा सकता, पर उनकी आदिवासी समझ पूर्ण नहीं है। आदिवासी समाज साहित्य से संचालित समाज नहीं रहा, वहाँ साहित्य अन्य कलारूपों के साथ सामूहिक अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है। वर्तमान हिन्दी का आदिवासी साहित्य अपनी प्रेरणा आदिवासी जीवन दर्शन से ग्रहण करता है, जबकि उसकी प्रस्तुति के लिए वह आधुनिक भारतीय भाषाओं की विधाओं पर निर्भर है।

आदिवासी दर्शन की समझ, हिन्दी आदिवासी लेखन की पहली लेखकीय शर्त है। आदिवासी साहित्य का मूल ध्येय आदिवासी दर्शन का प्रसार है। मातृभाषाओं के साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं में द्विभाषी प्रस्तुति इसकी महत्वपूर्ण विशेषता है। कुल मिलाकर इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में एक साहित्यिक आंदोलन के रूप में हिन्दी आदिवासी साहित्य अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराता है। यह आदिवासियों को उनके मूलभूत अधिकारों से बेदख़ल करने वाली सभ्यता और संस्कृति के

खिलाफ़ अपना प्रतिरोध दर्ज़ करता है। यह आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता को बचाने के उपक्रम में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रहा है। विषयवस्तु के रूप में आदिवासी साहित्य आदिवासी अस्मिता की पहचान, दिकूओं द्वारा किये गये और किये जा रहे शोषण के विविध रूपों को उदघाटित करने के साथ आदिवासी प्रतिरोध को अभिव्यक्त करता है। वर्तमान आदिवासी साहित्य पुरखा साहित्य की वाचिक परंपरा का अगला पड़ाव है।

भूमंडलीकरण ने हिन्दी आदिवासी साहित्य के उभार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस दौर में आदिवासियों को चौतरफा हमलों का सामना करना पड़ा, इन हमलों से बचाव का एक संभावित मोर्चा हिन्दी आदिवासी साहित्य है। यह बाहरी समाजों को आदिवासी संस्कृति और परंपरा की खूबसूरती से परिचित कराने के साथ वर्तमान के आंतरिक और बाहरी संकटों से रूबरू करवाता है। यह शोषणकारी सभ्यता और संस्कृति के मानने वालों के मन में थोड़ी हमदर्दी और प्यार पाने के साथ सहानुभूतिपूर्ण ढंग से आदिवासियों के बारे में विचार करने को बाध्य करता है। आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य का आधार है। संस्कृति, परंपरा और जीवन के प्रति रागात्मक संवेदना आदिवासी दर्शन की निर्मिति करता है। अतः इसका सटीक और सही चित्रण आदिवासी साहित्य का पैमाना है। आदिवासी दर्शन का रांची घोषणा पत्र और उस पर प्रो. वीरभारत तलवार की आलोचनात्मक लंबी टिप्पणी आदिवासी साहित्य की अवधारणा को समझने में सहायक सिद्ध होती है।

भूमंडलीकरण के संदर्भ में हिन्दी दलित विमर्श से आदिवासी साहित्य विमर्श की तुलना करने पर पाते है कि दलित विमर्श के उभार में मराठी दलित आंदोलन और बाबा साहब अंबेडकर के जीवन दर्शन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है जबकि आदिवासी विमर्श भूमंडलीकरण की नीतियों की प्रतिक्रिया के बतौर उभरा। दलित विमर्श में जहाँ हिन्दू वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा का दंश प्रमुखता से उभरा, वहीं आदिवासी विमर्श अपने नायको के खलनायक की छवि गढ़े जाने से दुखी है। सीमांत पर स्थित होने के कारण आदिवासियों पर हिन्दू व्यवस्था के अत्याचार उतने तीखे नहीं रहे जितने दलितों पर। भूमंडलीकरण के संबंध में दोनों की विमर्शों की समझ एक दूसरे से उलट है। भूमंडलीकरण ने दलितो को शहरों में सम्मानजनक जिंदगी जीने का अवसर प्रदान किया, वहीं आदिवासियों को उनके जल जंगल जमीन से बेदख़ल कर दिया। अंग्रेजी भाषा जहाँ दलितों के लिए मुक्ति की भाषा बनी, वहीं आदिवासी भाषाओं का मिटते जाना उनकी अस्मिताओं से जुड़कर उनके सर्वस्व हरण का कारण बना। आदिवासी और दलित विमर्श मुक्तिकामी विमर्श है जो आपसी सहयोग से समतावादी समाज का सपना सच करेंगे।

शोध प्रबंध का तीसरा अध्याय 'भूमंडलीकरण: हिन्दी उपन्यास और आदिवासी' भूमंडलीकरण के प्रभावों और प्रवृतियों का मूल्यांकन हिन्दी के आदिवासी और गैर आदिवासी विषयक उपन्यासों के आलोक में करता है। जहाँ आदिवासियों से संबधित उपन्यासों में आदिवासी जीवन और समाज में आ रहे परिवर्तनों को विषय बनाया है, वहीं दूसरे उपन्यासों में मध्यमवर्गीय समाज और उसकी विसंगतियां हावी रही है। पाठक की पसंद का हर बाज़ारवादी टेस्ट इन उपन्यासों में मिलेगा। ये उपन्यास कहीं अपने वैचारिक बोध के साथ पाठक को उद्देलित करते है तो कहीं उनके मनोजगत के अनुकूल बात कहकर उसके अहं को संतुष्ट करते है। विषय के विस्तार के साथ शिल्प के नये प्रयोग यहाँ देखने को मिलते है, वहीं दूसरी ओर आदिवासी जीवन से जुड़े हुए उपन्यासों में वर्तमान आदिवासी समाजों की समस्याओं के साथ इतिहास और मिथकों का पुनर्लेखन प्रमुखता से हुआ है। आदिवासी नायकों बिरसा मुंडा, सिद्धो-कान्हू, गोविंद गिरी, टंटया भील के साथ आदिवासी प्रतिरोधों के इतिहास पर बहुत से उपन्यास इस दौर में लिखे गये। जल, जंगल और जमीन के छिनते जाने का दुख, विस्थापन, बेदख़ली और पलायन, दिकूओं का शोषण, आदिवासी समुदायों की आंतरिक-बाहरी समस्यायें, भूमंडलीय पूँजीवाद और बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा खडी की गई समस्यायों के साथ अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए संघर्षरत् आदिवासी समाज का चित्रण इन उपन्यासों का वर्ण्य विषय है। बाज़ारवाद, निजीकरण, सांप्रदायिकता, बहुराष्ट्रीय कंपनियों की उपस्थिति, उपभोक्ता संस्कृति ,आदि का चित्रण इन दोनों तरह के उपन्यासों में है किन्तु उनकी प्रस्तुति और सवाल अलग-अलग है। इसलिए मैंने अपने शोध में हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण की उपस्थिति को आदिवासी के साथ गैर आदिवासी संदर्भ में भी देखने का प्रयास किया है, ताकि तुलनात्मक रूप से दोनों का अंतर स्पष्ट कर सके।

इस अध्याय के दूसरे और तीसरे भाग में भूमंडलीकरण से पहले और बाद के उपन्यासों का कालक्रमानुसार विवरण ही प्रस्तुत नहीं किया है अपितु उनकी प्रवृतियों और विशेषताओं का उल्लेख भी समसामयिक समय में किया है। आदिवासी और गैर आदिवासी उपन्यासकारों की प्रस्तुति के अंतर को भी देखने समझने का प्रयास किया गया है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी समाज का चित्रण उनके सांस्कृतिक वैशिष्टय को उजागर करने के उद्देश्य से शुरू हुआ। आदिवासी परंपराओं की विचित्रता से पाठक को चकित कर देने का भाव इन गैर आदिवासी लेखकों में था। कुछ ऐसे भी गैर आदिवासी लेखक थे, जिन्होंने आदिवासी जीवन की वर्तमान समस्याओं पर ईमानदारी के साथ लेखन किया। मार्क्सवादी विचारधारा को मानने वाले इन लेखकों ने आदिवासी जीवन दर्शन को समझने का प्रयास किया और अपनी रचनात्मकता का भरपूर इस्तेमाल करते हुए कुछ बेहतरीन उपन्यास लिखे। इस बीच आदिवासी समाज से आने वाले पीटर पॉल एक्का, मंगल सिंह मुंडा, वाल्टर भेंगरा और हरिराम मीणा ने हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी लेखकों के रिक्त

स्थान को भरने का प्रयास किया। जिस तरह कविता और कहानी में आदिवासी रचनाकारों की अच्छी-खासी उपस्थिति मिलती है, वह यहाँ नहीं है।

अध्याय के अंतिम भाग में पाँव तले की दूब', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश', 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' और 'रेड जोन' उपन्यासों को आधार बनाकर भूमंडलीकरण की प्रवृतियों का चित्रण किया है। भूमंडलीकरण ने आदिवासी जीवन के हर क्षेत्र को बुरी तरह प्रभावित किया है। आदिवासी समाज के वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और पर्यावरण से संबंधित परिवर्तनों और समस्याओं को पीछे भूमंडलीकरण का चेहरा जरूर नज़र आयेगा। उक्त उपन्यास किसी न किसी रूप में इन सभी क्षेत्रों को अपने कथानक में समेटे हुए है। यहाँ हिन्दू ब्राह्मणवादी संस्कृति का प्रवेश, हिन्दू मिथकों में आदिवासी चित्रण, आदिवासी अस्मिता का संकट, सामाजिक परंपरा और रीति रिवाजों में बदलाव, आदिवासी महिलाओं का शोषण और प्रतिरोध आदि सामाजिक सरोकारों के साथ लोकतंत्र की अविश्वसनीयता, आरक्षण, नक्सलवाद जैसे राजनीतिक सरोकारों पर विस्तार से चर्चा है। विकास और विस्थापन, बाज़ार की घुसपैठ, भूमंडलीय विकास का विरोध, पूंजीवादी व्यवस्था का स्वरूप, धार्मिक पहचान और आदिवासी धर्म, पर्यावरण के दुष्परिणाम आदि विषयों पर इन उपन्यासों में विस्तार से लिखा है। उक्त अध्याय हिन्दी उपन्यासों में भूमंडलीकरण को आदिवासी संदर्भ में रेखांकित करता है।

शोध प्रबंध का चौथा और पांचवा अध्याय हिन्दी आदिवासी कहानी और कविता के संदर्भ में भूमंडलीकरण की प्रवृतियों और प्रभावों का विश्लेषण करता है। इस दौर में हिन्दी की गैर आदिवासी कहानी मध्यमवर्गीय संवेदनाओं के साथ उपभोक्तावादी बाज़ार की चमक दमक, सांप्रदायिकता, मानवीय मूल्यों और पारिवारिक संरचना के विखंडन, मानवीय श्रम के अवमूल्यन, बढ़ती बेरोजगारी के साथ अपने प्रखर राजनीतिक सरोकारों के लिए जानी जाती है। निरंतर जटिल होते यथार्थ का कलात्मक चित्रण ये कहानियां प्रस्तुत करती है।

हिन्दी में आदिवासी विषयक कहानी लेखन का इतिहास काफ़ी पुराना है। भूमंडलीकरण के दौर से पहले भी पीटा पॉल एक्का और वाल्टर भेंगरा के साथ कई गैर आदिवासी लेखक भी आदिवासियों पर कहानी लेखन कर रहे थे। इन कहानियों में आदिवासी प्रेम, समर्पण, ईमानदारी, सेवा ,त्याग जैसे मानवीय मनोभावों के साथ युवा जीवन की रोमानियत, स्त्री पुरुष संबंध, भूख और बेरोजगारी का चित्रण मिलता है। भूमंडलीकरण के दौर में मंजू ज्योत्सना, शंकर लाल मीणा, रोज केरकट्टा, रूपलाल बेदिया के साथ रणेन्द्र, ए.के. पंकज, और संजीव जैसे गैर आदिवासी लेखक भी हिन्दी कहानी में मजबूत उपस्थिति दर्ज़ करते है। हिन्दी की बहुतेरी पत्रिकाओं और रचनाकारों ने आदिवासी कहानी पर कई

संग्रह संपादित किये । हिन्दी आदिवासी कहानी की विकास यात्रा का अध्ययन करने पर पाया कि वर्तमान हिन्दी आदिवासी कहानी में आदिवासी दर्शन को आत्मसात् करने का प्रयास किया है । इन कहानियों में आदिवासी संस्कृति, परंपरागत मूल्यों, आचार विचारों, प्रकृति और संपूर्ण जीव जगत की उपस्थिति एक मुकम्मल आदिवासी संसार की रचना करती है । इन कहानियों में बाहरी दबाव के चलते आदिवासी जीवन में होने वाले परिवर्तन की झलक भी मिलती है ।

भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी समाज पर आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के हमलों ने आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता के लिए खतरा पैदा किया । हिन्दी कहानियों में इस त्रासदी का रेखांकन है । हिन्दी आदिवासी कहानियां इस तथ्य को सामने रखती है कि भूमंडलीकरण ने आदिवासियों के समक्ष दो ही विकल्प प्रस्तुत किए है कि या तो वे अपनी अस्मिता, इतिहास और संस्कृति की विरासत को भूल कर मुख्यधारा में विलीन हो जायें या फिर इस धरती से अपने अस्तित्व का मिटना स्वीकार कर ले ।

शोध प्रबंध का अंतिम अध्याय हिन्दी आदिवासी कविता और मुख्यधारा की कविता के अंतर को रेखांकित करता है । भूमंडलीकरण के दौर की हिन्दी कविता जहाँ पश्चिम के आर्थिक साम्राज्यवाद का विरोध दर्ज़ करने के साथ बाज़ारवाद की विभीषिका का चित्रण करती है । उपभोक्तावादी संस्कृति का विस्तार, सूचना प्रौद्योगिकी और मीडिया के आतंक की सूचना देती है । स्त्री छवि का बदलना और पारिवारिक संरचना और मानवीय संवेदनाओं का बदलाव चिंता का विषय है । किसान और दलित जीवन की त्रासदी के बीच सांप्रदायिकता का उभार यहाँ प्रमुख रूप से उकेरा गया है । वहीं भूमंडलीकरण के दौर की हिन्दी आदिवासी कविता आदिवासी भविष्य की अनिश्चितता और सरकारी विकास योजनाओं पर सवाल खड़ा करती है । इन कविताओं में विस्थापन और बेदख़ली की पीड़ा है, प्राकृतिक संसाधनों की लूट और आदिवासी नियति है, आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व को बचाये रखने की चिता है और साथ ही आदिवासी स्त्री की विविध छवियाँ दर्ज़ है । भारतीय लोकतंत्र में आदिवासियों की कमतर भूमिका और आंतरिक उपनिवेशवाद के खिलाफ़ प्रतिरोध इन कविताओं का मूल स्वर है । प्रकृति के साथ रचाव-बचाव का रिश्ता कायम करने के साथ अतीत का मोह और भविष्य की चिंताओं से हिन्दी आदिवासी कविता रूबरू करवाती है । हिन्दी आदिवासी कविता की विकास यात्रा को रेखांकित करते हुए आदिवासी कविता की संरचना और शिल्पगत परिवर्तन पर चर्चा की गई है ।

'भूमंडलीकरण के तीसरे दशक में हिन्दी आदिवासी साहित्य लेखन में अभूतपूर्व विस्तार हुआ । कहानी, कविता और लोक कथाओं के साथ आदिवासी साहित्य की वैचारिकी को दिशा देने वाली

सैंकड़ों रचनायें इस कालखंड में सामने आई है। आदिवासी लेखकों के पुराने विस्मृत साहित्य की भी खोजबीन इस समय में हो रही है। भूमंडलीकरण का नकारात्मक प्रभाव जिस तेजी के साथ आदिवासी समुदायों पर पड़ रहा है, जिसका भविष्य बहुत ही भयावह है, उतनी ही मात्रा में न केवल आदिवासी विषयक लेखन में बढ़ोतरी होगी, अपितु उसकी धार और भी तेज होगी। हिन्दी आदिवासी साहित्य भूमंडलीकरण के प्रतिरोध का सशक्त माध्यम बनेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(क) आलोच्य ग्रंथ/ आधार ग्रंथ

हिन्दी आदिवासी साहित्य विमर्श

- टेटे वंदना : आदिवासी साहित्य: परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, झारखंड़ 2013
- टेटे वंदना : पुरखा झारखंड़ी साहित्यकार और नये साक्षात्कार, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, झारखंड़ 2002
- टेटे वंदना : वाचिकता: आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौंदर्यबोध, संस्कृति प्रकाशन भागलपुर बिहार, 2016
- मीणा गंगासहाय : आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्या प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
- मीणा गंगासहाय : आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूअर्स, नई दिल्ली, 2014
- मीणा रमेश चंद्र : आदिवासी विमर्श, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2013
- मीणा हरिराम : आदिवासी दुनियां, नेशनल बुक ट्रस्ट इंड़िया, नई दिल्ली 2012

उपन्यास

- कुमार विनोद : रेड जोन, अनुज्ञा बुक्स, नई दिल्ली, 2015
- माजी महुआ : मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
- रणेन्द्र : गायब होता देश, पेंगुइन, प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
- रणेन्द्र : ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2010
- संजीव : पाँव तले की दूब, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2005

कहानी

- कुजूर फ्रांसिस्का : मूसल, अग्रणी पब्लिकेशन, राँची, 2011
- केरकेट्टा रोज : पगहा जोरी-जोरी रे घाटो, देशज प्रकाशन राँची, 2009

- केरकेट्टा रोज : बिरूवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017
- टेटे वंदना : एलिस एक्का की कहानियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
- टेटे वंदना : लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017
- मीणा केदारप्रसाद : आदिवासी कथा जगत, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली 2016
- मीणा केदारप्रसाद : आदिवासी कहानियां, अलख प्रकाशन, जपपुर, दिल्ली 2013
- मीणा रमेश चंद : आदिवासियत और स्त्री चेतना की कहानियां, अनुज्ञा प्रकाशन, दिल्ली 2018
- संजीव : संजीव की कथा यात्रा (पहला, दूसरा और तीसरा पड़ाव), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

कविता

- एक्का विश्वासी : लक्ष्मनिया का चूल्हा, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची 2018
- गव्हाडे भगवान : आदिवासी मोर्चा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015,
- गुप्ता रमणिका : कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2015
- टेटे वंदना : आदिमराग, (संपा) प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, झारखंड़ 2013
- टेटे वंदना : कवि मन जनी मन, आदिवासी स्त्री कविताएँ (संपा) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019
- टेटे वंदना : कोनजोगा, (संपा) प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, झारखंड़ 2015
- टेटे वंदना : लोकप्रिय आदिवासी कविताएँ (संपा) प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020
- टोप्पो महादेव : जंगल पहाड़ के पाठ, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली 2017
- टोप्पो महादेव: सभ्यों के बीच आदिवासी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली 2018
- तादर जमुना बीनी : जब आदिवासी गाता है, परिंदे प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
- पुतुल निर्मला : अपने घर की तलाश में, रमणिका फाउंडेशन नई दिल्ली, 2004
- पुतुल निर्मला : नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 2005
- पुतुल निर्मला : बेघर सपने, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, 2014
- बड़ाइक सरिता : नन्हें सपनों का सुख, रमणिका फाउंडेशन नई दिल्ली, 2013

- मीणा डॉ. हीरा : सार्वभौमिक जन्मस्थली, अनंग प्रकाशन, 2019,
- मीणा हरिराम : समकालीन आदिवासी कविता, (संपा) अलख प्रकाशन, जयपुर, 2013
- लुगुन अनुज : पत्थलगड़ी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2021
- लुगुन अनुज : बाघ और सुगना मुंडा की बेटी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2018

शोध आलेख

- तलवार वीरभारत : आदिवासी और आदिवासी साहित्य की अवधारणा, तद्भव, अंक 34,नवम्बंर, 2016, पृ.सं 29-46
- तलवार वीरभारत : भारतीय राष्ट्र और आदिवासी, इस्पातिका, आदिवासी विशेषांक

सहायक पुस्तक सूची

- अनामिका : खुरदरी हथेलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
- आर. शशिधरन : भूमंडलीकरण और हिन्दी, (सं.), हिन्दी विभाग, कोचिन विश्वविद्यालय, 2006
- आर. शशिधरन : भूमंडलीकरण और हिन्दी,(सं.), हिन्दी विभाग, कोचिन विश्वविद्यालय,2006,
- उत्प्रेती हरिशचद्र : भारतीय जनजातीय संरचना और विकास, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2002
- उदयप्रकाश : पीली छतरी वाली लड़की, वाणी प्रकाशन दिल्ली, 2014
- उदयप्रकाश : उत्तर आधुनिक उपभोक्तावाद, दत्तात्रेय का दुख, वाणी प्रकाशन, 2006
- उदयप्रकाश : पाल गोमरा का स्कूटर, वाणी प्रकाशन दिल्ली, 2010
- उदयप्रकाश : दत्तात्रेय के दुख, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 2006
- उपाध्याय रमेश (सं.) : सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- उपाध्याय रमेश : साहित्य और भूमंडलीय यथार्थ, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- उर्मिलेशः झारखंड़ : जादुई जमीन का अंधेरा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली
- एक्का पीटर पॉल : मौन घाटी, सत्यभारती प्रकाशन, राँची, (1987), पुर्नप्रकाशन, 2013

- एक्का पीटर पॉल : सोन पहाड़ी, सत्यभारती प्रकाशन,राँची, (1984) पुर्नप्रकाशन, 2012
- एक्का पीटर पॉल : पलाश के फूल, सत्यभारती प्रकाशन, राँची (1982) पुर्नप्रकाशन, 2012
- कमल अरुण : मैं वो शंख महाशंख, आराम कुर्सी में, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012
- कमल अरुण : पुतली में संसार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2004
- कर्दम जयप्रकाश : गूंगा नहीं था मैं, अमन प्रकाशन, कानपुर 2015
- कर्दम जयप्रकाश : तिनका-तिनका आग, जाति का व्याकरण, सम्यक् प्रकाशन, 2012
- कलासवा बी के : हिंदी में आदिवासी जीवन केन्द्रीत उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, शान्ति प्रकाशन,अहमदाबाद,
- काबरा कमल नयन : भूमंडलीकरण के भंवर में भारत, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली 2008
- काबरा कमल नयन : भूमंडलीकरण विचार, नीतियाँ और विकल्प, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली
- किड़ों वासबी : भारत की क्रान्तिकारी औरतें, रमणिका फाउंड़ेशन, नई दिल्ली 2014
- किस्कू आशा सुशमा : आदिवासियों का संसार, वंदना टेटे (सं.) प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, 2020
- कुमार अंबुज : अतिक्रमण, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2002
- कुमार अंबुज : अतिक्रमण, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2002
- कुमार अरूण : उदारीकरण, भूमंडलीकरण एवं दलित, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली 2009
- कुमार विनोद : आदिवासी जीवन-जगत की बारह कहानियां, एक नाटक, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2017
- कुमार विरेन्द्र : आदिवासी विमर्श और हिंदी साहित्य, पैसिफिक पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2013
- केरकेट्टा रोज : स्त्री महागाथाकी महज एक पंक्ति, नोशन बुक्स, नई दिल्ली, 2014
- कोलख्यान प्रफुल्ल : साहित्य, समाज और जनतंत्र, आनंद प्रकाशन, कोलकाता, 2003
- कौशिक शिव शरण : दसवें दशक के हिंदी उपन्यास और भूमंडलीकरण, अध्धयन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूअर्स, नई दिल्ली, 2012

- खन्नाप्रसाद अमीन : आदिवासी कहानी साहित्य और विमर्श, अनुज्ञा बुक्स, 2020
- खेतान प्रभा : उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2003
- खेतान प्रभा : बाज़ार के बीच, बाज़ार के खिलाफ़ (भूमंडलीकरण और स्त्री प्रश्न), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2007
- गांधी महात्मा : हिंद स्वराज, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद 1996
- गुप्ता रमणिका : आदिवासी लेखन: एक उभरती चेतना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
- गुप्ता रमणिका : आदिवासी साहित्य यात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 2008
- गुप्ता रमणिका : आदिवासी लोक, संपादित, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- गुप्ता रमणिका : आदिवासी शौर्य एवं विद्रोह, साहित्य उपक्रम, नई दिल्ली, 2004
- गुप्ता रमणिका : आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
- गुप्ता रमणिका : आदिवासी: विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण, प्रकाशन, नई दिल्ली 2010
- गुप्ता रमणिका : सीता मौसी, ज्योतिलोक प्रकाशन, दिल्ली 2010
- चटर्जी सुनीति कुमार : भारत की भाषाएं और भाषा संबंधी समस्याएं अनु. श्री महादेव साहा, हिन्दी भवन
- चव्हान मोहन : आदिवासी साहित्य विमर्श, अनुज्ञा बुक्स, 2020
- चातक गोविन्द : पर्यावरण, परंपरा और अपसंस्कृति, तेज प्रकाशन नई दिल्ली, 2000
- चौबे कमल नयन : जंगल की हकदारी- राजनीति और संघर्ष, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 2015
- चौधरी उमा शंकर : हाशिये की वैचारिकी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूअर्स, नई दिल्ली, 2012
- चौम्सकी नौम: जनमाध्यमों का मायालोक (अनुवाद चंद्रभूषण), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 1999
- जयनंदन : घर फूंक तमाशा, ज्ञानभारती प्रकाशन 2004
- जैदी असद : दस बरस, सहमत प्रकाशन, दिल्ली 2002
- जोशी राजेश : चाँद की वर्तनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- जोशी राजेश : जिद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2015
- जोशी राजेश : दो पंक्तियों के बीच, संयुक्त परिवार, राजकमल प्रकशन, दिल्ली 2000

- जोशी रामशरण : थाप, सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली
- जोशी रामशरण : मीडिया और बाज़ारवाद (सं.), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
- ज्ञानेन्द्रपति : गंगातट, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2000
- ज्ञानेन्द्रपति : संशयात्मा, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
- टेटे वंदना : एलिस एक्का की कहानियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2015
- टेटे वंदना : ऑरेचर और आदिवासियत की पत्थलगड़ी (संपा) नोशन प्रेस, राँची, झारखंड़ 2021
- टेटे वंदना : किसका राज है (संपा) प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, झारखंड़ 2008
- टेटे वंदना : पुरखा लड़ाके (संपा) प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, झारखंड़ 2005
- डबराल मंगलेश : मैं तुम्हारा कवि हूँ, (सं.) उदभावना प्रकाशन, दिल्ली, 2016
- तरूण वाल्टर भेंगरा : 'जंगल की ललकार' 1989, पुनर्प्रकाशन सत्यभारती प्रकाशन, राँची, 2014,
- तलवार वीरभारत : झारखंड़ के आदिवासियों के बीच- एक एक्टिविस्ट के नोट्स, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 2008
- तलवार वीरभारत : नक्सलबाड़ी के दौर में, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूअर्स, नई दिल्ली, 2013
- तिवारी कनक : आदिवासी उपेक्षा की अंतर्कथा (ब्रिटिश हुकूमत से इक्कीसवीं सदी तक) सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली 2021
- दयाशंकर : आदिवासी सवाल और साहित्य, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली 2019
- दूबे अभय कुमार : भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2003
- दूबे श्याम चरण : परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 2008
- नरेन्द्रदेव : भारतीय समाज और संस्कृति: परिवर्तन की चुनौती
- नायडू पी आर : भारत के आदिवासी- विकास की समस्याएं, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली 1997
- पंकज अश्वनी कुमार : आदिवासियत, जयपाल सिंह मुंडा के चुनिंदा लेख और वक्तव्य, (सं.) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019

- पंकज अश्वनी कुमार : आदिवासी और गांधी, नोशन प्रेस, 2021
- पंकज अश्वनी कुमार : आदिवासी और विकास का भद्रलोक, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019
- पंकज अश्वनी कुमार : आदिवासी प्रेम कहानियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019
- पंकज अश्वनी कुमार : उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, नई दिल्ली 2015
- पंकज अश्वनी कुमार : पेनाल्टी कार्नर, नोशन प्रेस, 2021
- पंकज अश्वनी कुमार : प्राथमिक आदिवासी विमर्श, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, झारखंड, 2017
- पंकज अश्वनी कुमार : मरंग गोमके जयपाल सिंह मुंडा, विकल्प प्रकाशन, नई दिल्ली 2016
- पंकज अश्वनी कुमार : संविधान सभा में जयपाल: कालोनियल रिबेट,फ्यूडल डिबेट और आदिवासी आखेट, नोशन प्रेस, 2021
- पचौरी सुधीश : उत्तर सांस्कृतिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2004
- पचौरी सुधीश : भूमंडलीकरण और उत्तर सांस्कृतिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2004
- पचौरी सुधीश : भूमंडलीकरण, बाज़ार और हिंदी, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली 2004
- पाठक विनय कुमार : अंबेड़करवादी सौंदर्यशास्त्र और दलित, आदिवासी-जनजातिय विमर्श, नीरज बुक सेंटर, नई दिल्ली 2006
- पालीवाल कृष्णदत्त : उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2008
- पालीवाल सूरज : हिंदी में भूमंडलीकरण का प्रभाव और प्रतिरोध, शिल्पायन, नई दिल्ली 2008
- पी. रवि : कविता का वर्तमान (सं.), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2011
- मिश्र रामदरश : हिंदी के आंचलिक उपन्यास (सं.), वाणी प्रकाशन, दिल्ली,
- मीणा केदारप्रसाद : आदिवासी विद्रोह - विद्रोह परंपरा और साहित्यिक अभिव्यक्ति की समस्याएं, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली 2015

- मीणा गंगा सहाय : आदिवासी और हिंदी उपन्यास: अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
- मीणा प्रमोद : हिंदी सिनेमा - दलित आदिवासी विमर्श, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली 2018
- मीणा रमेश चंद्र : आदिवासी दस्तक: विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, 2013
- मीणा हरिराम : आदिवासी जलियाबाला एवं अन्य कविताएं, अनुज्ञा बुक्स, नई दिल्ली, 2019
- मीणा हरिराम : जंगल जंगल जलियांवाला, शिल्पायन, नई दिल्ली, 2008
- मीणा हरिराम : ड़ांग, राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली 2019
- मीणा हरिराम : सुबह के इंतजार में, अक्षर शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- मुंडा मंगल सिंह : छैला सन्दु, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2004
- मुंडा रामदयाल : आदि धरम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- मुंडा रामदयाल : आदिवासी अस्तित्व और झारखंड़ी अस्मिता का सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2002
- मेहताब अजय : मादर पर थाप: आदिवासी जीवन की कहानियाँ, अनुज्ञा बुक्स, नई दिल्ली,2020
- यादव अभिषेक कुमार : झारखंड़ अंधेरे से साक्षात्कार, मीडिया स्टडीज ग्रुप, नई दिल्ली, 2015
- यादव वीरेन्द्र : प्रगतिशीलता के पक्ष में, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2014
- यादव वीरेन्द्र : उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 2017
- रघुवंशी नीलेश : पानी का स्वाद (स्त्री विमर्श) किताबघर प्रकाशन, दिल्ली 2004
- राजे सुमन : रचना की कार्यशाला, साहित्य रत्नालय कानपुर, 1998
- राठौड़ श्याम राव : साठोत्तरी हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जनजीवन, मिलिंद प्रकाशन, हैदरावाद, 2002
- राणावत उषा कीर्ति : आदिवासी केन्द्रित हिंदी साहित्य, अतुल प्रकाशन, कानपुर 2010
- रावत उषाकीर्ति : आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य(सं.) अतुल प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण 2012

- लुगुन अनुज : आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली 2017
- वाल्मीकि ओमप्रकाश : सदियों का संताप, फिलहाल प्रकाशन, देहरादून, 1989
- वावळकर शिवदत्त : हिंदी उपन्यास और जनजातीय जीवन, सम्यक् प्रकाशन, 2018
- विद्याभूषण : झारखंड़ः समाज, संस्कृति और विकास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2000
- शंभुनाथ : संस्कृति की उत्तरकथा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2012
- शर्मा कुमुद : भूमंडलीकरण और मीडिया, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली 2003
- शर्मा गणेशशंकर : आदिवासी विद्रोह, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, 2005
- शर्मा ब्रह्मदेव : आदिवासी क्षेत्र किस ओर ? भूरिया समिति रिपोर्ट, सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नई दिल्ली 2005
- शर्मा ब्रह्मदेव : आदिवासी विकास एक सैद्धांतिक विवेचन, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1999
- शर्मा ब्रह्मदेव : बेजुबान, प्राची प्रकाशन, दिल्ली 1980
- शर्मा. निरंजन देव : हमारा समय और उदय प्रकाश, सृजनात्मकता के आयाम (पत्रिका) डॉ. ज्योतिष जोशी, उदय प्रकाश पर एकाग्र संस्करण, नई किताब प्रकाशन, दिल्ली, 2017
- शुक्ल अष्टभुजा : इसी हवा में अपनी भी दो चार सांस है, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 2010
- शेखर हांसदा सौभेन्द्र : आदिवासी नहीं नाचेंगे, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, 2016
- श्रीवास्तव परमानंद : कविता का उत्तर जीवन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2004
- सामद सुशीला : प्रलाप (1932) वंदना टेटे (सं.) प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची
- सिंह अमरीकदीप: एक कोई और, परमेश्वरी प्रकाशन, 2009
- सिंह अमित कुमार: भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प,सामयिक प्रकाशन दिल्ली, 2010
- सिंह कुमार सुरेश : बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
- सिंह पुष्पपाल : भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
- सिंह मलखान : सुनो ब्राह्मण, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, 2018
- सिंहा सचिदानंद : भूमंडलीकरण की चुनौतियां, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2007

- सिन्हा पंखुरी: किस्सा ए कोहिनूर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2009
- हॉब्सबॉम ऐरिक जे : इतिहास राजनीति और संस्कृति, अनु.-रामकीर्ति शुक्ल, नई किताब प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
- हेलेना नाबर्ग होज : प्राचीनता का भविष्य (अनुवाद ज्वालाप्रसाद मिश्र) बनियन ट्री, इंदौर

शोध आलेख

- अग्रवाल रोहणी : समकालीन हिंदी उपन्यास और दिकू समाज का आदिवासी चिंतन, कथाक्रम, अक्टुम्बर-दिसम्बर 2011
- पांड़े मनोज : आदिवासी विमर्श: परम्परा के पुनर्पाठ की जरूरत, देशबंधु, 15 जुलाई 2012
- मीणा हरिराम : आदिवासी संस्कृति: वर्तमान चुनौतियों का उपलब्ध मोर्चा, अरावली उद्घोश, दिसम्बर 2009
- राजे सुमन : विपथगन भी, विरूपण भी, रूपांतर भी, संभावना भी, वागर्थ, अंक 158
- विधाभूशणः आदिवासी अस्मित और हिंदी उपन्यास, कथाक्रम, अक्टुम्बर-दिसम्बर 2011
- विद्याभूषण : आदिवासी कलम की धार और हिंदी संसार, झारखंड़ी भाषा, साहित्य, संस्कृति, अखड़ा
- शुक्ल नवल : आदिवासी साहित्य की उपस्थिति, तदभव, अंक 15
- सोनवणे वाहरू: आदिवासी संस्कृति को बचाना मानव हित में हैं, अरावली उद्घोश, अंक 83, मार्च 2009

पत्र-पत्रिकायें

- आलोचना त्रैमासिक पत्रिका, सहस्त्राब्दी अंक-1, अप्रैल-जून 2000, पृ सं. 191
- उद्भावना, अंक 109, नबंवर 2013
- कालजयी किशन : संवेद पत्रिका, जनवरी 2012
- गुप्ता रमणिका : युद्धरत आम आदमी, अंक 103, अप्रैल-जून 2013
- टेटे वंदना : झारखंडी भाषा,साहित्य और संस्कृति, अखड़ा, राँची के सभी अंक
- तद्भव, अंक 1, नबंवर 2016

- त्रिपाठी अरूण कुमार : वर्तिका (माओवादी या आदिवासी) हिन्दी त्रैमासिक, अक्टूबर-दिसम्बर 2010
- पथिक बी. पी वर्मा : अरावली उद्घोश, उदयपुर अंक 93, अक्टूम्बर 2012
- पथिक बी. पी वर्मा : अरावली उद्घोश, उदयपुर, अंक 101, जून 2013
- पथिक बी. पी वर्मा : अरावली उद्घोश, उदयपुर, अंक 99, अप्ैरल 2013
- पांडेय अनिल कुमार : मध्य एशिया और आर्य समस्या, बूधन पत्रिका, अप्रेल 2004
- प्रसाद कमला : प्रगतिशील वसुधा, अंक 86, जुलाई-सितंबर 2010
- मीणा गंगासहाय : आदिवासी साहित्य के सभी अंक
- राघव आलोक : दस्तक 13-15, जनवरी मार्च 2004
- रामजी राय : आदिवासी मिथक और यथार्थ, (विशेषांक) समकालीन जनमत, सितम्बर 2003,अंक 2-3
- विष्ट पंकज : समयांतर, जुन 2003 अक्टूबर 2005
- हुसैन तैय्यब : वर्तमान परिदृश्य में सांस्कृतिक कर्म, अभिव्यक्ति पत्रिका मार्च-2004